प्रकाशकीय

आज व्यक्ति का जीवन स्वार्थ की परिधियों से आवृत्त हो इतना संकीर्ण बनता जा रहा है कि अपने भौतिक लाभार्जन की पैशाचिक दुष्कामनाओं से वह जर्जर है। यह आज के मानव-जीवन में प्रवृष्ट वह दूषित तत्त्व है, जिसने नैतिकता और सदाचार की सात्विक परम्पराओं पर गहरा आघात किया है। ऐसी विषम और विपथगामिनी परिस्थिति में आज सब से प्राथमिक और आवश्यक कार्य मानव के लिए यह है कि वह स्वार्थमयता, अर्थलोलुपता और वासनाओ के प्रवाह में अपने को नहीं बहने दे।

व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का चरित्र ऊँचा हो, यह आज के युग की मांग है। आचार्य श्री ने अपने प्रवचनो के द्वारा दिग्-भ्रष्ट मानव को समयोचित दिशा-संकेत प्रदान किया है। आचार्य श्री के प्रवचनों से अधिकाधिक व्यक्ति लाभान्वित हो सके, इसी पावन उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए महासभा ने 'प्रवचन-ग्रन्थमाला' योजना के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ष के प्रवचनो को पृथक् रूप से प्रकाशित करने का कार्यारंभ किया है। प्रवचन-डायरी १९५६-५७ प्रवचन-ग्रन्थमाला का चतुर्थ एवं पंचम ग्रन्थ है।

हमें विश्वास है, सर्वसाधारण के हित में यह उपयोगी सिद्ध होगा।

तेरापथ द्विशताब्दी व्यवस्था उपसमिति
३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट,
कलकत्ता—१
२० अप्रैल १९६०

श्रीचन्द रामपुरिया
व्यवस्थापक,
साहित्य-विभाग

भूमिका

अशान्ति से झुलसते हुए ससार को आज सबसे अधिक शान्ति की प्यास है। सुख गरीब, मजदूर, शोषित और शासित को नही है तो शान्ति अमीर, मालिक, शासक और शोषक को भी नही है। मनुष्य की अशान्ति का मूल कारण आकांक्षा की असीमा है। कोई साम्राज्य विस्तार का लिप्सु है तो कोई अपने अधिकारो को सार्वभौम बनाने की लगन मे है। कोई धन के बल पर, कोई सत्ता के बल पर, कोई शस्त्रास्त्र के बल पर, तो कोई कूटनीति के बल पर दूसरे पर हावी होने की बात सोच रहा है। दुनिया अपने अधिकारो को अपने तक सीमित रखने मे सन्तोष नही मान रही है यही अशान्ति का बीज है।

आज के युग मे दो विचारधाराएँ प्रवाहित हो रही हैं। पहली अध्यात्मवाद की और दूसरी भूत-चैतन्यवाद की, जिसको पुराने दार्शनिक नास्तिकवाद कहा करते थे। आचार्य श्री ने अपने प्रवचनो के माध्यम से जन-जन के मानस पटल पर आध्यात्मिकता का अमिट चित्र खीचा है। इसमे दो मत की बिलकुल सम्भावना नही कि अगर आज के जन-मानस ने इन आध्यात्मिक प्रवचनो के नवनीत को ग्रहण किया तो निश्चय ही भौतिक क्लेशो से वे परित्राण पा सकेंगे। अगर सर्वसाधारण आध्यात्मिकता को अपनावे तो निश्चय ही स्वार्थ की टक्करे, पद-प्रतिष्ठा की भूख, नाम व बडप्पन की लालसा, अधिकार और सत्ता की लार, शोषण और सग्रह का जुआ तथा कूटनीति का उन्माद दूर हो जाय और विश्व फिर एक बार शान्ति की ठण्ढी सांस ले सके।

आचार्य श्री ने अपने प्रवचनो मे बार-बार जीवन मे सयम का अनुसरण एव त्याग के पालन की आवश्यकता पर बल दिया है। सयम और त्याग को उन्होने जीवन-शुद्धि का सबल माना है। आचार्य श्री ने सयम और त्याग की महत्ता का विश्लेषण करते हुए बताया है—'भारतीय सस्कृति त्याग और सयम की सस्कृति है। जीवन की सच्ची सुन्दरता और सुषुमा सयताचरण मे है, बाहरी सुसज्जा और वासनापूर्ति मे नही। जिन भोगोपभोगो में लिप्त हो मानव अपने आपको भूल जाता है, वह जरा आंखें खोलकर देखे कि वे उसके जीवन के अमर तत्त्व को किस प्रकार जीर्ण-शीर्ण और विकृत बना डालते हैं। जीवन मे त्याग को जितना अधिक प्रश्रय मिलेगा, जीवन उतना ही सुखी, शान्त और उद्बुद्ध होगा।'

'सयम जीवन को, जीवन-तत्त्व को, सुरक्षित रखने के लिए मेड जैसा है। संयम का अर्थ है आत्म-नियन्त्रण—अपनी इच्छाओ पर अपना नियन्त्रण। यद्यपि यह नियन्त्रण है पर सही माने मे सच्ची स्वतन्त्रता भी यही है कि सयम के लिए अपने-आप मे दृढता और आत्मबल पैदा करना होगा। संयम वह बहुमूल्य रत्न है, जिसकी बराबरी संसार का बडा से बडा रत्न भी नही कर सकता।'

भारतवर्ष एक आध्यात्मिक संस्कृति का देश है। धर्म यहाँ का प्राणभूत आधार रहा है। आज भी यदि भारत का गौरव है, उसका अन्तर्राष्ट्रीय महत्व है, तो वह इस-लिए कि इसकी सस्कृति, दर्शन, परम्परा और इतिहास अहिंसा और मैत्री जैसे आध्यात्म-तत्त्वो से भरे पडे हैं, जो आज भी विश्व के लिए प्रेरणा के स्रोत हैं। भारतीय जन-जीवन की वर्त्तमान प्रवृत्तियो पर चिन्ता व्यक्त करते हुए आचार्य श्री ने बताया है—'आज यह आवश्यक हो गया है कि मानव-समाज अपने विकृत रूप को देखे। आत्मबल और हिम्मत के सहारे बुराइयो के साथ टक्कर लेकर वह भलाइयो के राजमार्ग पर आये। तभी उसमे सही माने मे मानवता कही जा सकती है।'

आचार्य श्री ने अपने प्रवचनो मे बार-बार दुहराया है कि आज ज्ञानी या पण्डितो की उतनी अपेक्षा नही है जितनी क्रियाशीलो की, कर्मठो की, करने वालो की। आज तो ऐसे व्यक्तियो की आवश्यकता है जो अहिंसा, सत्य आदि धार्मिक आदर्शों को अपने दैनन्दिन व्यवहार मे संजोने वाले हो। आज ही क्या, सदा ऐसे लोगो की अपेक्षा रही है और रहती है। यही सच्ची धर्माराधना और धर्मानुशीलता है।

धर्म का विश्लेषण करते हुए आचार्य श्री ने कहा है—'धर्म का सत्य स्वरूप एक है। सम्प्रदाय, जाति या कौम उसे बाधित नही कर सकते। यह वर्गवाद के परकोटे से घिरा नही है। क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, क्या हरिजन, क्या महाजन, क्या जैन व क्या अजैन, सब उसका परिपालन करने के अधिकारी हैं। धर्म का यथार्थ स्वरूप है—सयम, सयताचरण, जीवन-व्यवहार का नियमन, सम्मार्जन।'

आचार्य श्री ने अपने प्रवचनो के द्वारा कई बार शिक्षक एव शिक्षार्थी वर्ग को सम्बोधित करते हुए विद्यार्थी-जीवन की महत्ता और शिक्षार्थियो के जीवन-निर्माण के प्रति शिक्षको के दायित्व पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है। उन्होने इस बात पर घोर खेद व्यक्त किया है कि आज विद्या का भी सौदा किया जाने लगा है। विद्या का लक्ष्य अर्थोपार्जन मानना सर्वथा अनुचित है। इस सम्बन्ध में आचार्य श्री ने विद्यार्थी, अभि-भावक एवं अध्यापको से यह आह्वान किया है कि इस प्रकार बहिर्मुखी वृत्ति का वे परित्याग करे। विद्यार्थी वर्ग को इगित करते हुए आचार्य श्री ने कहा है—'वे पुस्तकीय ज्ञान के अतिरिक्त उस सद्विवेक को भी अर्जित करने का सबल प्रयास करे, जो उन्हें

चरित्रशीलता, औदार्य आदि गुणो की ओर ले जाता है। विद्यार्थी तोड-फोड व विध्व-सतामूलक कार्यों मे भाग न ले। वे राजनैतिक सघर्षो एवं विप्लवो मे अपनी शक्ति, प्रतिभा और समय का दुरुपयोग न करे।'

इसी प्रकार आचार्य श्री ने अन्य वर्गों से भी जीवन मे सयम और सन्तोष की भावना अपनाने की अपेक्षा की है।

अणुव्रत-आन्दोलन के सम्वन्ध मे स्पष्टीकरण के रूप मे आचार्य श्री ने बताया है—'अणुव्रत-आन्दोलन मानव के सुपुत्त विवेक को जाग्रत करने का आन्दोलन है। अहिंसा और सत्य पर आधारित जीवन-शुद्धि-मूलक प्रवृत्तियो को लोकव्यापी वनाने का आंदोलन है ताकि विपय-समस्याओ के भारी आघातो से क्षत-विक्षत मानव-सुख और शान्ति की साँस ले सके। अणुव्रत-आन्दोलन जीवन-शुद्धि का आन्दोलन है। यह एक सर्वसम्मत कार्यक्रम है। झूठा माप-तोल न करना, विश्वासघात न करना, रिश्वत न लेना, किसी को अस्पृश्य न मानना, व्यवहार में अप्रमाणिकता न वरतना, व्यभिचार मे न पड़ना आदि जीवन-शुद्धि मूलक छोटे-छोटे नियमों का संकलन है। अणुव्रत-आन्दोलन यही करना चाहता है। यह एक ऐसे नये समाज को देखना चाहता है जो वैमनस्य के वदले सन्तोष, संघर्ष के वदले सत्य, अवैर, अहिंसा और छल के वदले विश्वास और लोलुपता के बदले सयतता से सजा हो।'

अणुव्रत-आन्दोलन एक नयी दृष्टि देता है। वह जीवन का उत्कर्ष सरलता, हल्केपन और निष्कपटता में देखता है। उसकी दृष्टि मे वही ऊँचा और स्पृहणीय जीवन है जो अधिक से अधिक सन्तोपी, सरल और सयत है। जीवन के वास्तविक मूल्यांकन के लिये आवश्यकता इस वात की है कि सबसे पहले मनुष्य अपनी दृष्टि को माँजे, यथार्थ दर्शन की प्रवृत्ति उसमें आये, ताकि वह अपने लिये सही रास्ता पा सके और उस पर आगे वढकर जीवन को सच्चे विकास और प्रगति की ओर ले जा सके।

आचार्य श्री ने अपने प्रभावशाली प्रवचनो के द्वारा समाज के सभी वर्गों के अभ्युदय की सुनियोजित परिकल्पना प्रस्तुत की है। क्या वृद्ध—क्या वालक, क्या पुरुष—क्या महिलाएँ, क्या अमीर—क्या निर्धन, क्या छात्र—क्या छात्राएँ, कहने का तात्पर्य यह कि राष्ट्र के कर्णधारो से लेकर एक साधारण नागरिक के जीवन के उत्थान का लक्ष्य उन्होने सामने रखा है।

पारिवारिक-प्रकरणवश आचार्य श्री ने कहा है—'अगर आप चाहते हैं कि हम सुखी बनें, हमारा परिवार सुखी बनें, तो वाहर भटकने की आवश्यकता नही है। वह तो आपके पास ही है। जहाँ कलह, ईर्ष्या, द्वेष, वेईमानी, अभिमान, परिग्रह है वही नर्क है। और जहाँ ये दुर्गण नही वही स्वर्ग है।'

यदि यह वांछनीय है कि जागतिक-जीवन हिंसा के क्रूर आघातो से बचे, उसमें सच्चाई व्यापे, शोषण और अनाचार मिटे, धोखा, विश्वासघात और छल-प्रपच के जाल का निर्दलन हो तो मानव को आचार्य श्री के प्रवचनो का नवनीत उसके अभिष्ट की सिद्धि में परम सहायक सिद्ध होगा।

यद्यपि यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि आचार्य श्री के मौखिक प्रवचनो से लाखो व्यक्तियो ने लाभार्जन किया है, किन्तु जिन वन्धुओ को प्रवचन - श्रवण का सुअवसर नही प्राप्त हुआ उनके निमित्त प्रस्तुत संग्रह परम उपयोगी होगा, ऐसा मेरा निश्चित विश्वास है।

१५, नूरमल लोहिया लेन,
कलकत्ता
२० अप्रैल, १९६०

श्रीचन्द रामपुरिया

प्रवचन-डायरी, १६५६

प्रवचन-डायरी, १९५७

प्रवचन : पृष्ठ १—९५

प्रवचन-डायरी, १९५६

(आचार्य श्री तुलसी के जनवरी '५६ से दिसम्बर '५६ तक के प्रवचनों का संग्रह)

१ : त्याग के आदर्श की आवश्यकता

मनुष्य का जीवन ज्ञान-विज्ञान की एक बहुत बडी प्रयोगशाला है। इसमे इतने प्रयोग हुए है कि जिनका शताश भी नही पकड़ा जा सकता। जितने व्यक्ति है, उतनी ही अभिरुचियाँ और जितनी अभिरुचियाँ है, उतने ही प्रयोग। यह एक बडी कहानी है। थोडे मे इनकी दो मुख्य धाराएँ रही है—शारीरिक और आत्मिक। शारीरिक प्रयोगो की चर्चा मे यहाँ नही जाना है। आध्यात्मिक प्रयोगो के बारे मे कुछ बताऊँ, ऐसा संकल्प है।

आत्मिक प्रयोगो की साध्य-भूमि है—अन्तरग शुद्धि। इस पर चलने वाला अपने को अपनी भाषा मे साधक बताता है। जनता की भाषा भी उसके लिए यही है। साधना भौतिक क्षेत्रो मे भी जरूरी है; किन्तु वह क्षेत्र सीधा, सहज और स्वत प्रिय है। इसलिए वहाँ साधना शब्द की प्रवृत्ति नही होती। अपनी खोज—दूसरे शब्दो में अपना नियंत्रण सहज होना चाहिए, किन्तु यह है नही। इसके लिए बडे-बडे प्रयत्न करने पडते है। यही कारण है कि इसके लिए 'साधना' शब्द का एकतन्त्र प्रयोग होता है। साधना का मार्ग टेढा है, यह कहते ही आत्म-सयम की तस्वीर आँखो के सामने खिच जाती है।

साधना का क्षेत्र खुला है। उसका छोटा रूप अणु जितना है तो बडा रूप अखण्ड विश्व जितना। साधना का मुख्य मार्ग योग है। योग का अर्थ है जुडना। जो अपनी वृत्ति को आन्तरिक विशुद्धि से जोड ले, वही तो योगी है। इसी का नाम जीवन-मुक्त दशा है। जो जीता हुआ मुक्त है इसका अर्थ होगा कि वह निष्क्रिय नही है। वह जीवन चलाने की आवश्यक प्रवृत्तियाँ करता है, किन्तु उनमे अनासक्त रहता है। वह खाता है, किन्तु उसका खाना खाने के लिए नही, सिर्फ निर्वाह के लिए होता है।

अनासक्ति अपनी आत्मीय वृत्ति है। वह बाहरी उपकरणो से दबी रहती है। मनुष्य जानता ही नही, अच्छी तरह से जानता है कि सोना, चाँदी उससे भिन्न वस्तु है। फिर भी वह उनमें बँध जाता है। बँधता भी इतना है कि उनका सग्रह करते-करते वह तृप्ति का अनुभव भी नही करता। यही एक कारण है कि जिनमे अनासक्ति का भाव प्रबल हो जाता है, वे बाहरी उपकरणो का यानी धन-धान्य आदि जीवन-निर्वाह के साधनो का भी त्याग कर पूर्ण अकिंचनता की ओर कूच कर जाते है। यहाँ आकर साधना के क्षेत्र मे दो रेखाएँ खिच जाती है—गृहस्थ साधक

और सयमी साधक। गृहस्थ के लिए अणुव्रत है, जिनका संगठित रूप अणुव्रती सघ के रूप मे लोगों के सामने आ ही गया है। आज के युग में अणुव्रत-दीक्षा का भी कम महत्त्व नही है; महाव्रत-दीक्षा का तो है ही।

दीक्षा जीवन का महान् आदर्श है। चिरसचित शुद्ध सस्कारो के बिना इस ओर मनुष्य का मन ही नही जाता। आज के भौतिक वातावरण में जहाँ चारो ओर वासनापूर्त्ति की होड लग रही है, वहाँ वासना को ठुकराने वालो की मनोवृत्ति कितनी ऊँची है, ज़रा ध्यान से देखिए। इच्छाओ और आवश्यकताओ को ज्यो-त्यो पूरा करना ही मनुष्य अपना लक्ष्य मान बैठा है। ऐसी हालत में इन सबको कुचल कर सुख-शान्ति में रहनेवाला यमी क्या शेष व्यक्तियो के लिए पथ-प्रदर्शक नही वनता? बनता है, वह अवश्य वनता है।

आज के अशान्त ससार को त्याग के आदर्श की सबसे अधिक आवश्यकता है। मनुष्य की अशान्ति का मूल कारण आकाक्षा की अ-सीमा है। जिस गति से महत्त्वाकाक्षा वढ रही हैं, आखिर वह कहाँ रुकेगी? अगर रुकेगी नही तो उसका परिणाम क्या होगा, यह प्रश्न क्यो नही उठता? कोई साम्राज्य-विस्तार का लिप्सु है तो कोई अपने अधिकारो को सार्वभौम वनाने की लगन मे है। कोई धन के वल पर, कोई सत्ता के बल पर, कोई शस्त्रास्त्र के बल पर, तो कोई कूटनीति के बल पर दूसरो पर हावी होने की वात सोच रहा है। दुनिया अपने अधिकारो को अपने तक ही सीमित रखने में ही सन्तोष नही मान रही है यही अशान्ति का वीज है। दीक्षा का आदर्श है—"अपने आप में रमण करना"। क्या ही अच्छा हो आज का ससार इस आदर्श को मानता चले।

अशान्ति से झुलसते हुए ससार को आज सबसे अधिक शान्ति की प्यास है। सुख गरीब, मजदूर, शोषित और शासित को नही है तो शान्ति अमीर, मालिक, शासक और शोषक को भी नही है यानी किसी को भी नही है। भौतिक सुख का मार्ग सामाजिक व्यवस्था की उलट-पुलट से शायद मिल भी जाये किन्तु शान्ति का मार्ग आध्यात्मिक जागृति के सिवा दूसरा कोई है ही नही। दीक्षा उसका एक उत्कृष्ट रूप है—राजपथ है। सामान्य जीवन मे उससे प्रेरणा मिलती है। देखिए वह जीवन कितना पवित्र जीवन है जिसमें अमीरी नहीं, गरीबी नही, मजदूर-मालिक, शासक-शासित आदि का कोई भाव नही। दीक्षा का छाया चित्र भी जनता के मानस-पट पर खिचा रहे तो निश्चय ही स्वार्थ की टक्करे, पद-प्रतिष्ठा की भूख, नाम और वड़प्पन की लालसा, अधिकार और सत्ता की लार, शोषण और संग्रह का जुआ तथा कूटनीति का उन्माद दूर हो जाय; और विश्व फिर एक वार शान्ति की शिशिर साँस ले सके।

२ : जैन-दीक्षा

जैन-दीक्षा का विषय गभीर है। पाठक ध्यान पूर्वक पढेगे और आशा है कि मनन करेंगे। इस पर मै आगम, युक्ति एवं अनुभव के आधार पर प्रकाश डालूंगा। मै मानता हूँ, इस विषय में मतैक्य नही है। "मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना" वाली जनश्रुति के अनुसार हम जानते है कि सब के विचार एक से नही होते। लेखक का काम अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करना है।

विषय प्रवेश

आज के युग मे दो धाराएँ बह रही है। पहली आध्यात्मवाद की और दूसरी भूत-चैतन्यवाद की, जिसको पुराने दार्शनिक नास्तिकवाद कहा करते थे। इस दूसरी विचारधारा मे आत्मा नाम की कोई वस्तु नही। भूत-सम्मिश्रण से चैतन्यशक्ति पैदा होती है और भूत-विकृति से वह नष्ट हो जाती है। ऐहिक सुख की प्राप्ति उनका लक्ष्य है। आज की दुनिया मे इस दृष्टिकोण के व्यक्ति सम्भवत बहुत मिलेंगे। पहली विचारधारा है आत्म-वादी। उसका लक्ष्य है—आत्म-दर्शन, दूसरे शब्दो मे मोक्षप्राप्ति। प्राय भारतीय दर्शनो मे इसकी प्रमुखता रही है। आत्मदर्शन की प्रेरणा से ही दर्शन चले है और उन्होने इस विषय में काफी छान-बीन की है। अस्तु।

अब जो भूत चैतन्यवादी है, उनसे मुझे कुछ भी नही कहना है। क्योकि "ग्रामो नास्ति कुत सीमा"। जिन्हे आत्मा, कर्म और मोक्ष पर ही विश्वास नही, उनके लिए दीक्षा कैसी? आस्तिको के लिए दीक्षा एक तथ्य है। उनमें आत्म-दर्शन की भावना होती है। उसके लिए जिस साधन की आवश्यकता होती है, उसी का नाम दीक्षा है। आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है· "दीक्षा तु व्रतसग्रह" व्रतो का जीवन में उतारना ही दीक्षा है। दीक्षा से जीवन विषम नही बनता, सम होता है। लोग यह सन्देह करते होगे कि दीक्षित व्यक्ति कैसे रहते होगे, किस प्रकार जीवन-यापन करते होगे? किन्तु ऐसी कोई बात नही। वे इसी दुनिया में रहते है—जन-सम्पर्क में जीवन-यापन करते हैं। उनके दिल और दिमाग मे जितनी शान्ति रहती है, उतनी शान्ति सम्राटो में भी नही रहती।

दीक्षा का स्वरूप

अभी मैंने दीक्षा का शब्दार्थ मात्र बताया है, किन्तु इतने से काम नहीं चलता। किसी भी विषय की पूरी जानकारी के लिए उसके अन्दर घुसना

होता है—प्रत्येक पहलू से परख करनी होती है। दीक्षा का भावार्थ बताते हुए भगवान् महावीर ने कहा है

अहिंस सच्चं च अतेणगं च, ततो य बंभं अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंचमहव्वयाइं, चरेज्ज धम्मं जिणदेसियं विउ॥

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच महाव्रत है। इनका पालन करने वाला ही साधु या दीक्षित कहलाता है।

दीक्षा-ग्रहण के कारण

दीक्षा ग्रहण के दो कारण है—नैसर्गिक रुचि और उपदेशजन्य विरक्ति। कई व्यक्तियो को विरक्तिपूर्ण वातावरण मे रहने का खास अवसर नही मिलता, फिर भी उनमें नैसर्गिक जागरण पैदा हो जाता है और वे दीक्षित बन जाते है। आकस्मिक घटनाएँ भी कई व्यक्तियो के हृदय-परिवर्तन का कारण बनती है। आकस्मिक मृत्यु, कष्ट आदि कारणो से भी मनुष्य को ससार की नश्वरता का बोध होता है और उससे विरक्ति की भावना प्रबुद्ध हो उठती है। उपदेशजन्य विरक्ति तो दीक्षा का प्रमुख कारण है ही। यदि उपदेश के कारण विरक्ति न बढे, चरित्र-शुद्धि की भावना जाग्रत न हो, तब फिर उसे सुनने का अर्थ ही क्या? श्रोता क्यो उपदेश सुने और उपदेष्टा क्यो उपदेश दे? भगवान् महावीर की शिक्षावाणी है—"समय गोयम मा पमायए"—एक क्षण भी प्रमाद मत करो, जीवन का प्रत्येक पल अप्रमादी अवस्था में बिताओ।

दीक्षा का समय

(क) जैन सिद्धान्तानुसार दीक्षा कब लेनी चाहिए? इसका निर्णय मै सबसे पहले जैन-सिद्धान्त के आधार पर करूँगा, क्योकि जब दीक्षा-ग्रहण या पालन उसी के आधार पर होता है, तब हम उसके निर्णय को कमजोर क्यो समझे? व्यक्ति-व्यक्ति की सूझ अपने दिमाग की सूझ है, वह क्षणिक है, बदलती रहती है। सिद्धान्त आप्त-वचन है। उनमे क्षणिकता नही होती, स्थायित्व होता है। कोई शक नही, वीतराग और साधारण व्यक्तियो की सूझ मे महान् अन्तर होता है। साधारण व्यक्तियो मे कई तरह के स्वार्थ छिपे हुए होते है। इस दशा मे वीतराग सर्वथा निःस्वार्थ होते है। जैन-सिद्धान्तानुसार आठ वर्ष के बच्चे को दीक्षा लेने का अधिकार प्राप्त है। कुछ अधिक आठ वर्ष की अवस्था मे केवल ज्ञान प्राप्त हो सकता है। जैनी मात्र इस विषय में एकमत है। प्रश्न हो सकता है कि

आज फिर आठ वर्ष वाले वालक केवल ज्ञानी क्यो नही वनते ? इसका समाधान यही है कि आज उसके योग्य सामग्री का अभाव है। तद्योग्य सहनन आदि नही हैं। यही तो कारण है कि वर्तमान मे ९ तो क्या १०० वर्ष का व्यक्ति भी केवली नही वनता। जिन्हें भगवान् महावीर के वचनो पर आस्था है उनके लिए आगम-प्रमाण काफी हैं।

(ख) वैदिक-परम्परा में—अव मुझे वैदिक सिद्धान्तो पर भी कुछ प्रकाश डालना है। वैदिक परम्परा में चार आश्रमो की व्यवस्था है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास—ये चार आश्रम हैं। इनमे से प्रत्येक का कालमान २५–२५ वर्षों का है। इसके अनुसार दीक्षा का अवसर ७५ वर्ष के वाद आता है, किन्तु थोडी-सी गहराई मे जायँ तो वात ऐसी नही। यह साधारण नियम है। विशेष नियम यह है कि—"यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् ब्रह्मचर्याद्वा गृहाद्वा वनाद्वा" जिस दिन विरक्ति हो, उसी दिन सन्यास ले। विरक्ति के वाद आश्रम-नियम लागू नही होता। अगिरा ने लिखा है

प्रव्रजेद् ब्रह्मचर्याद् वा, प्रव्रजेद् वा गृहादपि।
वनाद्वा प्रव्रजेद् विद्वान्. . . . .॥

अर्थात् ब्रह्मचर्य से सन्यास ले, गृहस्थ से भी सन्यास ले, वन से भी सन्यास ले। चतुर्थ आश्रम का नियम सर्वसाधारण के लिए था। जो पहले विरक्त न हो, वे भी कम से कम ७५ वर्ष की अवस्था मे तो विरक्त बनें, सन्यास धारण करे। यही उस नियम का अर्थ था।

(ग) मनोवैज्ञानिको की दृष्टि मे—आगम निर्णय करने के वाद हम वैज्ञानिको के दृष्टिकोण पर भी जरा विचार कर ले, क्योकि यह युग वैज्ञानिक युग है। वैज्ञानिको के अन्वेपण वहुमुखी हैं। उन्होने भारतीय ग्रन्थो का मूल्याकन किया है। कितने आनन्द का विषय है कि उनका दृष्टिकोण सकुचित नही है। मनोविज्ञान भी विज्ञान की एक शाखा है। मानस-शास्त्र के आचार्यों ने जीवन-परिवर्तन की दो अवस्थाएँ वतलाई हैं ११–१२ या २०–२१। इनमें जीवन-प्रवाह वदलता है। भोग या त्याग की ओर जीवन मुडता है। अव आप देखिए, इसमे और जैन-सिद्धान्त के निर्णय में कितना कम अन्तर है।

आग्रह छोडो

वालक को ही दीक्षा दी जाय मेरा ऐसा आग्रह न तो है और न था और सम्भवत आगे भी न होगा। यह भी आग्रह नही कि १९ वर्ष या २१ वर्ष से कम आयुवाले को दीक्षा न दी जाय। लोगो में भी आग्रह नही होना चाहिए। आग्रह हठधर्मिता है। उसमें तत्त्वातत्त्व का भान नही रहता।

आग्रही बत निनीषति युक्ति तत्र-यत्र मतिरस्य निविष्टा

आग्रही वही युक्ति खोजता है, जहाँ उसकी बुद्धि का अभिनिवेश होता है, इसलिए आग्रह रखना उचित नही।

एकमात्र हल

दीक्षा योग्य व्यक्ति को देनी चाहिए। अयोग्य दीक्षा का मै स्वय कट्टर विरोधी हूँ। उसके विरोध मे मै क्रान्ति करने को तैयार हूँ, किन्तु मै यह मानने को बाध्य नही हूँ कि बालक योग्य हो ही नही सकता। बालक अनुचित से अनुचित काम करता है तब क्या कोई बालक सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त नही हो सकता। मै मानता हूँ कि बुरे मार्ग मे जाना सहज है, सुगम है किन्तु हजारो बालको मे से दो चार बालक भी अच्छाई मे प्रवृत्त नही हो सकते, यह बात युक्ति की कसौटी पर नही टिकती। किसी पहले ज़माने में बालक योग्य होगे, आज तो नही, यह तर्क लचीला तर्क है। आज के बालक अयोग्य होते है, तो योग्य क्यो नही हो सकते? १२ वर्ष से अधिक आयु वाले बालक को उसके अपराध के लिए सजा दी जाती है। इसका कारण यही है कि वह सोच-समझ कर अपराध करता है। बालक मे यदि सोच-समझ पूर्वक कार्य करने की शक्ति न होती, तो विधान-विशेषज्ञ उनके लिए दण्ड का विधान नही करते। अनुचित काम करने के लिए बालक मे समझ आ सकती है तब फिर उचित काम करने के लिए क्यो नही?

राज-सत्ता की ओर मत देखो

विशुद्ध धार्मिक कार्य-कलापो मे राजकीय हस्तक्षेप को मै सर्वथा अनुचित मानता हूँ। आज कई लोग राज-सत्ता द्वारा दीक्षा-विरोध कराने की बात सोच रहे है। कल वे मुखवस्त्रिका पर नियत्रण लगाना चाहेंगे, परसो कुछ और!! और थोडा आगे चलकर तो वे यही चाहेगे कि ज्यो-त्यो धर्म यहाँ से विदा हो जाय। धार्मिक लोग इस अनुचित गड्डरी प्रवाह का सत्य और अहिंसा के बल पर सामना करेंगे। स्वतन्त्रता के युग मे बाल-दीक्षा पर प्रतिबन्ध लगाना बालको की स्वतन्त्रता पर प्रहार करना है। उनको सर्वथा अयोग्य करार देना है। स्वतन्त्रता-सग्राम मे जाने कितने बालक गोलियो की बौछार मे सीना ताने खडे हुए थे। बालको मे आत्म-बल होता है, सोचने-समझने की क्षमता होती है। सब बालक एक से नही होते।

अनुभव

अनुभव प्रमाण सब प्रमाणो से पुष्ट होता है। विक्रम सं० १९८२ से लेकर आज तक का मेरा जो अनुभव है उसके आधार पर मै कह सकता

हूँ कि योग्य वाल-दीक्षा में कोई वुराई नही है। वालदीक्षित साधुओं ने संस्था और समाज का नैतिक धरातल जितना ऊँचा किया है, उतना वयस्क दीक्षितो ने सम्भवत नही किया। वाल-जीवन मे जितने अच्छे संस्कार बनते हैं, उतने अवस्था पकने पर नही बनते। मैं औरो को क्यो देखूँ, स्वयं को ही देखूँगा। यदि मैं ११ वर्ष की अवस्था मे पूज्यपाद श्री कालूगणी के चरणकमलो मे न आता, ११ वर्ष तक उनकी सेवा न कर पाता तो सम्भवत. आज जन-कल्याण मे मैं इतना योग-दान नही दे सकता। दूसरी धर्म-सस्थाओ की ओर देखूँ तो उनमे भी वाल-दीक्षा के उदाहरण कम नहीं मिलते।

आचार्य हेमचन्द्र, वादिदेव सूरि, अभयदेव सूरि आदि वडे-वडे समर्थ विद्वान् वालपन मे ही दीक्षित हुए थे। इनकी साहित्य-साधना से दर्शन का भण्डार आज भी समृद्ध है। हेमचन्द्राचार्य को अपनी प्रतिभा के कारण कलिकाल सर्वज्ञ की उपाधि प्राप्त थी। वादिदेव सूरि ने जैन-न्याय का काफी गौरव वढाया। 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' पर स्वोपज्ञ टीका रची जिसका श्लोकानुपात ८४ हजार का कहा जाता है। अभयदेव सूरि १६ वर्ष की अवस्था मे आचार्य बने। उन्होने नव अङ्गो की टीकाएँ की। पूर्ववर्ती इतिहास को पलटूं तो उदाहरणो की कोई कमी नही। जम्बूस्वामी जैसा विचित्र उदाहरण हमारी जैन परम्परा में विद्यमान है। वैदिक परम्परा में ध्रुव, प्रह्लाद और शकराचार्य के अतिरिक्त और भी वाल-सन्यास के अनेक प्रमाण सम्भवत खोज करने पर मिल सकेंगे। पण्डित टोडरमल जी ने १२ वर्ष की अवस्था मे कई ग्रथो की टीकाएँ बनाई। बालक की वुद्धि का विकास नही होता, यह एकान्त रूप से कैसे माना जाय?

अपनी बात

मैं आपको अपनी स्थिति बतलाऊँ। तेरापंथ शासन मे यहाँ ६ आचार्यों में से आठ आचार्य वाल-दीक्षित हुए। उनकी पावन कृतियो से तेरापन्थ का भाल चिर उज्जवल है। गौरव की वात नही, वस्तुस्थिति समझें। आज भी मेरे वाल-दीक्षित साधु एव साध्वियाँ जिस प्रगति के पथ पर अग्रसर हैं, उसे देख कर मुझे अपार आनन्द है। इनकी साहित्य-साधना और पारमार्थिक जन-सेवा सबके लिए गौरव की वस्तु है।

विरोधी शंकाएँ

वाल-दीक्षा के विरोध मे जो शकाएँ उपस्थित की जाती हैं, उन्हे भी मैं छिपाना नही चाहता। विरोध को छिपाने का अर्थ होता है कायरता या कमजोरी। पहली शका यह है कि बालक के विचार अपरिपक्व होते

हैं। वह अपने भविष्य का उचित निर्णय नही कर सकता। इसका उत्तर यही है कि यह नियम सबके लिए नही। बहुत से १५ वर्ष के बालक परिपक्व मिलते हैं और तीस वर्ष के युवा अपरिपक्व। दीक्षा उसी बालक को दी जानी चाहिए, जिसके सस्कार परिपक्व हो। दूसरी शका—दीक्षित जब व्रतच्युत हो जाता है, तब समाज में उसका कोई स्थान नही होता। यह एक अनोखी शका है। समाज-व्यवस्था नाम की आज कोई चीज है क्या? सब अपनी-अपनी इच्छानुसार राग अलापते हैं। बहुत से निकले हुए आज भी समाज मे रह रहे हैं। हमारा इससे कोई सम्बन्ध नही। तीसरी शका—बालक दीक्षित होकर युवा होता है, तब विकारो से भर जाता है, साधुत्व से च्युत हो जाता है और समाज का अनिष्ट करता है। यह बात भी तथ्यहीन है। क्या युवा दीक्षित कभी विचलित नही होते? बहुत से सघ से पृथक् हुए व्यक्ति समाज मे अपना जीवन बिता रहे हैं। भविष्य की आशका से दीक्षा रोकी जाय, यह कोई तर्क नही। सोमप्रभ सूरि ने कहा है : **दोषभयान्न कार्यारम्भः कापुरुषाणाम्", "मृगाः सन्तीति किं कृषिः न क्रियते", "अजीर्णभयात् किं भोजनं परित्यज्यते", स कोऽपीहाभूदस्ति भविष्यति वा यस्य कार्यारम्भेषु प्रत्यवाया न भवन्ति"** अर्थात् दोष की आशका से कार्य शुरू न करने वाले शक्तिहीन होते हैं। हिरणो के भय से क्या खेती न की जाय? अजीर्ण के भय से क्या भोजन करना छोड दिया जाय? ऐसा कौन है या होगा, जिसके कार्य-कलाप में विघ्न न होते हो? उक्त लचीले तर्कों को लेकर आत्म-शुद्धि का मार्ग रोका नही जा सकता।

तेरापंथ की दीक्षा-प्रणाली

आचार्य श्रीभिक्षु ने पहले ही यह मर्यादा निश्चित कर दी थी कि कोई भी साधु अपना शिष्य नही बना सकता। शिष्य-शाखा की समाप्ति से शिष्य-लोलुपता अपने आप समाप्त हो गई। आचार्य की अनुमति के बिना कोई दीक्षा नही दे सकता, इसलिए अयोग्य की दीक्षा की कोई सम्भावना ही नही रहती। आचार्य भी पूर्ण परीक्षा के बाद दीक्षा देते हैं। परीक्षा मे कई तो नाबालिग से बालिग बन जाते हैं। मै बहुत घबराता हूँ कि कही कोई अयोग्य न आ जाय, क्योकि एक ही अयोग्य के आने से साधु सस्था मे एक प्रकार की गडबडी पैदा हो सकती है। मैं अयोग्य दीक्षा देना नही चाहता। उसका घोर विरोधी हूँ। बाल-दीक्षित साधु-साध्वियो की कृतियो तथा उनके दीक्षा-परिणाम को देखकर बाल-दीक्षा के प्रति मेरी श्रद्धा बढी है।

लोग गौरव न समझें, साधु-साध्वियो की जैसी प्रगति चालू है, यदि वैसी रही तो मेरा अनुमान है कि मैं दुनिया को कुछ कर दिखलाऊँगा। जनता विश्वास

रखे—अयोग्य दीक्षा न तो पहले हुई, और न होती है और न होगी। योग्य दीक्षा पहले हुई, होती है और होगी। हाँ, इसमें कोई समझाने जैसी बात हो, तो लोग मुझे समझा दे और यदि समझने जैसी हो तो मुझसे समझ लें। योग्य दीक्षा कल्याणकारी है—निःसन्देह हितप्रद है।

३ : अपनी वृत्तियों को संयमित बनाइए

यदि आपको जीवन की विशृङ्खलता को मिटाना है, उसे व्यवस्थित, नियमित और शान्तिमय बनाना है तो अपनी वृत्तियो को सयमित बनाइए, स्वार्थपरता और लोभवृत्ति को छोड जीवन के यथार्थ को समझिए, सन्तोष और अपरिग्रह के आदर्शों को जीवनव्यापी बनाने के लिए कटिबद्ध बनिये। हर व्यक्ति पूर्णरूपेण इन आदर्शों के अनुरूप जीवन-चर्या को मोड सके, यह कठिन है, पर मनोवृत्ति यह रहे कि उन्हे अपने जीवन को अधिक से अधिक सयमित और सादगीमय बनाना है। अणुव्रत आन्दोलन और कुछ नही केवल यही करना चाहता है। वह स्वार्थपरता, अर्थ-लोलुपता और असन्तोष-वृत्ति का उन्मूलन करना चाहता है ताकि आज का असन्तुलित, अस्त-व्यस्त और डाँवाडोल जीवन सन्तुलन, स्थिरता और स्वनिष्ठा पा सके। यही अणुव्रत आन्दोलन के गठन का मूल हेतु है। व्रतगत नियमो का सचालन इसी दृष्टि से किया गया है कि वे जीवन-व्यवहार पर सीधा प्रभाव डाल सके; क्योकि आदर्श जब तक जीवन-वृत्ति में स्थान न पाकर केवल कथन-गत ही रहे तब तक उनका क्या उपयोग? सही उपयोगिता उनकी तभी है, जबकि जीवन-व्यवहार में उनका सक्रिय परिपालन हो। अणुव्रत आन्दोलन लोक-जीवन मे आदर्शो की व्याप्ति देखना चाहता है। इसीलिए उसका गठन वर्तमानयुगीन बुराइयो पर सीधी चोट की जा सके, इस दृष्टि विन्दु को लेकर हुआ है। लोग उसे देखे, समझें, जीवन-व्यवहार मे सजोये।

पेटलावद
१ जनवरी '५६

४ : व्यापारी वर्ग से

आज समाज के किसी भी वर्ग को देखें, उसमें अनैतिकता, अनाचरण और स्वार्थ-वृत्ति इस कदर घर करती जा रही है कि इनके अतिरिक्त न्याय और सदाचरण का पथ उन्हे सूझता तक नही। व्यापारी समाज तो इन असद्वृत्तियो से अधिक ग्रसित है, यह आम धारणा है। स्थिति यह बन

गई है कि सिवा पैसे बटोरने के उन्हें कुछ सूझता तक नही। भारत की एक समय सारे विश्व पर छाप थी कि यहाँ के व्यापारी प्रामाणिक और ईमानदार होते है ; पर आज स्थिति इसके सर्वथा विपरीत है। सचमुच यह बडे दुःख का विषय है। व्यापारी बन्धुओ का यह कर्त्तव्य है कि वे अपने जीवन में आमूलचूल परिवर्तन लाते हुए यह साबित कर दे कि भारत के उज्ज्वल अतीत के प्रतिकूल वे जानेवाले नही है। भारतीय सस्कृति की विरासत में प्राप्त प्रामाणिकता और सत्यानुशीलन के सक्रिय अनुगामी वे है। इसके लिए उन्हे भौतिक स्वार्थों और अर्थ से मुंह मोड़ना होगा।

मै जब यह सुनता हूँ कि जैन धर्मानुयायियो के दैनिक व्यवहार की लोग निन्दा और कटु आलोचना करते है, तो मुझे बडा खेद होता है। यदि उनकी जीवन-चर्या भगवान् महावीर के बताये आदर्शों के अनुरूप हो तो ऐसा क्यो बने ? जैनधर्म सयम, त्याग, अपरिग्रह और सन्तोषप्रधान है। पर इन सिद्धान्तो की मूल आत्मा से तथाकथित जैन प्रतिकूल जा रहे है। ऐसा नही होना चाहिए, यह अनुचित है। जहाँ एक ओर जैन-मुनियो के अत्यन्त त्यागनिष्ठ, अपरिग्रहमय जीवन की उज्ज्वल मिसाल लोगों के समक्ष है, वहाँ दूसरी ओर जैन कहलाने वाले कितनी विलासिता और अर्थ-लोलुपता मे अपने को फँसाये रखते है यह धूमिल मिसाल भी अप्रकट नही है। यह कितना विपरीतपन और अनौचित्य है। एक समय था कि प्रामाणिकता और ईमानदारी के क्षेत्रो मे जैनो की एक साख थी। मै जैन भाइयो से कहूँगा कि वे अपने निर्मल चरित्र से उस खोई हुई साख को पुन. प्राप्त करें।

जीवन की सार्थकता धन, वैभव और मालमत्ता की पर्वतराशियाँ खडी कर लेने मे नही है, वह तो उज्ज्वल आचरण, सात्विक वृति और निश्छल व्यवहार मे है। व्यापारी उसे अपनायेंगे, ऐसी आशा है।

रतलाम
७ जनवरी '५६

५ : अन्तर-जागृति का आन्दोलन

अणुव्रतो के आदर्श विश्वजनीन आदर्श है, शाश्वत और सनातन आदर्श है। अणुव्रत आन्दोलन उन आदर्शों को व्यावहारिक जीवन मे देखना चाहता है। आदर्श केवल ग्रन्थ और वाणी मे न रहकर जन-जन के व्यवहार मे आएँ, रोजमर्रा की जिन्दगी में उनका संचार हो, इस वृत्ति को जगाना अणुव्रत आन्दोलन का अभिप्रेत है। व्रतगत नियमो व उपनियमो का गठन इसका स्पष्ट परिचायक है।

अनीति, अनाचार, असत्य और असद् व्यवहार जैसे अमानुषिक कृत्यो से जर्जरित मानव-जीवन के लिए अणुव्रत-आन्दोलन वह शीतल प्रलेप है, जो उसे सही शान्ति देता है। अनीति के वदले नीति, अनाचार के वदले सदाचार, यह असत्य के वदले सत्य और असद् व्यवहार के बदले सद्व्यवहार की प्रतिष्ठा करता है। यह अन्तर-जागृति का आन्दोलन है।

रतलाम
८ जनवरी '५६

६ : अमोघ औषधि

भारत सदा से ज्ञान-विज्ञान और विद्या-परम्परा का महान् धनी रहा है। विद्या के अन्यान्य अङ्गोपाङ्गो की तरह स्मरण-शक्ति की विशद साधना का भी यहाँ गम्भीर अभ्यास चलता रहा है। ये भारतीय सस्कृति के वे अमर तत्त्व है, जो उसे सदा सुशोभित और अलकृत करते रहेगे। यद्यपि सस्कृति की अमल धारा आज विकास नही प्रत्युत् ह्रास की ओर प्रवहशील है तथापि मै इतना अवश्य कहूँगा कि वह सास्कृतिक चेतना मरी नही है, मूर्च्छित है।

जीवन सही जीवन तव है, जबकि उसमे वुराइयो से अलगाव तथा भलाइयो से लगाव हो। वह तथाकथित नागरिक जो असत्य, धोखा, दम्भ, अविश्वास और अनैतिकता से बचने का आत्मबल नही रखता, वह कैसा नागरिक है! क्योकि नागरिकता की कसौटी प्रामाणिकता, सच्चाई और ईमानदारी है, बाहरी आडम्बर और दिखावा नही। अणुव्रत आन्दोलन नागरिक जीवन मे स्फूर्ति और शुचिता भरने का एक सफल साधन है। दूसरे शब्दो में मै कहूँ तो यह व्यक्ति के नैतिक रोगो की अमोघ औषधि है। सच्चाई और सदाचार की ओर ले जाने का यह पावन राजपथ है। मै चाहूँगा, नागरिक इसे समझें, जीवन मे उतारे। यदि उन्होने ऐसा किया तो वे एक नया बल, नयी प्रेरणा और नया प्रकाश पायेगे।

रतलाम
९ जनवरी '५६

७ : व्रत या प्रतिज्ञा का बल

वुराइयो की गहरी तह जिस पर चिपकी हुई है, ऐसे प्रत्येक आदमी में यह क्षमता नही होती कि एकाएक उन्हे पूर्णतया छोड भलाई, न्याय और

सदाचरण का आराधक वह बन जाये। वह जीवन में बुराइयों पर क्रमश· रोक लगा सकता है। यही तो अणुव्रत परम्परा है। पतन के गड्ढे में गिरते मानव को बचाये रखने का यह सफल प्रकार है। व्रत या प्रतिज्ञा के रूप में किया हुआ दृढ सकल्प अपना एक विशेष बल और ओज रखता है। अणुव्रत-आन्दोलन अहिंसा, सत्य आदि व्रतो का व्यवहारोपयोगी सस्करण है। जिन बुराइयो अथवा विपरीत वृत्तियो में नागरिक जीवन विश्रृखलित होता जा रहा है, उन बुराइयो पर यह सीधा प्रहार करता है। एक•शराबी एक साथ शराब का सम्पूर्ण परित्याग कर डाले, यह उसके लिए कठिन है। पर इतना से अधिक वह उसका उपयोग नही करेगा ऐसी मर्यादा करना उसके लिए दुष्कर नही। अगुव्रत-आन्दोलन इसी क्रमिक विकास का प्रतीक है। यह उन्नति की ओर ले जाने का प्रथम सोपान है। आशिक मर्यादा में बँधनेवाला व्यक्ति आगे चल कर सहारा देगा, शक्ति देगा।

रतलाम
६ जनवरी '५६

८ : भारतीय दर्शनों का सार

जहाँ विश्व के अधिकाश अन्यान्य दर्शनो ने जीवन के बाह्य पक्ष को देखा, वहाँ भारतीय दर्शनो का स्रोत अन्तरतम का परिदर्शक रहा है। भौतिक अभिसिद्धियाँ यहाँ जीवन का चरम लक्ष्य नही बन सकी। यही कारण है कि आध्यात्म विकास की उच्चतम पराकाष्ठा हस्तगत करने की तरह भौतिक अन्वेषण में भी उतने ही बढे-चढे भारतीय तत्त्व-द्रष्टा भौतिकवादी उग्र शक्तियो का प्रयोग कर जगत् में विनाश का ताण्डव मचाना नहीं चाहते थे। जैन वाङ्मय में अनेकानेक भौतिक अभिसिद्धियो के विवरण के बीच तेजोलब्धि का विवेचन हमें मिलता है, उष्ण परमाणुओ के सघन सग्रह का एक वैज्ञानिक प्रकार तेजोलब्धि है। तेजोलब्धि-प्राप्त साधक यदि उसका प्रयोग करे तो वह सोलह देशो को भस्मसात् कर सकता है। पर नही, उसके लिए ऐसा करने में कठोर निरोध और निषेध है, तेजोलब्धि का प्रयोग साधुता सम्मत नही है। ऐसा क्यो? इसीलिए कि शक्ति का प्रयोग हिंसा और विनाश मे नही होना चाहिए। भारतीय दर्शन निर्माण और सृजन का दर्शन है, विध्वस का नहीं। वह लोक-जीवन को एक ऐसी निर्मिति में ढालना चाहता है, जो सत्य, शौच, सदाचरण की निर्मिति है। यदि एक शब्द मे कहूँ तो वह "सयम" की निर्मिति है।

भारतीय दर्शन ज्ञान और आचरण के समन्वय का दर्शन है। उसका

निर्घोष है—तत्त्व को जानो, सत्य का ज्ञान मे साक्षात्कार करो, अपने जीवन मे उसे ढालो, तद्नुरूप क्रियाशील बनो। तत्त्वो को समझा, उनका गहरा परिशीलन किया पर यदि जीवन उनके अनुरूप नही बना, तब उस समझ तथा परिशीलन ने जीवन मे क्या ठोस चीज दी? अतएव भगवान् महावीर ने जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष की विवेचना मे "ज्ञान क्रियाभ्या मोक्ष" "ज्ञान और क्रिया से मोक्ष प्राप्त होता है", के रूप में दोनो की अनिवार्यता का निरूपण किया है। भगवान् महावीर जीवन विकास को ज्ञान, विज्ञान और सयम के रूप मे देखते हैं, जिसका फल है—अनास्रव अर्थात् कर्म-बन्ध का निरोध और साथ-साथ पूर्व सचित कर्माणुओ का निर्जरण भी चलता है। इस प्रकार आत्मा कर्म रूप विजातीय तत्त्वो से विमुक्त बन अपने शुद्ध स्वरूप मे अधिष्ठित होती है। दूसरे शब्दो मे कहे तो आत्मा, परमात्म-स्वरूप बन जाती है। यह है जीवन-विकास का व्यवस्थित क्रम।

भारतीय तत्त्व-चिन्तन जीवन के हर पहलू को सयमित और नियमित देखना चाहता है। वह सकीर्णता या सकुचितता से दूर जीवन-शुद्धि का एक शाश्वत और सनातन पथ देता है। मै चाहूँगा कि लोग उसे यथावत् समझ जीवन को दर्शन के निगूढ तत्त्वो का प्रयोगात्मक प्रतीक बनाये। इसी में दर्शन के परिशीलन की सार्थकता है।

रतलाम
१० जनवरी '५६

६ : मानवता का मापदण्ड

मै बीस वर्ष की लम्बी अवधि के बाद जावरा आया हूँ, तब और अब मे कितना परिवर्तन आ गया है? तब के बालक आज युवक बन गये हैं, युवक प्रौढता पा चुके हैं और भी न जाने क्या-क्या हुआ है। यही तो संसार है, निरन्तर बदलने वाला, अनेक रूप लेने वाला! ससार में मनुष्य आता है, चला जाता है, उसकी भलाई और बुराई के सिवा उसका बचा क्या रहता है, कुछ भी तो नही। इतना ही क्यो, वर्तमान जीवन मे भी मानव की मानवता का मापदण्ड भलाई और बुराई ही तो है। यदि मानव भलाइयो मे पगा है, तो वह वास्तव में मानव है, सच्चा मानव है; और यदि बुराइयो से उसका जीवन जर्जरित है तो मूर्तिमान पशुत्व के अतिरिक्त उसमें है क्या? मानव मानवता से परे न हो, मानवोचित गुणो को वह तिलाजलि न दे बैठे इसके लिए हमारे देश के ज्ञानी, तपस्वी, सन्त लोगो को धर्म की सदा प्रेरणा देते रहे हैं। धर्म ही तो वह साधन है, जो जीवन को

शुद्धि की ओर ले जाता है। जीवन को विकारो और बुराइयो से बचाकर भलाई की ओर ले जाना धर्म का अभिप्रेत है। यदि वह उससे नही वन पडता है तो वह कैसी धर्म की विडम्बना है। धर्म, सकीर्णता और ओछी मनोवृत्ति से दूर व्यापक, विशाल, उदार और असकीर्ण भावना का प्रतीक है। अहिंसा और सत्य उसकी आत्मा है। जीवन-व्यवहार की परिष्कृति उसकी आभा है। ऐसा न कर धर्म को स्थितिपालकता और स्वार्थपोषकता के दलदल मे जो डुबोये रखते हैं, वे धर्म के नाम पर अधर्म के परिपोषक है। ऐसा कर वे अपने आपको तो गिरायेगें ही, औरो के लिए बुरी मिसाल साबित होगें। अत मेरा धर्मानुरागी भाई-बहिनो से कहना है कि वे धर्म के सही रूप का अकन करते हुए अपने जीवन में उसकी व्याप्ति देखे।

धर्म के अहिंसा, सत्य, सदाचार और अपरिग्रह मूलक आदर्श सामाजिक लोगो के दिन प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन में स्थान पावे, एक नयी चेतना और स्फूर्ति का सचार करें, इसी ध्येय को लेकर अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन हुआ। मैं चाहूँगा कि आप सब लोग इसके स्वरूप को समझें और अपनी जीवन-चर्या इसके अनुरूप वनायें।

जावरा
१२ जनवरी '५६

१० : स्याद्वाद या अनेकांत दृष्टि

समन्वय या सामजस्य भारतीय विचारधारा का प्रमुख तत्त्व रहा है। यहाँ के तत्त्व-द्रष्टाओ ने किसी भी समस्या को सुलझाने मे एकान्तिक आग्रह को स्थान नही दिया। यहाँ अपेक्षा-भेद से हर पहलू पर हर दृष्टि से विचार-विमर्श, गवेषणा और अन्वेपण की परम्परा चली। जिसका एक महत्व है, विशेपता है। संघर्ष, विध्वस या विप्लव के द्वारा समस्याओ को सुलझाने का जो उपक्रम है वह वास्तविक सुलझाव नही, वह तो उलझाव है, क्योंकि उससे क्षणवर्ती सुलझन दीखती है, पर यह आँखो से ओझल करने जैसा नहीं है कि उलझनो की कितनी गहरी और मोटी परत उसके नीचे छिपी है। अत· यहाँ समन्वय, सामजस्य व एक दूसरे को विभिन्न अपेक्षाओ से समझकर पारस्परिक समझौता ये ही समस्याएँ सुलझाने के प्रमुख आधार माने जाते रहे हैं जिसे हम जैन दार्शनिको की भापा में स्याद्वाद या अनेकात दृष्टि कह सकते हैं। इसी समन्वय की नीति के आधार पर प्रधान मत्री पडित नेहरू ने जो अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त की है, वह सही माने में भारतीय सस्कृति और चिन्तन का गौरव है। धार्मिक क्षेत्र के लोगो से

तो मैं विशेष रूप से कहना चाहूँगा कि वे सकीर्णता, निंदा एवं कटुतापूर्ण व्यवहार से सदा परे रहे।

ऊँचे विचारो तथा आदर्शों के लम्बे-लम्बे गीत व मधुर गाथाएँ गाने से क्या वनेगा, यदि व्यक्ति के जीवन मे उन आदर्शों की छाया तक नही? "सत्यं जयति नानृतम्" का घोष सचमुच बहुत मीठा है, पर वह क्या कर पायेगा यदि व्यक्ति का अन्तस्तल सत्य के प्रति आकृष्ट नही है? इसलिए मैं सदा यही कहा करता हूँ कि इन उच्च आदर्शों की व्याप्ति अपने जीवन मे देखो। ऐसा न कर केवल लम्बी-लम्बी बाते वनाने और दूसरो को उपदेश देने मे लगा रहना जो अपना कर्त्तव्य मानता है, वह क्यो भूल जाता है कि दुनिया इतनी वेवकूफ नही है, वह उसे ऐसा करते देख उसके मुंह पर थूकेगी। राष्ट्र के नेताओ, विद्वानो, कवियो, लेखको, पत्रकारो, सार्वजनिक कार्यकर्ताओं तथा शासनाधिकारियो का मैं आह्वान करता हूँ कि वे सव अपने जीवन को सत्य और अहिसा के आदर्शों मे ढाल कर ससार के समक्ष केवल कहने के रूप मे नही वल्कि करने के रूप मे एक जीवित मिसाल पेश करें।

अणुव्रत-आन्दोलन सर्व धर्म समन्वय का प्रतीक है। वह उन सर्व धर्म सम्मत आदर्शों को प्रस्तुत करता है, जो मानव मात्र के कल्याण के आदर्श है, लोक-जीवन को जगाने के आदर्श है। उन्हे आप हृदयगम करें, जीवन-व्यापी वनाएँ।

मन्दसौर
१५ जनवरी '५६

११ : अध्यात्म-प्रधान भारतीय संस्कृति

भारतवर्ष एक आध्यात्मिक सस्कृति का देश है। धर्म यहाँ का प्राण-भूत आधार रहा है। आज भी यदि भारत का गौरव है, उसका अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व है, तो वह इसलिए कि इसकी सस्कृति, दर्शन, परम्परा, इतिहास अहिसा और मैत्री जैसे आध्यात्म तत्त्वो से भरे पडे हैं, जो आज भी विश्व के लिए प्रेरणा के स्रोत जैसे हैं। पर दुख तव होता है, जव आज के भारतीयो के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन को हम देखते है। उनके जीवन में कितनी अधिक गिरावट और ओछापन आ गया है कि अपने तिल मात्र स्वार्थ के लिए भी दूसरो के हितो को शिकार की तरह हडपते उन्हें जरा भी सकोच नही होता। इसी लोलुप वृत्ति ने उसे वहुत प्रकार की अनैतिक प्रवृत्तियो में जकड़ दिया, ऐसी हालत में आज यह अत्यन्त

आवश्यक हो गया है कि मानव-समाज अपने विकृत रूप को देखे। आत्मबल और हिम्मत के सहारे बुराइयो के साथ टक्कर लेकर वह भलाइयो के राज-मार्ग पर आये। तभी उसमे सही माने मे मानवता कही जा सकती है, तभी वह अपनी गौरवमयी सास्कृतिक विरासत का उपयुक्त अधिकारी है। अणुव्रत आन्दोलन और कुछ नही, केवल यही करना चाहता है कि मानव विकारो के दलदल से निकल अपने आपको सत्य, शील, सन्तोष और सद्भाव जैसे उत्तम गुणो मे ढाले।

नीमच
१७ जनवरी '५६

१२ : सच्ची धार्मिकता क्या है ?

सहस्रो पुस्तके पढ डाली, धर्मशास्त्रो का ज्ञान अर्जन किया, पर उस पठन और ज्ञान से क्या बना यदि जीवन-चर्या मे उसकी जरा भी प्रतिच्छाया नही है, यदि जीवन मे किंचिन्मात्र भी तदनुरूपता नही आई। धर्म-शास्त्रो में वर्णित धार्मिकपन जीवन-व्यवहार मे आये, आचरणो मे आये तभी उसकी सार्थकता है। आज स्थिति यह बन गई है कि तत्त्वज्ञान की ऊँची-ऊँची बाते बनाने वाले तो बहुत मिल जायेगे पर उसको जीवन मे ढालने वाले कहाँ? सचमुच आज के मानव-जीवन मे यह बहुत बडी कमी है। मैने अनेक बार कहा है और कहता रहता हूँ कि आज ज्ञानी या पण्डितो की उतनी अपेक्षा नही है, जितनी क्रियाशीलो की, कर्मठो की, करनेवालो की। आज तो ऐसे व्यक्तियो की आवश्यकता है, जो अहिंसा, सत्य आदि धार्मिक आदर्शों को अपने दैनन्दिन व्यवहार मे सजोने वाले हो। आज ही क्या, सदा ऐसे लोगो की अपेक्षा रही है और रहती है। यही सच्ची धर्माराधना और धर्मानुशीलता है।

धर्म का सत्य स्वरूप एक है। सम्प्रदाय, जाति या कौम उसे बाधित नही कर सकते। यह वर्गवाद के परकोटे से घिरा नही है। क्या हिन्दू और क्या मुसलमान, क्या हरिजन तथा क्या महाजन, क्या जैन व क्या अजैन सब उसका परिपालन करने के अधिकारी है। धर्म का यथार्थ स्वरूप है—सयम, सयताचरण, जीवन-व्यवहार का नियमन, सम्मार्जन। खाना-पीना, चलना-फिरना, बैठना-उठना, रहना-सहना आदि जीवन की हर क्रिया, हर पहलू सयम से अनुरजित हो, यही धर्म सिखाता है। सयम जीवितव्य वास्तव जीवन का सार है जबकि असयम जीवितव्य जीवित मृत्यु है। असयत आचरणो मे पड़ जीवन की धूल उड़ाने वाला मानव भी क्या मानव?

मानव के आकार मे यदि उसे पशु कहा जाये तो कोई अत्युक्ति नही होगी। अतएव हमारा निर्घोप है—नारा है. "सयम खलु जीवनम्"। सयम ही जीवन है। मै चाहूँगा, लोग अधिक से अधिक अपने जीवन को संयम के ढाँचे मे ढाले।

बाहरी क्रिया-काण्डो, रूढि-परम्पराओ और दिखावो मे आप मत भूलिये, जीवन मे इनसे कौन-सो शुद्धि आ सकेगी? जीवन मे तो तभी शुद्धि और सात्विकता आयेगी जबकि मानव अपनी कार्य-परम्परा को शौच, सत्य, अहिसा और समता से मँजेगा।

जावद
१८ जनवरी '५६

१३ : एक दिशासूचक आन्दोलन

ससार मे हर मानव चाहता है कि उसका जीवन सुखमय बने, दु ख से सदा परे रहे, पर हम देखते है कि एक मानव अपने सुख के लिए, सुविधा के लिए, स्वार्थ के लिए दूसरे का गला घोटते जरा भी नही हिचकिचाता। वह भूल क्यो जाता है कि दूसरा भी तो उसी की तरह सुख की चाह रखता है। दूसरे के सुखो को लूटनेवाला, उन्हे उत्पीडित करने वाला भला कैसे सुखी बन सकता है? उसके द्वारा पीडित व्यक्ति क्या उसके शत्रु नही बन जायेंगे? वे भी तो उसके आक्रमण से अपने सुखो के बचाव के लिए भयावह बन सकते है। फलत ऐसा वातावरण तैयार होगा, जिनमे नृशस, निर्दय, क्रूर और क्लिप्ट भावो की भरमार होगी, जिसमे एक दूसरे के खून का प्यासा होगा। क्या ऐसा जीवन भी कोई जीवन है? पर खेद के साथ कहना होता है कि वस्तुस्थिति आज कुछ ऐसी ही बन गई है। अणुव्रत-आन्दोलन इस बीभत्स, हिंस्र और विध्वसमय स्थिति को बदलना चाहता है। इसे एक नया मोड देना चाहता है। वह मोड है—समता का, मैत्री का, सद्भावना का, तितिक्षा का। वह चाहता है, कोई किसी को पीडा न दे, धोखा न दे, ऐसा कुछ न करे। कितना अच्छा हो यदि इस अध्यात्म-आलोक के सहारे व्यक्ति अपने को आगे बढाए।

अणुव्रत-आन्दोलन किसी सम्प्रदाय-विशेष का आन्दोलन नहीं है। यह तो मानवता का आन्दोलन है, जीवन-शुद्धि का आन्दोलन है, चारित्र्य जागृति का आन्दोलन है। यह सर्वधर्म समन्वय का प्रतीक है। किसी भी सम्प्रदाय की मान्यता रखना इस आन्दोलन के अपनाने मे बाधक नही केवल शर्त्त

यही है कि वह व्यक्ति अणुव्रत-आन्दोलन के नियमोपनियमो का हृदय से परिपालन करे। अणुव्रत-आन्दोलन जीवन को परिष्कृति देने का वह पावन स्रोत है जिसमें अवगाहन करने का अधिकार हर मानव को है। मैं आप सभी लोगो को आह्वान करता हूँ, उस ओर आप अग्रसर हो, इन आदर्शों को जीवन-व्यवहार में स्थान दे।

जावद
१८ जनवरी '५६

१४ : मूल्यों में श्रद्धा रखें

नगर मे निवास करने मात्र से ही कोई सच्चा नागरिक नही हो जाता। यदि ऐसा होता तो नगर मे तो अनेको कीट-पतगे और पशु-पक्षी भी रहते है, वे भी नागरिक कहे जाते, पर बात ऐसी नही है। सही माने में नागरिक वह है जिसमें सत्य, शौच, श्रद्धा, शील और समता जैसे नागरिक जनोचित सद्गुण हो। ऐसा व्यक्ति अपनी सुविधा के लिए दूसरो को कष्ट देना नही चाहता, सबके प्रति मित्र-भाव से वरतता है। फलत उसका जीवन शान्त और सुखी बनता है।

सत्य, प्रामाणिकता और नीतिमत्ता से ससार में काम चल सकता है यह आज का मानव स्वीकार करने में भी हिचकिचाता है। यह कितनी बडी श्रद्धाहीनता का परिचय है। वस्तुत. आज मानव की आत्म-श्रद्धा डगमगा उठी है। यह उसकी वहुत बड़ी आत्म-दुर्वलता है। सत्य पराङ्मुखता का ऐसा ही प्रतिफल होता है। इस दुरवस्था से मानव को आज निकलना है। अपने श्रद्धाशून्य और सत्य-रहित जीवन को सँभालना है। डगमगाती श्रद्धा को पुन यथावस्थित करनी है, क्योकि जबतक व्यक्ति के मन में श्रद्धा या विश्वास नही होता, वह कुछ नही कर सकता। जिसके मन मे यह विश्वास नही कि सत्य से जीवन-व्यवहार चल सकता है, वह सत्य को कैसे पकडेगा? अत राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक से मेरा कहना है कि सत्य और यथार्थ के प्रति वह अपनी खोई हुई श्रद्धा को पुन प्राप्त करे।

कुछ ही दिन पूर्व की तो बात है कि सीमा कमीशन का फँसला लोगों के समक्ष आया, तव कही-कही तो ऐसी दुर्घटना और जघन्य घटनाएँ घटी कि उन्हे देखते नागरिकता स्वय लजाती है। आपलोग अखबारो में पढते है, आज भी उसको लेकर कही-कही कितनी उग्रता और उद्दण्डता देखने में आ रही है। यह अनुशासन-वर्जित वृत्ति और अश्रद्धामय मानस का परि-

चायक है। अत मैं राष्ट्र के नागरिको से कहना चाहूँगा कि वे अपने जीवन मे अनुशासन को पूरा-पूरा स्थान दे।

जावद
१८ जनवरी '५६

१५ : सम्प्रदायों के मौलिक तत्त्वों का उपयोग

सम्प्रदाय का अर्थ सकीर्ण और संकुचित वाडा-बन्दी नही है और न वह पारस्परिक वैमनस्य, सघर्ष और कलह फैलाने का हेतु है। उसका तो अर्थ है गुरु-क्रम-गुरु-परम्परा (सत्य या यथार्थ के अन्वेषण की एक धारा)। ऐसी स्थिति में वह आपसी अलगाव और मनमुटाव का हेतु हो ही कैसे सकता है? पर ऐसा हुआ। प्राचीनकालीन इतिहास के पन्ने उलटे तो पायेंगे कि सम्प्रदायवाद की आड में न जाने कितना रक्तपात हुआ, कितने हत्याकाण्ड हुए। नृशस व्यक्ति भी क्या इतना क्रूर और हत्यारा हो सकता है? यह इतिहास की वह गहरी कालिमा है, जो धोए नही धुल सकती। जब सम्प्रदाय के अन्तरतम में यह विष नही तो फैला कहाँ से? यह एक प्रश्न है। इसका सीधा-सा समाधान यह है कि जव व्यक्ति केवल अपने स्वार्थ को साधने मे लग जाता है, यश-लोलुपता के नशे मे पागल हो जाता है, प्रतिष्ठा की भूख में अपने को खो देता है तव उसका विवेक लुप्त हो जाये तो इसमें आश्चर्य ही क्या? यही तो हुआ। तथाकथित धार्मिको या सम्प्रदायानुगामियो ने अपने मतलव साधने के लिए या अपनी विजय तथा दूसरो की पराजय की दुरभिसन्धि पूरी करने के लिए यह सब किया। आज भी सकीर्ण साम्प्रदायिकता के छिट-पुट आक्रमण देखने में आते हैं। ऐसा करनवाले धर्म की सही आत्मा से दूर हैं। वे वर्तमान युग की माग को नही समझते। मैं राष्ट्र के सभी सम्प्रदायो के अनुयायी भाई-वहिनो से कहूँगा कि सकीर्णता और कटुता में न पडते हुए पारस्परिक मैत्री और वन्धुभाव को वढाएँ।

यदि विभिन्न सम्प्रदायो के मौलिक तत्त्वो का पर्यवेक्षण किया जाये तो हम पाएगे कि उनमें समानता और समन्वय के तत्त्व अधिक हैं, असमानता के कम। आज आवश्यकता इस बात की है कि समानता के तत्त्वो को आगे रखा जाये। उनको लेकर अध्यात्म-विकास और नैतिक-निर्माण के पथ पर अग्रसर हुआ जाये ताकि अपना तथा साथ ही साथ दूसरो का भी हित सध सके। यही वह पथ है जो विभिन्न सम्प्रदाय के लोगों में मैत्री

और वन्धु-भाव का प्रतिष्ठापन कर सकता है। असमानता की वातो को बल देने का ही अतीत मे यह परिणाम हुआ कि लोगो मे पारस्परिक द्रोह-भाव पनपा। उस विसगति को आज पुन. नही दोहरानी है। मुझे आशा है आप सव लोग इस पर गौर करते हुए अपने जीवन को मैत्री, समता और वन्धुभाव के धागे मे पिरोयेगे।

जावद
१९ जनवरी '५६

१६ : मालववासियों से

एक तरफ विदाई और दूसरी तरफ स्वागत ; पर आप जानते है सन्तो की कैसी विदाई? कैसा स्वागत? क्या वे किसी स्थान विशेष के स्थायी प्रवासी होते हैं? नहीं, विश्व मे कोई उनका निर्धारित स्थान नही। स्थान-स्थान पर पर्यटन करते हुए आत्म-सावना के साथ-साथ लोक जागृति के पथ पर आगे वढते रहना ही तो उनका काम है। वे जहाँ भी जाते हैं, यही तो करते हैं। फिर क्या विदाई और क्या स्वागत? उनका स्वागत या अभिनन्दन तो यही है कि लोग उनके वताये हुए जीवन-शुद्धि के मार्ग पर अपने को आगे वढाये।

इस अवसर पर मैं सबसे पहले एक वात कहना चाहूँगा, लोग सदा इस ओर जागरूक रहे कि वे मौलिक तत्त्वो से पराड्मुख बन कहीं एकमात्र दिखावो मे तो नही भूल रहे हैं। औपचारिकता मे तो नही बह रहे है, क्योकि मौलिक तत्त्व की आराधना मे ही सच्चा श्रेयस् है, वाह्य उपकरणो मे नही। अत. एकमात्र समारोह-समारम्भ ही आपका लक्ष्य न वन जाय। सही तत्त्व और वास्तविकता की ओर भी आपलोगो का ध्यान रहना चाहिए।

मध्यभारत के नागरिको ने उपदेश श्रवण, ससर्ग और सत्सग का काफी लाभ लिया। कुछ एक ऐसे भाई भी है, जिन्होने अष्टमासीय यात्रा व प्रवास मे अपना पूरा-का-पूरा समय इधर लगाया, यह देख मुझे ताज्जुव होता है। आज जबकि स्थिति यह है, एक समय का व्याख्यान भी सुनने की फुर्सत निकालने मे व्यक्ति कठिनाई महसूस करता है। मालव प्रदेश के भाइयो का यह उपालंभ विस्मृत नही किया जा सकता कि मैं मालव को पूरा नही परस सका। मैं मानता हूँ, एक वर्ष और रहने की वहाँ अपेक्षा है। वहाँ के भाइयो मे जितनी प्रेरणा, जितनी उत्कण्ठा मैंने देखी कि उनके

भक्ति भरे उद्गार देखकर लम्वी-लम्वी मंजिलो की परवाह न करते हुए कही-कही एक-एक के वदले दो-दो दिन मुझे रुकना पडा। फलत इससे दुगुना भी चलना पडा पर इसका क्या विचार? इन्दौरवासियो का उलाहना भी कैसे भूला जा सकता है? मालव-प्रवेश के समय अल्पकालीन प्रवास वहाँ हुआ। केवल चार दिनो मे वहाँ के सार्वजनिक कार्यकर्त्ता, विद्वान्, साहित्यकार और नागरिक कितने निकट जैसे हो गये? पर मै दुबारा वहाँ नही जा सका। मालव को मैं पूरा नही परस सका पर अपने पूर्वाचार्यों से तो मैने अधिक ही परसा, कम नही। मैने मालव-यात्रा मे देखा—लोगो मे सत्य व धर्म के प्रति कितनी उत्कण्ठा और उत्सुकता है। सत्य को पाने की कितनी उनमे लगन है। उपदेशो मे कितने उत्सुक भाव से उन्होने रस लिया। क्या प्रान्त के वडे-से-वडे लोग और क्या जनसाधारण सभी ने उत्कण्ठापूर्वक आध्यात्मिक उपक्रमो मे समानता से भाग लिया। वस्तुत मेरी मालव-यात्रा सव दृष्टि से अत्यन्त उल्लास, आनन्द और सुख से पूर्ण रही। वातावरण वडा शान्त रहा।

अव मेरा मालववासियो से कहना है कि आपने जो कुछ हमसे पाया है हमारी विदाई के साथ-साथ उसे भी आप विदा न कर दे। जो अध्यात्म-तत्त्व आपने सुने, उन्हे भुला नही देना है। उन्हे स्मरण रखते हुए अपने जीवन को उन पर ले चलना है। जो कुछ आपने सीखा, वह केवल कथनी में नही, करणी मे आना चाहिए। वह केवल प्रचारात्मक न होकर आचारात्मक वने, जीवन-व्यवहार को छूनेवाला हो। मैत्री, वन्धुता, समन्वय और समता का अनुवर्त्तन करते हुए सव अपने जीवन को विकासोन्मुख वनाएँ —यही मेरा कहना है।

मेवाडवासियो से मुझे वहुत वडी आशा है। उनका वहुत वडा यूथ है। उनकी भक्ति प्रसिद्ध है। यह मै प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। कितनी वार वे आये, कितने वडे समूह के रूप मे आये, इससे यह स्पष्ट है, उनके हृदय मे भक्ति, स्फूर्ति और सदाकाक्षा का मानो स्रोत वह रहा है। मै मेवाड आ रहा हूँ। मेवाड के लिए यह एक परीक्षा का समय है। मेवाडवासी वास्तव में कुछ करके दिखायेंगे। मेवाडवासियो का एक सगठित समाज है। यदि वे साहस करे तो जीवन-शुद्धि के क्षेत्र में वहुत कुछ कर सकते है। कभी-कभी लगता है कि वे आचार के बदले प्रचार की वृत्ति मे अधिक उलझे हैं। पर उनका कार्य केवल प्रचारात्मक न हो, वे केवल प्रचार में न वह जाये, आचार को जीवन में महत्ता दे। जीवन का मुख्य लक्ष्य आचार-शुद्धि है। जो स्वय आचारशील नही होते, उनका प्रचार लोगो मे क्या असर लाता है कुछ भी नही। आप यह मत समझिए कि केवल प्रचार

से मै खुश हो जाऊँगा। मै चाहता हूँ, व्यक्ति-व्यक्ति का जीवन सदाचार और नैतिकता से मँजा हो, सजा हो। इस ओर आपको आगे बढना है।

गृहस्थ-वर्ग मे प्रचार की कभी भी परम्परा न रही हो, ऐसा तो नही है। हम आगमो मे पढते है—तीर्थंकर आते थे, दुन्दुभि बजती थी, लोगो को जानकारी होती थी। पर जानकारी देने जैसे आवश्यक प्रचार के बदले प्रभाव और प्रदर्शनपूर्ण प्रचार ही जब लक्ष्य बन जाता है तो वह कदापि वाछनीय नही है। उस पर अकुश रहना चाहिए। साधु कही आए-जाए, इस उपलक्ष मे ढोल पीटे जॉय, अनेकानेक आडम्बर किये जॉय, यह कभी शोभनीय नही है, धर्मानुरूप नही है। धर्म आडम्बर मे नही है, वह तो जीवन की साधना मे है, आत्मा को मँजने मे है। अत मै मेवाडवासियो से कहना चाहूँगा कि वे इस सुनहले अवसर का, जो उन्हे मिलने जा रहा है, अधिकाधिक सदुपयोग करेगे। जीवन के अमर तत्त्व को जर्जरित बनानेवाली बुराइयो, रूढियो और परम्पराओ को सामूहिक रूप मे उखाड फेकने को वे उद्यत होगे। उनके बदले वे अपने जीवन मे सरलता, सादगी, समता, सुजनता और मैत्री भाव जैसी भलाइयो को स्थान देकर सही माने मे अपने को सुखमय बनायेंगे। वे सामूहिक रूप मे अच्छा मार्ग ग्रहण करेगे, जीवन-निर्माण का एक ऐसा ढाँचा तैयार करेगे, जो जीवन को सयताचरण का एक नया मोड दे सकेगा। अत मेरा पुन-पुन यही कहना है कि सब आन्तरिक कार्यक्रमो में, अन्तरशुद्धि के उपक्रमो मे अपने को जुटाते हुए जीवन को सयम और सदाचरण के अधिकाधिक निकट ले जाँय। इसी मे उनके प्रयास की सफलता है।

प्रस्थान के उपलक्ष में भक्ति-उद्गार प्रकट करने को उपस्थित मालवीयो तथा आगमन के उपलक्ष मे स्वागत-भाव से उपस्थित मेवाडियो से मै कहूँगा कि अणुव्रत-आन्दोलन जो जन-जागृति का एक ओजपूर्ण सफल कदम है, उसे आप आगे बढावे। स्वय अपने जीवन मे उसे अपनावे, औरो तक उसे पहुँचाने का प्रयास करे ताकि एक ऐसे समाज का सृजन हो, जो चारित्र्य, नीति, न्याय, ईमानदारी और प्रामाणिकता का जीता-जागता प्रतीक हो।

जावद
२० जनवरी '५६

१७ : विद्यार्थी का कर्त्तव्य

विद्यार्थी-अवस्था मानव-जीवन का महत्त्वपूर्ण अग है। यह वह समय है, जबकि व्यक्ति अपने भावी जीवन के लिए अपने को तैयार करता है।

अपने मे उन सद्‌गुणों और सद्‌वृत्तियो को वह भरता है, जो उसे जीवन मे सही माने मे मानवता देते हैं। सचमुच शिक्षा का लक्ष्य तो यही है कि मानव सत्य, सदाचार, विनय, सरलता, मैत्री और वन्धुता जैसे मानवोचित गुणो का अर्जन करे। ये गुण ही मानवता की सच्ची कसौटी है। अन्यथा वह कलेवर से हाड-मास का मानव अवश्य है, गुणो से वह मानव नही। याद रखिए शिक्षा का अभिप्रेत केवल इतना ही नही है कि व्यक्ति रट-रटाकर पुस्तकीय ज्ञान पा ले, अपना तथा अपने परिवार का पेट पालने के योग्य बन जाय। इससे भी ऊँचा उसका लक्ष्य है। और वह है जीवन को समझना, यथार्थ को जानना, उसे पाने की योग्यता लाभ करना। शिक्षा जीवनशोधन का अन्यतम साधन है। आज तो उसका स्तर बिल्कुल छिछला हो चला है। विद्यार्थी जब विद्या-ग्रहण के लिए प्रवेश करने लगता है तव उसके अभिभावक उसके अध्ययन सम्वन्धी निर्वाचन मे सवसे पहले यही सोचते हैं कि किस प्रकार का अध्ययन उसे अधिक से अधिक अर्थ अर्जित करने मे काम देगा और उसी का वे निर्वाचन करते है। खेद का विषय है कि विद्या का भी आज सौदा किया जाने लगा, जो सर्वथा अनुचित है। विद्यार्थी, अभिभावक तथा अध्यापक सवसे मैं कहना चाहूँगा कि इस प्रकार की वहिर्मुखी वृत्ति को वे छोडे। हाँ, सामाजिक जीवन में सामाजिक दृष्टि से अर्थ का भी एक स्थान है, पर वह जीवन का लक्ष्य नही। जहाँ उसे जीवन का लक्ष्य मानकर कोई कार्य किया जाता है, उस कार्य का अन्तस्तत्त्व मुरझा जाता है। अत मैं आप सब से यह कहना चाहूँगा कि विद्या के लक्ष्य को आप नीचे न गिरने दीजिये। विद्यार्थियो से मैं खास तौर से कहूँगा कि वे पुस्तकीय ज्ञान के अतिरिक्त उस सद्‌विवेक को भी अर्जित करने का प्रबल प्रयास करे, जो उन्हे चरित्रशीलता, औदार्य आदि गुणो की ओर ले जाता है।

विद्यार्थी तोड-फोड व विध्वसतामूलक कार्यों मे भाग न ले। वे राजनैतिक सघर्षों और विप्लवो मे अपनी शक्ति, प्रतिभा और समय का दुरुपयोग न करे। उनकी तो यह ज्ञान-साधना व विद्या-आराधना की वेला है, जिसका यदि वे दुरुपयोग करते हैं तो उनकी यह वहुत वड़ी भूल है। अनुशासन, नम्रता, सद्‌व्यवहार, सयत आचरण विद्यार्थी जीवन के वे अमूल्य आभूषण हैं, जिन्हे धारण करना हर विद्यार्थी का सवसे आवश्यक कर्त्तव्य है। मुझे आशा है कि विद्यार्थी इस पर अवश्य गौर करेगे।

जावद
२० जनवरी '५६

१८ : मंगल क्या ?

संसार मे लोग अक्षत, गुड, कुकुम आदि को मगल मानते है, पर वे नही जानते, क्या वास्तविक मगल इनसे हो सकेगा ? मगल का अर्थ है कल्याण, श्रेयस्, दु ख, वेदना और सक्लेश से उन्मुक्ति। तथाकथित उक्त मागलिक वस्तुएँ ऐसा कर सकेगी, क्या यह सम्भव है ? ऐसा मुझे तो नही लगता। इसलिए भगवान् महावीर ने बताया कि चार मगल है। अरिहन्त मगल—जिन्होने राग, द्वेष, कलह, मत्सर आदि समस्त आत्म-शत्रुओ को जीत लिया वे अरिहन्त कहे जाते है, उनसे हमलोग कल्याणकारिणी प्रेरणा ले सकते है। मगल की ओर आगे बढने मे वे हमारे प्रेरणा-प्रदीप है, इसलिए वे मगल है। सिद्ध मंगल—जो आत्मा के समग्र बन्धनो को तोड कर शुद्ध आत्म-स्वरूपात्मक सिद्धि पा चुके है, वे सिद्ध है। वे सब कुछ साध चुके है—सफल कर चुके है। वे तो मंगल का साकार निदर्शन है ही। भगवान के बताये हुए सत्य, अहिंसा आदि महान् व्रतो पर आरूढ होकर जीवन-विकास के मार्ग पर अग्रसर होनेवाले साधु मगल है। अर्थात् मगल की सजीव प्रेरणा हमे मिलती है। इसी प्रकार धर्म आत्म-शुद्धि का साधन, जीवन-शुद्धि का पथ भी मगल है। ये आत्म-विकास की ओर ले जाने वाले है। आत्म-विकास का चरम रूप ही तो वास्तविक मगल है। अत बाह्य पदार्थो मे मंगल की परिकल्पना छोड उसे अन्तरतम की परिशुद्धि मे सम्बन्धित तत्त्वो में ढ ढने का प्रयास कीजिये, अन्वेषण कीजिए।

मानव-जीवन एक अमूल्य रत्न है। उसका वे जितना बन सके अहिंसा, सच्चाई और सयम की आराधना में सदुपयोग करें। इसी मे जीवन की सफलता है, मानवता का सार है। जो व्यक्ति मद्य, चोरी, धोखा, विश्वास-घात जैसे कुव्यसनो में पड अपना जीवन गवाता है उसके जैसा नादान और अज्ञानी कौन होगा ? सब लोगो से मेरा यही कहना है कि वे अपने जीवन को इन बुराइयो के दलदल में पाप-पकिल न बनाये। भलाइयो और सद्वृत्तियो के निर्मल जल से उसका प्रक्षालन करें, उसे स्वच्छ बनाये, उसे सात्त्विक बनाएँ।

यह वह सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक भूमि चित्तौड़ है, जिसने न जाने कितनों का उत्थान और पतन देखा है। इतिहास बताता है कि कितने ही शूर-वीरो के पराक्रम की कहानियाँ व घटनाएँ इसकी उरस्थली पर घटी है।

युग बीत गये, भला या बुरा जो कुछ करनेवाले थे, आज नही रहे; पर उनके जीवन की भलाई या बुराई की अमलता या कलुषता का इतिहास

सजग साक्षी है। यही तो वह विचार है, जिससे व्यक्ति को भलाई की ओर आगे बढने की प्रेरणा लेनी है।

व्यक्ति ससार मे आता है, अपनी जीवन-लीला समाप्त कर न जाने कब यहाँ से कूच कर जाय, इसका कुछ निश्चय नही। सचमुच मानव का जीवन कितना अस्थिर और अशाश्वत है। पर मानव इसे कब समझता है? वह तो अपने को अमर मान इस प्रकार लोभ, लालसा और स्वार्थपरता के कीचड में फँस जाता है कि जीवन का सत्य पक्ष उसे सूझता तक नही। यह उसकी भूल है। उसे अपने जीवन का प्रत्येक क्षण सत्य, शौच, सदाचार, शील, मैत्री, सद्भावना और समता जैसी भली प्रवृत्तियो मे लगाना है। तभी उसका मानव-जीवन पाना सफल है। सदाचार पर प्राणपण से डटे रहने को ही तो मैं सच्ची शूरवीरता मानता हूँ, विश्व के मानव मानव में सच्ची वीरता के ये उदात्त भाव जगें।

जालमपुरा
२२ जनवरी '५६

१६ : सद्वृत्तियों की अधिक आवश्यकता

जीवन मे जितने अन्न, जल व वस्त्र की आवश्यकता है, चारित्र्य, सदाचार और सद्वृत्तियो की उससे भी अधिक आवश्यकता है। सच्चा और वास्तविक जीवन तो इन्ही से बनता है। मानव होकर जिसमे मानवता नही, सदाचार, सत्य और प्रामाणिकता जैसे मानवोचित गुण नही वह कैसा मानव? वह केवल कहने का मानव है। मेरा कहना है कि वह केवल कहने का मानव न रहे, वह सच्चा मानव बने। वह अपने मे मानवपन पनपाए। दुर्विचार और दुश्चर्या से अपने को बचाकर सद्विचार, सत्चर्या मे लगाये।

हमीरगढ़
२६ जनवरी '५६

२० : आत्मानुशासन

लाखो दुर्दान्त शत्रुओ को जीत लिया, उन्हे वशगत बना लिया, पर इससे क्या बना? उसमें सच्ची वीरता कहाँ यदि अपनी आत्मा पर, इन्द्रियो पर, वृत्तियो पर, मानव ने विजय नही पाई, दुराचार और दुष्प्रवृत्तियो में जाते हुए अपने मन पर नियन्त्रण नही किया? सच्ची वीरता तो अपने-

आपको जीतने मे है। अपनी आत्मा ही सबसे बडा शत्रु है यदि वह दुष्प्रवृत्त है। और वह सबसे बडा मित्र है यदि वह सत्प्रयुक्त है। जिसने अपने को जीता, उसने सबको जीता। आज हम देखते है, मानव कितना बलहीन हो गया है। कोई उसे एक गाली देता है तो वह जब तक उसे दस गालियाँ न दे ले, उसका जी नही भरता। सहनशीलता और धीरज की कितनी बडी कमी उसमे है। इसलिए मै जोर देकर कहता हूँ कि सबसे पहले मनुष्य आत्मविजेता बने। अपनी प्रवृत्तियो पर सयमन करे। यही वह मार्ग है, जिससे मानव अपने जीवन मे सच्ची शान्ति, सुख और सन्तुष्टि पा सकता है।

विद्यार्थियो से मै कहूँगा—यह उनके जीवन का बहुमूल्य समय है, जिसमे उन्हें उन सद्‌गुणो का सचय करना है, जिससे आगे चलकर वे सात्त्विक और उन्नत जीवन के धनी बन सके। यदि अभी से ही वे अपने-आपको आत्मानुशासन, मनोनिग्रह और चारित्रिक दृढता के ढाँचे में ढालेंगे तो वे स्वय अनुभव करेंगे कि कितनी सरसता वे अपने जीवन मे पा रहे है।

ग्रन्थो के ग्रन्थ रट डाले, बडी-बडी उपाधियाँ पा ली पर यदि जीवन में चरित्रशीलता नही आई तो यह सारा ज्ञान बैल की पीठ पर लदे उन पुस्तको के बोरो जैसा है, जिनका उसके लिए कोई उपयोग नही है। विद्यार्थियो को जीवन मे जो सबसे बडी चीज प्राप्त करनी है, वह है चरित्रशीलता, जीवन में सत्य और अहिसा के प्रति सजग निष्ठा, जीवन-व्यवहार में उनका समारोप। मै चाहूँगा कि विद्यार्थी इसके लिए जागरूक रहे। वे पल-पल अपने जीवन को टटोलते रहें कि कही चरित्रहीनता के विषैले कीटाणु तो उनके जीवन में प्रवेश नही पा रहे है। त्याग, सरलता, सादगी, विनय, शालीनता व सद्व्यवहार से विद्यार्थियो का जीवन सजा हो, मै यही चाहता हूँ। मुझे आशा है कि विद्यार्थी इस पर मनन करेगे, सोचेंगे। क्या समाज और क्या राष्ट्र, विद्यार्थियो के सच्चे विकास पर ही तो उनकी उन्नति निर्भर है।

अध्यापको पर कितना भारी उत्तरदायित्व है, यह किसी से छिपा नही है। उनका जीवन विद्यार्थियो के लिए एक मूर्त प्रेरणा का स्रोत है। अध्यापक क्या कहते है, इसको नही, वे क्या करते है—विद्यार्थी इसको आँकते है। अध्यापको के जीवन की सात्त्विकता विद्यार्थियो पर जैसा प्रभाव डालती है। उनके लम्बे-लम्बे पाण्डित्यपूर्ण भाषण वैसा असर नही करते, यदि उनका जीवन तदनुकूल नही है। इसलिये अध्यापको को विशेषत अपने आपको टटोलना है। मै उनसे एक ही बात कहूँगा कि वे अनुस्रोतगामी न बने, प्रतिस्रोतगामी बने। ससार के चालू प्रवाह मे जिसमें जीवन के वास्तविक

मूल्य आज डूबे जा रहे हैं, वे न बहे। चालू प्रवाह मे जोर ही क्या पडता है? तुच्छ तिनका भी तो बहता है। जोर तो प्रतिकूल प्रवाह मे बहने से पडता है। असत्य, अनीति और अनाचरण का आज बोलवाला है, उनके बहाव मे बहना क्या कठिन है? कठिन तो सत्य, नीति और सदाचरण के प्रतिस्रोत मे बहना है।

मुझे आशा है, अध्यापक इस तथ्य पर गौर करेगे।

अजमेर
(मेयो कॉलेज)

२१ : संघ का अनुशासन

स्वामीजी का गण एक नीतिमान गण है। इसकी महान् शक्ति का मूल आस्था है। तत्त्व यह है कि एक आचार्य की दृष्टि मे सबको सन्तोष है। जो कार्य आस्था से बनने का होता है, वह तर्क की धारा से नही बनता। इसलिए आचार्य भिक्षु ने लिखा है **"श्रद्धा का, आचार का या कल्प का कोई नया बोल निकले वह समझ में आये तो समझे। अगर समझ में आये तो आचार्य पर छोड़ दे। खींचातानी ठीक नही।"**

सहज प्रश्न होता है—आत्मा को सन्तोष न हो तब कैसे बने? यह ठीक है कि आत्म-सतोष होना चाहिए। स्वामी जी ने जो मार्ग दिखाया है और मै जिस मार्ग की ओर सकेत कर रहा हूँ, वह आत्म-सतोष का ही मार्ग है। साधको के लिए समझ गौण है, श्रद्धा मुख्य। अतीत मे ऐसे अनेक प्रश्न आये, जो हमारे सन्मार्गी, न्यायी, विवेकी और गुण के हितेच्छु साधुओ द्वारा सुलझाए गए और आज भी सुलझाए जाते है। मै नही कह सकता वे सबकी समझ मे आये है, सबके ज्ञान मे आये है किन्तु मै कह सकता हूँ कि वे सबकी श्रद्धा में आये है।

इन दिनो कई बोल चले, सिद्धान्त के आधार पर चले। लोग जानते है कि बोल चल रहे हैं। क्या चले, यह जानने को लोग इच्छुक है। मुझे भी उन्हे छिपाना नही है। जो सबके सामने रखना है, वह रखना ही चाहिए।

कुछेक बातो को लेकर कुछेक लोग व्यर्थ का बवडर खडा करते है। मै उन्हें सावधान किये देता हूँ कि वे किसी भुलावे मे न आएँ। भिक्षु-शासन के साधु विनयी, श्रद्धालु, आचारी, भक्त और आत्म-भीरु है। उनमें श्रद्धा का महान् गुण है। पुराने लोगो में तो इतनी बलवती श्रद्धा है कि नयो को उनसे वर्षो तक सीखनी है।

कई वेसमझ लोग बेबुनियादी बाते करते हैं—अमुक साध अनशन कर देगे, यह कर देगे, वह कर देगे, आदि-आदि। मैं नही समझता कि क्या अनशन कोई तमाशा है। अनशन हुए हैं और होगे। शासन ने उन्हे सहयोग दिया है और देगा। किन्तु कुछ बात ध्यान मे न आये तब अनशन कर दे, यह बात भिक्षु शासन मे होने की नही है। कोई ऐसा सपना ही न ले। जब नीति मे विश्वास है, तब अनशन करना गलत है। स्वामी जी ने अनशन की व्यवस्था की है, पर उस हालत मे जबकि **"कदाच टोला मांहे दोष सरधै तो टोला मांहे रहणो नहीं। एकलो होय नै संलेखना करणी।"**

इधर कई वातो पर विचार-मथन चल रहा है। जिनके कुछ विचार थे, उन्होने अपने विचार रखे। मैने सबके विचार सुने और स्पष्टीकरण भी किये। वे सबके ध्यान मे आ ही जायें या आ ही गये, यह मैं नहीं कह सकता, चेष्टा यही है कि आ जाये। श्रद्धा मे अवश्य आये हैं, इसमें कोई सन्देह नही।

कई विषय चर्चित रहे। उनमे लोकगम्य सिर्फ दो-चार बाते हैं बाकी के विषय गहरे हैं। जो सरल बाते हैं और जिनके बारे मे लोग जानने को उत्सुक हैं, उनमे पहली चीज है लाउड-स्पीकर। गृहस्थ अपनी आवश्यकता के लिए साधुओ के सामने लाउड स्पीकर का प्रयोग करे, यह उनकी अपनी इच्छा है। साधुओ की इसमे किंचित् भी प्रेरणा या भावना नही होनी चाहिए। प्रेरणा हो तो साधु को दोष लगे। साधु मन, वचन और शरीर से उसमे शामिल न हो तो उसे दोष नही लगता। अब रही बात उसके निषेध की। निषेध करना चाहिए या नही, यह तो अवसर पर निर्भर है। प्रश्न यह है कि निषेध करना जरूरी है क्या? निषेध न करे तो दोष लगे, यह सिद्धान्त नही है। श्रावको को भी चाहिये कि वे व्यर्थ की हिंसा से बचे।

पारमार्थिक शिक्षण सस्था के वारे मे मैं क्या कहूँ। इससे हमारा वही सम्वन्ध है जो श्रावक सघ से है। दीक्षार्थियो की परीक्षा हम पहले ही से करते थे और अब भी करते हैं। दीक्षा सस्था मे नही रहने वालों की भी होती है और रहनेवालो की भी। सस्था में कोई दीक्षार्थी रहे या न रहे, हमे उससे कोई सरोकार नही। और क्या श्रावक सस्था चलायें तो उनकी इच्छा न चलायें तो उनकी इच्छा। हमसे सम्वन्ध जोडने की जरूरत ही क्या?

अणुव्रती सघ के वारे मे भी कुछ वताऊँ। यह सघ त्याग और नियमो का सघ है। इसकी निरवद्य प्रवृत्तियो का सचालन मेरे जिम्मे है। अणुव्रत समिति की प्रचारात्मक प्रवृत्तियाँ मेरी प्रेरणा से नही चलती और न उनसे

मेरा कोई सम्बन्ध है। गृहस्थो को भी साधुओ के समक्ष सावद्य बाते नही चलानी चाहिएँ।

जुगुप्सनीय कुल की बस्ती मे, जहाँ हाड-मास आदि घृणित वस्तुएँ बिखरी हुई न हो, वहाँ व्याख्यान देने मे कोई आपत्ति नही है। वाद-विवाद बढाने की प्रवृत्ति नही होनी चाहिए।

साधुओ के फोटो लेने की प्रथा ठीक नही। साधु फोटो खिचाने मे तत्पर न हो तो साधु को दोष नही लगता। फिर भी साधुओ को इसके निषेध की परिपाटी रखनी चाहिए। यह उचित है।

स्वामी जी ने गृहस्थ को 'सदेशा' देने की मनाही की है। यहा 'सदेशा' का अर्थ समाचार है। साधु को गृहस्थ के द्वारा समाचार नही पहुँचाने चाहिएँ जैसा कि उन्होने लिखा है

"गृहस्थ साथ कहै सदेशो, तो भेलो हुवै संभोगजी।
तिणनें साधु किम सरधीजै, लाग्यो जोगनें रोगजी।।
समाचार विवरा सुधि कहि कहि, सानी कर गृहस्थ बुलायजी।
कागद लिखावै कहि आमना, पर हाथ देवै चलायजी।।

वर्तमान मे जो सन्देश दिया जाता है, उसका मतलब समाचार नही है। वह धर्मोपदेश या धार्मिक विचार है। हमारे विचार जो व्यक्ति जानना चाहते है, उन्हे या उनके द्वारा प्रेरित अन्य व्यक्ति को हम बताते है। और यह बताना बिल्कुल सही है—निरवद्य है।

धारण-प्रणाली अनुश्रुति के अनुसार स्वामी जी के समय से चली आ रही है। जयाचार्य के समय मे भी चालू थी। यह परम्परा से पुष्ट और शास्त्र से प्रमाणित है। मुझे भी निरवद्य लगती है। इसी के आधार पर चालू की गई नवीन धारणा-प्रणाली भी निरवद्य है। दोनो निषेधात्मक है, फर्क सिर्फ इतना-सा है—पुरानी मे स्थानान्तर है और नई मे पुरुषान्तर। किसी को दोनो सावद्य लगे और किसी को पुरानी निरवद्य और नवीन सावद्य लगे तो? इसीलिए स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। आचार्य को सावद्य नही लगती, वह सावद्य नही है। सिद्धान्त सामने है—दो साधु दोष सेवन कर आए। उनमे एक प्रायश्चित लेता है, दूसरा स्वीकार ही नही करता। उस दशा मे आचार्य क्या करे? स्वीकार हो, उसे प्रायश्चित दे और जो स्वीकार न करे, उसे दण्ड नही दे सकते। सन्देह हो तो सघसे पृथक् कर सकते है। विश्वास होने पर सघ मे रखे तो दूसरा उसे साधु ही समझेगा। कारण साफ है—आचार्य पर उसकी श्रद्धा है इसलिए। इसमे जबर्दस्ती नही कि जो बात अपनी बुद्धि में सावद्य जँचे, उसे बलात् निरवद्य माननी पड़े। किन्तु अपनी बुद्धि को छोड जहाँ श्रद्धा पर चलना होता है वहाँ

ऐसा होता है। टीकमचन्दजी छाजेड ने मघवागणी से कहा कि मैं अमुक को असाधु नही कह सकता। लोग मुझसे पूछते है कि तुम अमुक को क्या समझते हो, तब मैं क्या कहूँ? मघवागणी ने कहा—"जो महाराज समझते हैं, वही मैं भी समझता हूँ।" उन्होने वही किया। सारी समस्या टल गई।

कोई किसी को समझा सके या न समझा सके सीधा उत्तर यह है कि हम इनमे वही मानते है, जो आचार्य मानते है।

मैं कह आया हूँ कि नई धारणा प्रणाली भी निरवद्य है। फिर भी उसे निरवद्य समझता हुआ भी मैं कम से कम छ: मास के लिए स्थगित करता हूँ। इसके दो कारण हैं—आत्म-सन्तोष और चिन्तन। मैं चाहता हूँ कि प्रत्येक को आत्म-सन्तोप मिले और अन्तरवर्ती काल में चिन्तन-मन्थन का भी मौका मिले।

स्वामी जी ने गृहस्थ को पन्ना देने का उस हालत मे निषेध किया है, जब कि गृहस्थ साधु के पन्ने से देख कर सीधा लिखे। जैसा कि उन्होने लिखा है

गृहस्थ नें लिखावै बोल थोकड़ा, आप तणो पानो दै उतारण ताय कै।
ते उतारे छै पानो देखनै, इण दोष री विकला नें खबर न कायकै।।
पहले करण लिख्या मे पाप छै, तो लिखाया हुसी निश्चय पाप कै।
तिण मे निन्हव जाणै धर्म छै, त्यां जिन वचन दिया छै उथापकै।।

यहाँ स्वामी जी ने गृहस्थ साधु के पन्ने से सीख कर लिखा, उस हालत मे पन्ना दिये जाने पर दोष नही बताया है। गृहस्थ साधु के पन्ने से सीधा लिखने के लिए वह ले और साधु उसे दे, उसे सदोष कार्य बताया है। गृहस्थ साधु के पास से लिखने के लिए पन्ना नही लेता, वह सीखने के लिए लेता है। सीखने के बाद लिखता है, यह उसकी सुविधा है।

मैं गृहस्थो को चेतावनी देता हूँ कि वे साधुओ की पचायत करने की व्यर्थ चेष्टा न करें। हमारे विनयी, उन्नत, श्रद्धालु और अनुशासित साधु-समाज को इसकी कोई अपेक्षा नही है।

साधु-समाज की नीति शुद्ध है, उद्देश्य शुद्ध है। क्रिया में कोई भूल हो सकती है फिर भी लक्ष्य गलत नही है। भिक्षु शासन की उन्नति की रीढ यही है कि सब साधु गुरु के एक शब्द पर झूमते है, नाना प्रकार के कष्ट सहते हैं, जीवन झोक देते है। परम प्रसन्न और परम सुखी हैं। सतोप नही तव सुख कैसे? फिर भूल! सतोष हो गया। गुरु की वाणी पर इन्हें सतोष है। कहना इनका काम है, सुनना मेरा। ये कहते रहेंगे, मैं सुनता रहूँगा। कहनेवाले थकेंगे, मैं नही थकूंगा।

दस दिन तक बोल चले। रात को नीद 'खोटी' की। 'खोटी' नही 'चोखी' की। स्वामी जी समूची रात गालते थे। हमने दो-दो तीन-तीन घण्टे गाले, इसमे क्या बात है। ठीक है शरीर की वैसी मजबूती नहीं किन्तु रजपूती तो वही है। मुझे कोई भार नही, प्रसन्नता है। पूछने की जो स्वतन्त्रता स्वामी जी ने दी है, वह छीनी नही जा सकती और न मैं उसे छीनना ही चाहता हूँ। अनुशासन का ध्यान सबको रखना चाहिए भी और उसे मैं भी ढीला नही कर सकता। यह गण के हित के लिए है। गण और गणी का एक सम्बन्ध है। गण से गणी आगे है। गणी के दिल मे गण के साधु के प्रति अन्य भावना हो ही नही सकती। हो जाय तो फिर बस ही समझो।

अब मैं कुछ श्रावक-समाज से भी कह दूं—आचार्य का अनुशासन जैसा साधुओ पर है—वैसा ही श्रावको पर। श्रावक-समाज का प्रत्येक धार्मिक कार्य गुरु की दृष्टि से होता है। वे दृष्टि से दूर नही हो सकते।

चाहे कोई किसी भी सम्प्रदाय मे विश्वास करता हो, किसी भी जाति या कौम का हो, नैतिकता और सदाचार उसके लिए समान रूप से आवश्यक है। इसके बिना जीवन शान्ति के साथ कैसे चल सकता है? अणुव्रत आन्दोलन लोक-जीवन मे व्यापक रूप से नैतिकता और सदाचार को परिव्याप्त करना चाहता है। यह किसी भी तरह की सकीर्णता से जुड़ा नही है। यह तो मानव-धर्म का विशाल राजपथ है, जिस पर चलता हुआ मानव-समुदाय जीवन-शुद्धि की मजिल आसानी से तय कर सके।

अणुव्रत-आन्दोलन शोषण और परिग्रह के मूल पर प्रहार करता है। आज मानव का दृष्टिवेध पैसा बन गया है इसे वह बदलना चाहता है, एक नया मोड देना चाहता है। पैसे के बदले अपरिग्रह, सन्तोष और सयम की महत्ता मानी जाये, ऐसा वातावरण यह बनाना चाहता है।

शान्ति लाने के नाम पर हिंसा को खुलकर प्रश्रय दिया गया, अनेको विषैले विध्वंसकारी अस्त्र-शस्त्रो की सृष्टि हुई, लोमहर्षक नर-सहार हुआ, पर शान्ति नही आयी, उल्टी अशान्ति बढी, पारस्परिक विद्वेष पनपा, एक दूसरे को निगल जाने की भावना जागी। खेद है, यह सब हुआ शान्ति के नाम पर। मैं दावे के साथ कह सकता हूँ—जितना सहारा हिंसा को मिला, यदि अहिंसा को मिल जाता तो क्या से क्या हो जाता। आज भी मेरा कहना है कि अहिंसा को जितना अधिक प्रश्रय मिलेगा ससार उतना ही अधिक उलझनो से छुटकारा पायेगा। अणुव्रत-आन्दोलन का यह घोष है कि व्यक्ति के जीवन में अधिकाधिक अहिंसा की प्रतिष्ठा हो। आपसी मैत्री और बन्धुत्व भाव जगे, द्रोह और वैमनस्य दूर हो। मुझे यह प्रकट

करते प्रसन्नता है कि लोगो ने इसके अन्तरतम को समझा है और वे समझ रहे है, भारत के दूर-दूर के प्रदेशो की यात्राओ मे मैंने यह स्वय अनुभव किया है।

आज मर्यादा-महोत्सव का दिन है। हमारा सघ मर्यादा की शृङ्खला मे प्रतिष्ठित है। उसमे जो सबसे वडी विशेपता है वह है आज्ञा की। यह सर्व विदित है कि वही सघ, वही सगठन वलवान् होता है जो आज्ञा-प्रधान होता है। आज्ञाप्रधान सघ ही, संघ कहलाता है। आज्ञा-शून्य सघ, सघ नही, सिर्फ हड्डियो का ढेर है। हमारा सघ हड्डियो के ढेर का सघ नही, वह विचारकों का सघ है। हमारे लिए यह महान् गौरव का विषय है कि महामहिम आचार्य भिक्षु ने आज के दिन अन्तिम मर्यादाओ का संकलन कर इस सघ को आज्ञा-प्रधान वनाया। वे महापुरुप थे। उन जैसे महापुरुष इस धरातल पर कभी-कभी ही अवतरित हुआ करते है। आचार्य भिक्षु ऐसे हुए, वैसे हुए, उन्होने यह किया, वह किया, केवल ऐसी आवाज लगाने मे गौरव की वात नही, गौरव की बात तो इसमे है कि हम उनके जीवन-चरित्र से शिक्षा ग्रहण करे। हमारे हृदय मे ऐसी प्रेरणा जाग्रत रहे कि हम भी अपने जीवन को उनके जीवन जैसा वनाने के लिए हर पल उद्योगशील रहे। हममे भी वैसा आत्म-बल, वैसी आत्म-निष्ठा और वैसी आत्म-साधना जाग्रत रहे। आचार्य भिक्षु ने जो मर्यादाएँ बनाई उनमे परिवर्तन की कभी आवश्यकता ही नही पडी। मर्यादाये बनी, परि-वर्तन नही किया गया, इस बात का गौरव नही, गौरव इस बात का है कि परिवर्तन की कभी आवश्यकता ही नही पडी। आचार्य भिक्षु ने सघ का विधान वनाया इसका गौरव नही, गौरव इस बात का है कि आज सैकडो विधान-विशेषज्ञ मिलकर भी ऐसा विधान बनाने मे अपने आपको असमर्थ महसूस करते है, जो चिरस्थायी वन सके। आज के दिन आचार्य भिक्षु ने सघ विधान की रचना की और तात्कालिक उनके साथी साधुओ ने विधान के लिए स्वीकृति प्रदान की। इसके साथ ही साथ समस्त सघ मर्यादाओ की कुँजी भी आचार्य के हाथ में सौपी गई। शास्त्रीय मर्यादाओ के अति-रिक्त संघीय मर्यादाएँ वर्त्तमान आचार्य के हाथ में है। उनमे परिवर्तन व परिवर्धन करने का उन्हे पूर्ण अधिकार है। मै सोचता हूँ तो मुझे लगता है कि ऐसे जीवन का क्या महत्व है, जो मर्यादाहीन हो। मर्यादाहीन जीवन में कोई आकर्षण नही होता। वही जीवन महत्त्वपूर्ण और आकर्षक होता है जो मर्यादित होता है। मर्यादा मे रहनेवाला पानी जहाँ खुद आकर्षक होता है वहाँ कितनी शस्य-सम्पत्ति को भी निष्पन्न करता है। जो वाह्य मर्यादाओ को तोड गिराते है, वे जहाँ अपना आकर्षण खो बैठते है,

वहाँ दूसरो के लिए भी वडे घातक और विध्वंसक बन बैठते है। यही बात मर्यादाहीन और मर्यादायुक्त जीवन के लिये लागू होती है। लोग सम्भवत सोचते होगे कि आज के दिन मे ऐसा क्या आकर्पण? तो इस प्रश्न का उत्तर यही है कि अगर इस दिन मे कोई आकर्पण नही होता तो आज हजारो की सख्या मे लोग यहाँ क्यो इकट्ठे होते? लोग समझें, आज मर्यादा का दिन है। हम एक सघ मे है और सघ में आज्ञा की प्रधानता होती है। जो आज्ञायुक्त होता है, वही संघ होता है। अतएव हर एक मनुष्य के लिए मर्यादा मे रहना आवश्यक है। मर्यादा लाघने से महान् अनर्थ होता है। अत. जो भी मर्यादाएं हमारे सघ के लिए वनाई गई है, हमें सजीवता के साथ उनका पालन करना चाहिए।

संगठन का आधार

मर्यादा मे सगठन होता है पर हमारी मर्यादा सिर्फ सगठन-प्रधान नही, आचार-प्रधान है। संगठन यहाँ गौण और आचार प्रधान है। मेरी दृष्टि में वह सगठन इतना मजबूत, चिरस्थायी और विशुद्ध नही जहाँ केवल संगठन को ही मुख्यता दी जाती है। आचार की सुव्यवस्थित शृङ्खला मे जकडा रहने वाला सगठन ही वास्तव मे मजबूत, दीर्घकालिक और विशुद्ध सगठन होता है। सगठन का आधार प्रेम होता है और प्रेम का आवार विशुद्ध आचार। हमारे सघ मे प्रेम और विशुद्ध आचार दोनो हैं और इन दोनो का ही मार्ग विशुद्ध अहिंसा का मार्ग है।

शिष्य-परम्परा के लिये जिहाद

साधु-सस्था किन कारणो से शिथिल पडती है, इस वात का आचार्य भिक्षु को तलस्पर्शी ज्ञान था। उन्होने मर्यादाओ का निर्माण करते समय विधान-पत्र मे उनका उद्देश्य बतलाते हुए लिखा है—**"इन मर्यादाओं का निर्माण इसलिए किया जाता है कि साधु-साध्वी शिष्यादि के लोभ से निवृत्त हो विशुद्ध चरित्र पालें तथा विनय-अनुशासन की परम्परा को सदा उज्ज्वल बनाए रखें।"** आचार्य भिक्षु ने शिष्य-प्रथा को समाप्त कर हमारे सघ की नीव को अत्यन्त मजबूत वना दिया। आचार्य भिक्षु शिष्य-प्रथा के विरोधी थे। इसको वे सगठन के लिए भयकर खतरा समझते थे। उन्होने तात्कालिक स्थितियो मे यह अनुभव किया था कि साधुओ में शिष्यो की बडी भूख है। वे इसी कार्य मे व्यस्त रहते हैं। योग्य या अयोग्य जो कोई मिले उसे मूड-मूडकर जहाँ साधु-सघ की प्रतिष्ठा को धूलधूसरित कर रहे हैं

वहाँ सगठन के भी टुकड़े-टुकड़े कर रहे हैं। परिणामत. साधुओ की भिन्न-भिन्न टोलियाँ स्व-हित और लोक-हित के कल्याणकारी अनुष्ठान को भूलकर पारस्परिक स्पर्धा और वैमनस्य में ही अपनी-अपनी शक्ति को विनष्ट करने लग जाती हैं। यही कारण था कि आचार्य भिक्षु ने विशुद्ध चरित्र और विनयमूल धर्म की रक्षा के लिए विधान की सर्वप्रथम धारा यही बतलाई: **"साधु-साध्वी करणा ते भारमलजी रे नामे करणा, आपरे नामे चेला-चेली करणा रा सर्व साधु-साध्वां रे पचक्खाण छै"**—अर्थात् किसी को दीक्षित करना तो केवल गुरु के नाम से ही करना, अपने पृथक्-पृथक् शिष्य करने का सबको प्रत्याख्यान है।

आचार का फल

यह मै पहले ही कह आया हूँ कि आचार्य भिक्षु की दृष्टि में सगठन का उतना महत्त्व नही था जितना चरित्र का। चरित्र अगर अस्खलित रहेगा तो संगठन अपने-आप उसके पीछे आयेगा। उनकी दृष्टि में सगठन के पीछे चरित्र नही बल्कि चरित्र के पीछे संगठन था। जब पूछा गया—"भीखन जी! आपका मार्ग कब तक चलेगा?" तो उन्होने दृढतापूर्वक उत्तर दिया, **"जब तक हमारे साधु-सन्तों में मठ, स्थान, स्थल बनाने की प्रवृत्ति नहीं होगी, वस्त्र आदि की मर्यादा का वे उल्लंघन नहीं करेंगे और जब तक वे श्रद्धा, आचार और शुद्ध नीति में दृढ़ रहेंगे तबतक यह मार्ग विशुद्ध रूप से चलता रहेगा।"** स्वामी जी के ये अमर उद्गार जहाँ आचार की महत्ता को व्यक्त करते है वहाँ हमें दृढ रहने के लिए सदैव प्रेरित करते रहते हैं। स्वामी जी की जीवन-चर्या को याद कर मेरा रोम-रोम पुलकित हो उठता है। मुझसे जब कोई पूछता है—"महाराज! क्या धर्म में प्रकाश होनेवाला है?' तो मेरे मुंह से अनायास ही यह निकल पडता है कि मुझे तो धर्म में प्रकाश ही प्रकाश दिखाई पड़ रहा है। इसका एकमात्र कारण स्वामी जी की आचार-निष्ठा और विश्वास का बल है।

चरित्र ही जीवन है

आचार्य भिक्षु एक निर्भीक वक्ता थे। आचार को वे सर्वस्व, प्राण और निधि समझते थे। उनसे कोई कहता कि आप साधु-साधु सब एक साथ मिल क्यों नही जाते? तो वे निर्भीकता पूर्वक अपना मन्तव्य प्रकाशित करते और कहते:

"कहो साधु किसका सगाजी, तड़के तोड़े नेह,
आचारी स्यूं हिलमिल रहे जी, अनाचारी स्यूं छेह"

साधुओ का किसके साथ सम्बन्ध है? आचारियो के साथ हमारा सम्बन्ध है और अनाचारियो से हमारा कोई सम्बन्ध नही। अचारहीन चाहे कितने ही विद्वान क्यो न हो पर हमारा उनके साथ कोई सम्बन्ध नही हो सकता। वर्तमान मे कुछ लोगो के दिमाग में यह विचार भी चक्कर काटता रहता है—"आजकल तो अच्छे-अच्छे साधु सघ से बाहर हो रहे है!" मैं समझ नही पाता, अच्छा वे किसे समझते है। अच्छे की परिभाषा क्या है? क्या अमुक साधु अच्छा इसलिए समझा जाता है कि वह कपडे बड़े अच्छे पहनता है या माग कर भोजन लाने में बडा होशियार है अथवा बडा अच्छा लेखक या वक्ता है? साधु के अच्छा होने का इन सब बातों से इतना सम्बन्ध नही जितना आचार से है। आचारवान् साधु ही अच्छा साधु होता है। आचारयुक्त, निष्कलंक जो होगा वह न तो सघ से निकलेगा और न उसे सघ से निकलने के लिए बाध्य ही किया जायगा। लेकिन जो आचारहीन, मर्यादाहीन होगे वे निकलेंगे अथवा निकाल दिये जायेंगे। उनकी कोई चिन्ता नही होनी चाहिए। यह चिन्ता की बात है ही नही। चाहे पीछे कितने ही रहे, अगर पीछे रहनेवाले थोडे होकर भी आचारवान् है तो कोई चिन्ता की बात नही। आचारवान् थोडे से भी अपार शक्ति और आकर्षण के केन्द्र होते हैं। आचारभ्रष्ट बहुत से होकर भी निकम्मे और निष्प्रयोजन हैं। वे न अपना उद्धार करने मे समर्थ हो सकते है और न औरो का उद्धार करने में ही। पतित से कोई पावन नही बन सकता। पावन, पावन से ही बन सकता है। संघ में एक भी पतित, आचारभ्रष्ट तथा शिथिलाचारी का रहना किसी काम का नही। सबको स्मरण होना चाहिए कि आचार्य भिक्षु के अन्य १२ साथियो में से घटते-घटते अन्त में ६ साथी ही रह गये थे। साध्वियाँ उस वक्त थी ही कहाँ? जो रहे वे बड़े आचारकुशल थे। उसीका ही तो परिणाम है कि आज उन सात की जगह ७०० के आसपास साधु-साध्वियाँ सघ में विद्यमान है। अतएव प्रारम्भ से हमारा जो मन्तव्य रहा है वह मन्तव्य आज भी अक्षुण्ण रूप से चला आ रहा है। वह है—"**आचार की महत्ता**"।

संगठन आचार-प्रधान हो

आचार को महत्त्व देना हमारा प्रमुख काम है। आज का युग सगठन का युग है। सगठन की चर्चाएँ आजकल दिन-रात जगह-जगह पर सुनी जाती है। हमारे सामने भी समय-समय पर संगठन की आवाज लगती रहती है। लोग हमें सगठन-प्रेमी समझते हैं; वस्तुत. हम सगठन व एकता के अनन्य प्रेमी हैं। हम एकता चाहते हैं। सबमें परस्पर प्रेम हो,

अप्रेम न रहे, सबमें एकता हो, अनेकता न रहे—इससे सहमत हैं पर एक बात जरूर है कि हम यह मानते हैं कि एकता और सगठन का आधार आचार होना चाहिए। जहाँ आचार में मजबूती और दढता नही है वहाँ संगठन की नीव रखने का हम समर्थन नही कर सकते। मैं पहले ही कह आया हूँ, हमारी दृष्टि में आचार प्रधान है न कि सगठन।

विधान-पत्र के सम्बन्ध मे

अब मुझे स्वामी जी द्वारा निर्मित विधान-पत्र के विषय मे प्रकाश डालना है। स्वामी जी ने एक प्रथम और एक अन्तिम दो सघ-विधान-पत्र लिखे। दोनों मे अक्षर-अक्षर स्वामी जी के हाथ के लिखे हुए हैं। प्रथम विधानपत्र विक्रम सं० १८३२ का है और अन्तिम विधान-पत्र विक्रम सं० १८५९ का है। १८३२ से पहले स्वामी जी ने सघ में किसी सघीय मर्यादा विशेष का निर्माण नही किया था। प्रथम विधान-पत्र में साधुओ के हस्ताक्षर हैं। उनसे प्रतीत होता है कि आप उक्त समय तक १३ से ७ की सख्या में ही रह गये। अन्तिम विधान-पत्र पर २० साधुओ के हस्ताक्षर हैं। ये दोनो विधान-पत्र हमारे लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और हमारी सघ-शक्ति के लिए ये अमूल्य निधियाँ हैं। हमारी समूची शक्ति इन दोनो में निहित है। हमारा गौरवपूर्ण इतिहास इन दोनो में सुरक्षित है और सदैव सुरक्षित रहेगा। दोनो पत्रो मे प्राय एक समान धाराएँ हैं। जो धाराए प्रथम पत्र में हैं प्राय वे-की-वे अन्तिम पत्र में दुहराई गई हैं। कुछ मुख्य धाराएँ इस प्रकार हैं .

१—अब से संघ में एक आचार्य हमारे सघ के प्रमुख रहेंगे।

२—समूचा संघ एक आचार्य के अनुशासन में अनुशासित रहेगा।

३—सारे चेला-चेली एक आचार्य के शिष्य होगे। आचार्य की अनुमति के बिना कोई भी किसी को दीक्षित नही कर सकेगा।

४—वर्तमान आचार्य ही अपने उत्तराधिकारी का चुनाव करेंगे। वे जिस पर शासन का भार सौंपें, सारे सघ का कर्त्तव्य होगा कि वह बिना किसी प्रकार की आनाकानी किये निष्ठापूर्वक उसके अनुशासन को शिरोधार्य करके चले।

५—सघ से बहिष्कृत या बहिर्भूत व्यक्ति के साथ सम्बन्ध न रखें।

६—किसी में दोष देखे तो उसे न तो छिपाये और न उसका अन्यत्र प्रचार करे। दोष-दोषी को बतलाये या फिर गुरु को सूचित करे। किसी कारण से दोष को पहले न कहकर जो बाद में उसका प्रकाशन करेगा वास्तव मे वही दोष का भागी होगा। अगर दोषी दोष स्वीकार करे तो उसे दण्ड

दिया जाय, न करे तो उतना दण्ड उस व्यक्ति को देना चाहिए जो वर्तमान के दोष को भविष्य में कहे।

७—सघ के वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि पर सघ का सर्वाधिकार है। आचार्य की आज्ञा से ही उनका उपयोग किया जा सकता है। सघ से सम्बन्ध-विच्छेद होते समय उन्हे अपने साथ मे ले जाने का किसी को भी अधिकार नही है। अस्तु।

उज्ज्वलता का प्रतीक

ये धारायें हमारे संघ के उज्ज्वल भूत, उज्ज्वल वर्तमान व उज्ज्वल भविष्य की प्रतीक है। इनके प्रति हमारी जितनी निष्ठा हो उतनी ही हमारे रम्य व विकसित जीवन की ये परिचायक हैं। ये मर्यादाए हमारे जीवन है, सर्वस्व हैं, निधि है। इनके प्रति हमारी जो निष्ठा है, उसे हम सहस्रगुणी अधिक बढाते हुए इन्हे सदैव अस्खलित रूप से निभाते रहे।

मर्यादा का प्रतीक

मर्यादा का जीवन क्या साधु और क्या गृहस्थ, सबके लिए उपयोगी है। गृहस्थ समाज को धार्मिक मर्यादाओ मे प्रतिष्ठित करने के लिए अणुव्रती सघ की स्थापना की गई है। अणुव्रत-योजना मानव के असयमित जीवन को सयमित बनाकर मानवीय-आदर्श का एक महानतम सन्तुलन उपस्थित करती है। आज मैं गृहस्थ समाज को आमन्त्रित करना चाहूँगा कि वे अगर जीवन को मर्यादित बनाना चाहते है तो अणुव्रत के राजमार्ग पर अग्रसर हो।

२२ : ऐक्य, अनुशासन एवं संगठन का प्रतीक

ससार मे समारोह बहुत होते है, पर आज के युग में जबकि मर्यादा-विहीनता बढती जा रही है ऐसे समारोह की बहुत बडी अपेक्षा व आवश्यकता है, जिससे जीवन में मर्यादा की प्रभावना हो , क्योकि मर्यादा मानव के विकास को बाँधती नही, उसे वास्तविक गति देती है। आजादी के बाद लोग ऐसा समझने लगे कि हम पर अब अकुश की आवश्यकता नही है, पर आजादी का मतलब मर्यादाहीन, निरकुश और उच्छृङ्खल बन जाना नही है। यदि लोगो ने ऐसा समझा है तो उन्होने बडी भूल की है। आजादी में मर्यादा की और अधिक आवश्यकता है। होनेवाला समारोह सघीय

ऐक्य, अनुशासन व सगठन की मर्यादा का एक स्फूर्तिमय पाठ देता है, इसलिए इसका नाम मर्यादा महोत्सव है। जैसा कि मेरा ख्याल है, भारत में अपने ढग का यह पहला समारोह है।

सही माने में धार्मिक वनने की आवश्यकता है। केवल धर्माचरण का बाहरी स्वांग रचने से आत्महित नही होता, जीवन का उत्थान नही होता। जीवन को उठाने के लिए तो धर्म को जीवन मे उतारना ही होगा। ससार में अनेको मत हैं, पथ है पर हमें उनसे लडना-झगडना नही है, उनपर आक्षेप नही करना है। हमारा कार्य तो सिर्फ इतना ही होना चाहिए कि उन मतो मे समाहित सत्तत्त्वोंको जीवन में उतारा जाय। सब धर्मों के मौलिक तत्त्व समान हैं। उनका लक्ष्य एक है पर देखना यह है कि उनके नियम, शील और व्रत उनके अनुयायियो के जीवन मे कितने क्या उतरे हैं? अपने आपको उच्च और धार्मिक समझनेवाले जीवन को निर्लेप, शुद्ध, सात्त्विक और पवित्र बनाए। धर्म के नाम पर दिखावा, प्रदर्शन और आडम्बर को प्रोत्साहन दिया गया तभी तो धर्म बुद्धिजीवियो को आकृष्ट नही कर पा रहा है। टीका, टिप्पणी, ईर्ष्या, जलन और देखादेखी से मानव क्या लाभ पा सकेगा? उससे तो नुकसान ही होगा। अत मै चाहूँगा कि प्रत्येक व्यक्ति धर्म के अहिंसा, सत्य और एकतामूलक रूप को अपने जीवन मे ढालें।

भीलवाड़ा
(गवर्नमेंट कॉलेज),
१४ फरवरी '५६

२३ : जीवन में मर्यादा का स्थान

इस पौने दो सौ वर्ष पूर्व बने विधान की उपयोगिता इससे बडी और क्या हो सकती है कि आज लगभग ६५० साधु-साध्वियो का यह धर्म सघ इसके आधार पर चलता हुआ दिन प्रति दिन प्रगति की ओर अग्रसर हो रहा है। सचमुच जीवन में मर्यादा, सयमन और नियमन का बडा स्थान है। मर्यादाहीन जीवन केवल कहने भर को जीवन है, जीवन का ओज और सत्त्व उसमे कहाँ? दिन पर दिन मर्यादाहीनता की ओर आगे बढते हुए मानव समुदाय के लिए यह एक सम्वल है, प्रेरणा-स्रोत है। मै इस अवसर पर उपस्थित प्रत्येक भाई-वहिन से कहना चाहूँगा कि वे अपने को सयम, सदाचार, अनुशासन और शील की मर्यादा मे बाँधे।

भीलवाड़ा
१८ फरवरी '५६

२४ : बहनों का कर्त्तव्य

आज वहनो मे जो पारिवारिक झगडे दृष्टिगोचर हो रहे है वे किसी से छिपे नही है। आज सास और वहू एक घर में नही रह सकती; देवरानी व जिठानी एक साथ नही रह सकती; इसका कारण क्या है? यही तो कि प्रत्येक चाहती है कि सारे अधिकार उसके हाथो में आ जाय, वह घर की मालकिन वन जाय। वहनें इस मनोवृत्ति को अपने मन से निकाल दे। केवल अधिकार की माग मे ही वे न उलझें। वहनो में विनय, सहनशीलता, नम्रता और विवेक होना चाहिए। मैं सवसे वड़ी मानी जाऊँ, मुझे सव मान दे—यह ऐसी मनोवृत्ति है जो संघर्ष और टक्कर पैदा करती है; क्योकि उसके अतिरिक्त दूसरी वहने भी तो ऐसा ही चाहेंगी।

जीवन का सार संयम और सात्त्विकता है। यही सच्चा सौन्दर्य है। वाहरी प्रदर्शन, दिखावा, फैशनपरस्ती जीवन का सही लक्ष्य नही कहा जा सकता। सयताचरण और सद्वृत्तियो का ग्रहण जहाँ बहिनों का अपना जीवन ऊँचा उठायेगा वहाँ परिवार के वालक-वालिकाओ में भी वह एक सात्त्विक ओज पैदा करेगा।

वहनो का दृष्टिकोण भौतिक नही आध्यात्मिक होना चाहिए। दृष्टि-विन्दु यदि आध्यात्मिक रहा तो उनके जीवन की गति विलासिता और सकुचितता से दूर संयतता और सात्त्विकता से ओतप्रोत रहेगी।

भीलवाड़ा
२० फरवरी '५६

२५ : सत्यनिष्ठा की सर्वाधिक आवश्यकता

जीवन में नीतिमत्ता, प्रामाणिकता और सत्य निष्ठा की सर्वाधिक आवश्यकता है। इनसे जीवन सही माने में ओज, शक्ति और विकास पाता है। यह तथ्य सव स्वीकार करते है पर खेद इस वात का है कि आज इसके प्रति सच्ची निष्ठा मानव मे नही रह गई है। उसके मस्तिष्क मे यह जम नही पाता कि आज के युग मे सच्चाई और ईमानदारी से भी काम चलाया जा सकता है। उसका सोचना यह है कि आज का वातावरण ही कुछ ऐसा वन गया है कि उसके अणु-अणु मे असदाचार, वेईमानी और अनैतिक भाव बुरी तरह भरे पडे है। तव भला कैसे यह सम्भव माना जाये कि एक व्यक्ति भलाई और सच्चाई के साथ वरतता हुआ अपना जीवन-यापन कर सकता है। पर यदि गहराई से सोचा जाय तो वात ऐसी नही है

सचाई और ईमानदारी का प्रयोग जीवन मे सचमुच शान्ति का सचार कर सकता है। हो सकता है पहले-पहले कुछ कठिनाई प्रतीत हो पर दृढता के साथ इन पर डटे रहने से जीवन-व्यवहार मे प्रविष्ट अनेको उलझनें सुलझ जाती हैं। जीवन हल्का और सात्त्विक बनता है। मैं उपस्थित व्यापारी बन्धुओ से कहना चाहूँगा कि वे अपने व्यापार-व्यवसाय मे अधिकाधिक नीतिमत्ता और सच्चाई का समावेश करें। वे इस विचार को दिमाग से सर्वथा दूर कर दे कि इससे उनका काम अवरुद्ध हो जायगा। सच्चाई के मार्ग पर चलनेवालो को अलबत्ता कठिनाइयो का सामना तो करना ही पडता है पर याद रखे सच्चा वीर और साहसी वही है जो सत्यनिष्ठा, नैतिकता और सदाचरण के मार्ग पर सत्यनिष्ठा के साथ खेलता हुआ कठिनाइयो, वाधाओ और असुविधाओ की जरा भी परवा न करे। मुझे आशा है, व्यापारी बन्धु अपने जीवन को अधिकाधिक प्रामाणिक और सत्य निष्ठ बनाने में यत्नशील होगे।

बड़े खेद का विषय है कि आज मानव का जीवन एक ऐसे हीन-प्रवाह से गुजर रहा है कि यदि गम्भीर और सूक्ष्म दृष्टि से पर्यवेक्षण करते हुए कहा जाय तो कहना होगा कि इस अवमूल्यन ने उसे मानव नही रहने दिया है। वह केवल हाड-मास का पुतला जैसा रह गया है। आकार मे कहने भर को वह मानव है पर उसके मानवीय गुण उत्तरोत्तर मिटते जा रहे हैं। जहाँ पैसे के लिए वह अपना ईमान बेचते नही सकुचाता, प्रामाणिकता को तिलांजलि देते जरा भी नही हिचकिचाता, समझ नही पडता वहाँ उसमे मानवता रह कहाँ गई है! आज मानव को अपने जीवन का मूल्य वदलना है। पैसा, परिग्रह व स्वार्थ के बदले उसे त्याग, सयम और सदाचार को महत्त्व देना है। जीवन को अधिकाधिक सरल, सादा और सात्त्विक बनाना है। अणुव्रत-आन्दोलन इसी भावना को लेकर चलता है। उसका स्वर है—जनजीवन मे नैतिकता व्यापे, सदाचरण प्रसार पाये, जीवन व्यवहार सयम से सना हो। यही वह मार्ग है, जो आज के अलसाए लोक-जीवन मे एक पुण्य प्रेरणा फूंक सकता है। यह जीवन-मूल्यो के अहिंसा व अपरिग्रहपरक परिवर्तन का नया मोड़ है। सत्य, सदाचार और शील किसी की वपौती नही। ये तो उन्ही के है, जो इनका परिपालन करे। यही कारण है कि यह आन्दोलन जाति, वर्ग, सम्प्रदाय व वर्णभेद की खाइयो से सर्वथा दूर जीवन-विकास का एक सार्वजनिक विशुद्ध पथ है। मैं चाहूँगा कि इसके अर्थ को समझते हुए सब लोग इस ओर अग्रसर होगे।

भीलवाड़ा
२२ फरवरी '५६

२६ : भारतीय दर्शन अन्तर्दर्शन

साथ ही साथ एक आवश्यक बात जो भारतीय दर्शन हमे देता है वह है कि व्यक्ति परमुखापेक्षी बन अपने जीवन को, अपनी कर्मठ शक्तियों को परावलम्बी न बना दे। स्वावलम्बन भारतीय चिन्तन का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। एक ओर हम ऐसे विचार देखते है कि अतीत चला गया, वर्तमान चल रहा है, भविष्य जैसा आयेगा, आयेगा—इनपर किसका क्या नियत्रण ? पर भारतीय दर्शन इससे सहमत नही है। वह तो ओजस्वी आत्म-शक्ति द्वारा वर्तमान, भूत और भविष्य तीनो को बदल देने का मार्ग देता है। वैदिक साहित्य मे हम विश्वामित्र की कहानी पाते है। विश्वामित्र सोचते है—मै उसका पुत्र क्यो रहूँ जो ऋषि न हो ? वे स्वय अपने उन्नत कार्यों से ऋषि बनने तक ही अपने को सीमित रख सन्तुष्ट नहीं बनते, वे अपने पिता को भी ऋषि के रूप मे देखना चाहते है। पिता ही क्यो, वे अपने पितामह तक ऋषित्व लाना चाहते है और लाते है। सक्षेप मे मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि भारतीय दर्शन पुरुषार्थवादी व श्रम-वादी दर्शन है। पुरुषार्थ और श्रम से क्या असाध्य है ? कुछ भी तो नही।

दर्शन का अर्थ है—जीवन का निरीक्षण, आत्मा का अन्वेषण। आत्म-दर्शी परमात्मदर्शी होता है, सर्वदर्शी होता है। **"यः आत्मवित् स सर्ववित्, तत्तेन जातं येन आत्मज्ञातः"**—ये उक्तियाँ स्पष्ट बताती है कि जिसने आत्मा को जाना उसने सब कुछ जाना। जिसने आत्मा को नही जाना, उसने कुछ नही जाना। भारतीय दर्शन अन्तर्दर्शन है। वह केवल बाहरी पदार्थों को ही नही देखता, जीवन के अन्तरतम की गुत्थियो को भी देखता है और उन्हे सुलझाने का पथ-दर्शन देता है। शरीर व मन के विकारो का परिहार कर आत्मा के शुद्ध स्वरूप की अभिव्यक्ति, उसका अभिप्रेत है, जिसे शब्दान्तर मे मोक्ष से अभिहित किया जा सकता है। मै चाहूँगा कि भारतवासी अपने पूर्वज ऋषि-मुनियो के अनवरत श्रम और साधना से प्रसूत इन शाश्वत तत्त्वो को यथावत् समझेगे व जीवन-व्यवहार में उन्हें ढालेगे।

भीलवाड़ा
२३ फरवरी '५६

२७ : अवधान

अवधान कोई जादू या मन्त्र नही है। यह साधना लक्ष्य-स्मृति वैशिष्ट्य है, मति ज्ञान का एक प्रकार है। अवधान प्रयोग से यह स्पष्ट है कि

यदि इसे विकसित किया जाए तो मति ज्ञान बड़े अनोखे कार्य कर सकता है। शास्त्रों मे तो यहाँ तक उल्लेख है कि विकसित मति व ज्ञान के सहारे व्यक्ति जन्म-जन्मान्तर तक की बात जान सकता है। इसके साथ-साथ विद्वानो से यह भी तो छिपा नही है कि प्राचीन काल में भारतीय वाङ्मय अधिकाशत स्मरण-शक्ति के सहारे ही जीवित रहा। जैन वाङ्मय तो जैन आचार्यो की स्मृति मे बचे रहने के ही फलस्वरूप ग्रन्थ-रूप में आया। स्मरण-शक्ति बढाने के लिए चित्त की एकाग्रता, स्थिरता और सतर्कता की आवश्यकता है। ऐसा होने से सुनी या देखी हुई वस्तु झट दिमाग से निकल नही पाती। पर मुझे एक खास बात आपलोगो को बतानी है। इन सब विद्याओ, कलाओ आदि का प्रयोग व्यक्ति आत्म-शुद्धि मे करे। यदि आत्म-शोधन से व्यक्ति दूर रहा तो उसने जीवन में किया ही क्या? आप सबको इससे प्रेरणा लेनी है।

भीलवाड़ा
२४ फरवरी '५६

२८ : शिक्षक और शिक्षार्थी

राष्ट्र-निर्माण के लिए यह अपेक्षित है कि विद्यार्थियो का जीवन सदाचार, अनुशासन, विनय और सद्भावना के साँचे मे ढाला जाय। इसके लिए जितने प्रयास हों, वे कम है। देश और समाज तब तक अँधेरे में रहेगा, जब तक जन-समुदाय इन सद्वृत्तियो से सुसज्जित नही होगा। विद्यार्थी ही तो उनकी बुनियाद है। ये ही तो आगे चलकर सारा भार वहन करने-वाले है। उनका जीवन जितना उन्नत और विकसित होगा राष्ट्र और समाज उतना ही आगे बढेगा। इसके लिए सबसे पहली आवश्यकता मैं यह मानता हूँ कि अध्यापको का जीवन सही माने में उन्नतिशील और सात्त्विक बने। अध्यापकों की वाणी नही, उनका जीवन विद्यार्थियो के लिए एक जीवित आदर्श है। उनके जीवन की अच्छाइयाँ और बुराइयाँ विद्यार्थियो के जीवन पर तत्काल अच्छा या बुरा असर डालती है। विद्यार्थियो के जीवन-चित्र के निर्माता (चित्रकार) अध्यापक है। रग, तूलिका, पत्र, भित्ति जो चित्र के लिए अपेक्षित होते हैं, वे सब कुछ हैं पर यदि योग्य और कुशल चित्रकार न हो, तो इन सबके बावजूद सत्य, शिव और सुन्दर नही आता। अत मैं विद्यार्थियो को कुछ मार्ग दर्शन दूँ, इससे पूर्व अध्यापको से यह कह देना चाहूँगा कि वे सँभले, अपने जीवन को निरखें-परखे। कही

वे दुर्गुण तो उनमे नही भरे है, जो उनके अपने जीवन को तो मिटाते ही हो, विद्यार्थियों के लिए भी एक विकृत और गलत मिसाल पेश करते हो।

ग्रन्थ के ग्रन्थ कण्ठस्थ कर डाले, अनेक विषयो की जानकारी पा ली पर इन सबसे क्या बना, यदि जीवन मे सद्विवेक नही जागा, असत् से निवृत्ति और सत् की ओर प्रवृत्ति जीवन में नही व्यापी? इसलिए भगवान् महावीर ने कहा—"**सच्चा पण्डित और ज्ञानी वह है, जिसमें विरक्ति है, संयम है। संयम जीवन का भूषण है, वह आत्माकी सुसज्जा है। विनय, नम्रता, मैत्री, बन्धुता, सहिष्णुता, अनुशासन ये संयम के सुफल है।**" मैं कहूँगा कि विद्यार्थी प्रारम्भ से ही अपने जीवन को संयमित, नियमित और अनुशासित बनाने के लिए यत्नशील हो। आये दिन हम सुनते हैं कि अमुक स्थान पर विद्यार्थियो ने तोड-फोड कर डाली, भूखे भेडियों की तरह वे उपद्रव करने को टूट पडे। यह विद्यार्थियो के लिए कतई शोभनीय नही। उनका जीवन तो ज्ञानाराधना और आचार-साधना का जीवन है। उनका यह निर्माणकाल है, जिसमें उन्हे अपने आपको बनाना है, विकास की पगडण्डी पर चलते हुए सही माने मे उन्हे उन्नत बनना है। इस सृजन-वेला को वे विध्वंस में लगाएँ, क्या यह उचित है?

अणुबम जैसे विध्वंस और सहार लानेवाले भयावह अस्त्र-शस्त्रो से आज ससार थक चुका है। शान्ति लाने के बहाने अशान्ति का ताण्डव मचाने-वाले इन विनाश-साधनों से ऊबी हुई दुनिया आज शान्ति की टोह में है। ऐसी स्थिति में मैं कहूँगा शान्ति का एकमात्र साधन अहिंसा है, मैत्री है, समता है। अणुव्रत-आन्दोलन इन्ही के माध्यम से चलनेवाला एक सृजनात्मक आन्दोलन है, जो ऐसे मानव की सृष्टि करना चाहता है, जो संघर्ष में नही समन्वय और समभाव में निष्ठा रखनेवाला हो, जो पशु बल से नही, आत्मबल से विजय पाना चाहता हो। मै विद्यार्थियो से कहना चाहूँगा कि वे इस आन्दोलन को समझे, इसके आदर्शों को जीवन मे ढालें ताकि आगे चलकर एक ऐसे राष्ट्र, एक ऐसे समाज का निर्माण हो, जो सत्य, न्याय, नीति, सदाचरण, ईमानदारी और प्रामाणिकता जैसे ऊँचे आदर्शों पर टिका हो।

गुलाबपुरा

४ मार्च '५६

यदि इसे विकसित किया जाए तो मति ज्ञान बडे अनोखे कार्य कर सकता है। शास्त्रो में तो यहाँ तक उल्लेख है कि विकसित मति व ज्ञान के सहारे व्यक्ति जन्म-जन्मान्तर तक की बात जान सकता है। इसके साथ-साथ विद्वानो से यह भी तो छिपा नही है कि प्राचीन काल में भारतीय वाङ्मय अधिकाशत स्मरण-शक्ति के सहारे ही जीवित रहा। जैन वाङ्मय तो जैन आचार्यो की स्मृति मे बचे रहने के ही फलस्वरूप ग्रन्थ-रूप में आया। स्मरण-शक्ति बढाने के लिए चित्त की एकाग्रता, स्थिरता और सतर्कता की आवश्यकता है। ऐसा होने से सुनी या देखी हुई वस्तु झट दिमाग से निकल नही पाती। पर मुझे एक खास बात आपलोगो को बतानी है। इन सब विद्याओ, कलाओ आदि का प्रयोग व्यक्ति आत्म-शुद्धि में करे। यदि आत्म-शोधन से व्यक्ति दूर रहा तो उसने जीवन मे किया ही क्या? आप सबको इससे प्रेरणा लेनी है।

भीलवाड़ा
२४ फरवरी '५६

२८ : शिक्षक और शिक्षार्थी

राष्ट्र-निर्माण के लिए यह अपेक्षित है कि विद्यार्थियो का जीवन सदाचार, अनुशासन, विनय और सद्भावना के साँचे मे ढाला जाय। इसके लिए जितने प्रयास हो, वे कम है। देश और समाज तब तक अँधेरे में रहेगा, जब तक जन-समुदाय इन सद्वृत्तियो से सुसज्जित नही होगा। विद्यार्थी ही तो उनकी बुनियाद है। ये ही तो आगे चलकर सारा भार वहन करने-वाले हैं। उनका जीवन जितना उन्नत और विकसित होगा राष्ट्र और समाज उतना ही आगे बढेगा। इसके लिए सबसे पहली आवश्यकता मैं यह मानता हूँ कि अध्यापको का जीवन सही माने मे उन्नतिशील और सात्त्विक बने। अध्यापकों की वाणी नही, उनका जीवन विद्यार्थियो के लिए एक जीवित आदर्श है। उनके जीवन की अच्छाइयाँ और बुराइयाँ विद्यार्थियो के जीवन पर तत्काल अच्छा या बुरा असर डालती है। विद्यार्थियो के जीवन-चित्र के निर्माता (चित्रकार) अध्यापक है। रग, तूलिका, पत्र, भित्ति जो चित्र के लिए अपेक्षित होते है, वे सब कुछ हैं पर यदि योग्य और कुशल चित्रकार न हो, तो इन सबके बावजूद सत्य, शिव और सुन्दर नही आता। अत मैं विद्यार्थियो को कुछ मार्ग दर्शन दूं, इससे पूर्व अध्यापको से यह कह देना चाहूँगा कि वे सँभले, अपने जीवन को निरखें-परखें। कही

वे दुर्गुण तो उनमें नहीं भरे हैं, जो उनके अपने जीवन को तो मिटाते ही हो, विद्यार्थियों के लिए भी एक विकृत और गलत मिसाल पेश करते हों।

ग्रन्थ के ग्रन्थ कण्ठस्थ कर डाले, अनेक विषयों की जानकारी पा ली पर इन सबसे क्या बना, यदि जीवन में सद्विवेक नहीं जागा, असत् से निवृत्ति और सत् की ओर प्रवृत्ति जीवन में नहीं व्यापी? इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा—"सच्चा पण्डित और ज्ञानी वह है, जिसमें विरक्ति है, संयम है। संयम जीवन का भूषण है, वह आत्मा की सुसज्जा है। विनय, नम्रता, मैत्री, बन्धुता, सहिष्णुता, अनुशासन ये संयम के सुफल हैं।" मैं कहूँगा कि विद्यार्थी प्रारम्भ से ही अपने जीवन को संयमित, नियमित और अनुशासित बनाने के लिए यत्नशील हों। आये दिन हम सुनते हैं कि अमुक स्थान पर विद्यार्थियों ने तोड़-फोड़ कर डाली, भूखे भेड़ियों की तरह वे उपद्रव करने को टूट पड़े। यह विद्यार्थियों के लिए कतई शोभनीय नहीं। उनका जीवन तो ज्ञानाराधना और आचार-साधना का जीवन है। उनका यह निर्माणकाल है, जिसमें उन्हें अपने आपको बनाना है, विकास की पगडण्डी पर चलते हुए सही माने में उन्हें उन्नत बनना है। इस सृजन-वेला को वे विध्वंस में लगाएँ, क्या यह उचित है?

अणुबम जैसे विध्वंस और संहार लानेवाले भयावह अस्त्र-शस्त्रों से आज संसार थक चुका है। शान्ति लाने के बहाने अशान्ति का ताण्डव मचाने-वाले इन विनाश-साधनों से ऊबी हुई दुनिया आज शान्ति की टोह में है। ऐसी स्थिति में मैं कहूँगा शान्ति का एकमात्र साधन अहिंसा है, मैत्री है, समता है। अणुव्रत-आन्दोलन इन्हीं के माध्यम से चलनेवाला एक सृजनात्मक आन्दोलन है, जो ऐसे मानव की सृष्टि करना चाहता है, जो संघर्ष में नहीं समन्वय और समभाव में निष्ठा रखनेवाला हो, जो पशु बल से नहीं, आत्मबल से विजय पाना चाहता हो। मैं विद्यार्थियों से कहना चाहूँगा कि वे इस आन्दोलन को समझें, इसके आदर्शों को जीवन में ढालें ताकि आगे चलकर एक ऐसे राष्ट्र, एक ऐसे समाज का निर्माण हो, जो सत्य, न्याय, नीति, सदाचरण, ईमानदारी और प्रामाणिकता जैसे ऊँचे आदर्शों पर टिका हो।

गुलाबपुरा

४ मार्च '५६

२९ : अन्तर-निर्माण

कहने को कहा जाता है कि आज मानव ने बड़ा विकास किया है, वह बहुत आगे बढ़ा है पर जरा बारीकी से टटोलिये, क्या वास्तव में ऐसा हुआ है, क्या उसने अपने जीवन मे सुख और शान्ति पाई है? स्पष्ट झलकेगा कि ऐसा नही हुआ है। उसका जीवन आज बुरी तरह प्रताडित और पीडित जैसा है। बहुत-कुछ पाने पर भी वह खोया-खोया-सा है। यही कारण है कि वह आज स्वय यह महसूस करने लगा है कि उसे इस तथा-कथित उन्नति से मुँह मोडना चाहिए। बाहरी जीवन को सजाने में, बढ़ाने में जहाँ उसने दिन-रात एक कर दिये, वहाँ आज उसे अपने अन्तर-जीवन को सजाना होगा। इसके लिए उसे करना क्या है, मै बताना चाहूँगा। आप यह मत सोचिये कि मै आपको कोई अभूतपूर्व बात कहूँगा। मै तो शाश्वतकाल से भारत के ऋषि-महर्षियो द्वारा कहे गये तत्त्व की बात ही कहूँगा, जो प्राचीन होते हुए भी जीवन में अभिनव शक्तियो का सचार करने के कारण नवीन है। भगवान् महावीर ने बताया—"**सत्य की खोज करो, उसका विश्लेषण करो, जीवन को तदनुकूल सांचे में ढालो। दूसरो को कष्ट मत दो, शोषण मत करो।**" कितना अच्छा हो यदि इन आदर्शों पर आज का मानव चलने लगे। यदि ऐसा हुआ तो जीवन को जर्जरित बनानेवाली समस्याएँ स्वत निर्मूल हो जायेगी।

भारत के दार्शनिकों और विचारकों ने अपने सतत अनुशीलन और चिन्तन के फलस्वरूप ज्ञान, भक्ति और कर्म जैसे तत्त्वो पर अनूठी सूझ दी है। भगवान् महावीर ने बताया—"**ज्ञान और कर्म का समन्वय करो, सत्य को जानो, उसे कर्म में अनुप्राणित करो।**" यह लक्ष्य है जिसे अपनाकर व्यक्ति जीवन का सच्चा विकास कर सकता है। कर्म में आने से ही सत्य की सार्थकता है नही तो उन ऊँचे सिद्धान्तो से क्या बनेगा, यदि वे लम्बी-लम्बी बातो तक ही परिसीमित रह जाएँगे। अणुव्रत-आन्दोलन की इसलिए प्रतिष्ठापना की गई कि व्यक्ति सत्य को व्यवहार में संजोए, अहिंसा और संयम का आदर्श जीवन-वृत्तियो में लाए। अणुव्रत-नियम इन आदर्शों के जीवनोपयोगी संस्करण है।

धर्म साम्प्रदायिक सकीर्णता मे नही है, वह जातिवाद, वर्गवाद और वर्ण-वाद जैसे सैंकडे बन्धनो मे नही बँधा है। पर खेद है कि तथाकथित धार्मिको ने उसे इन बन्धनो में बाँधकर पगु बना दिया है। धर्म तो शाश्वत, व्यापक, विशाल और अत्यन्त असकीर्ण तथ्य है। उसे इन मिथ्या बन्धनो में मत

जकडिए। अहिंसा, अपरिग्रह, सदाचार और सयम से जो धर्म के सच्चे अभिप्रेत हैं, अपने जीवन को मँजिए। यही सच्ची धर्माराधना है।

अजमेर
८ मार्च '५६

३० : श्रद्धाहीनता सबसे बड़ा अभिशाप है

सच्चाई, प्रामाणिकता और ईमानदारी से जीवन मे काम चल सकता है—आज मानव इसे स्वीकार करने को तैयार नही होता। उसके दिमाग मे यह बैठता जा रहा है कि ये तो केवल पढने और समझने के आदर्श हैं, व्यवहार इनसे कैसे चल सकता है? मैं कहूँगा—मानव की यह सबसे बडी कायरता है। कौन कहता है कि सत्य और अहिंसा व्यवहार्य नही हैं? हाँ, हो सकता है–उनके परिपालन में एक बार कठिनाइया सामने आएँ। कठिनाइयो से मुँह मोडना कोई वीरता नही है। माना कि आज का वातावरण अनीति और हिंसा से बुरी तरह दूषित हो चला है, इसमे अहिंसा और सत्य पर चलना इतना सहज नही पर यह भी मत भूलिये—प्रतिकूल परिस्थितियो के समक्ष घुटने टेकना मानव की सबसे बडी कमजोरी है। सत्य का आचरण न करनेवाला इतना बुरा नही, जितना यह माननेवाला कि सत्य से जीवन मे काम ही नही चल सकता; क्योकि ऐसा माननेवाले के लिए आगे बढने के सारे द्वार ही रुक जाते हैं। यह श्रद्धाहीनता मानव का सबसे बडा अपराध है, जिससे उसे छुटकारा पाना है। अणुव्रत-आन्दोलन इस श्रद्धाहीनता पर करारी चोट करता है। वह अहिसा, सत्य और प्रामाणिकता का एक व्यवहार्य मार्ग है। देखने मे अणु पर प्रभाव में महत् नियमो का यह सकलन है, जो जीवन को नि सत्त्व बनानेवाली बुराइयो का उन्मूलन करता है।

अजमेर
८ मार्च '५६

३१ : धर्म क्या सिखाता है ?

धर्म लडना नही सिखाता। वह तो मैत्री, बन्धुता और भाईचारे की सीख देता है। धर्म को जो सघर्ष, कलह और वैमनस्य का साधन बना लेते है, वास्तव में धर्म के नाम पर वे अधर्म को पोषण देते हैं। धर्म

का मूल अहिंसा है, दया है। जहाँ अहिंसा या दया नही, वहाँ कैसा धर्म? जहाँ तक मै सोचता हूँ, क्या वैदिक, क्या जैन, क्या वौद्ध, क्या इस्लाम और क्या ईसाई, सभी धर्मों मे अहिंसा या दया के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान है। दूसरो को पीडा देना, सताना, शोषण करना धर्म नही सिखाता। प्रत्येक व्यक्ति को यह सोचना है कि जिस प्रकार सताए जाने पर, प्रताडित होने पर उसको दु:ख होता है, उसी प्रकार दूसरो को भी होता है। किसी के द्वारा पीडित होना उसे कितना अप्रिय लगता है, वह भूल क्यो जाता है—दूसरो को भी तो वह ऐसा ही अप्रिय लगता है। ऐसी दशा में किसी भी जीव को कष्ट देना अनुचित है, धर्म-विरुद्ध है। आत्मा को गिरानेवाला है। क्या हिन्दू, क्या मुसलमान सभी धर्मावलम्वी इस व्यापक तत्त्व को हृदयगम करते हुए जीवन को अधिकाधिक अहिंसा की ओर ले जाएँ, मेरा यही कहना है।

यदि व्यक्ति अपने जीवन को धर्म के आदर्शों में ढालने की प्रेरणा नही लेता तो मन्दिर, मस्जिद, गिरजा तथा अन्यान्य धर्म स्थानों में जाने मात्र से क्या वनेगा? धर्म की सच्ची उपासना तद्नुकूल जीवन वनाने में है। जीवन का हर व्यवहार सच्चाई और नेक-नीयत से भरा हो, किसी के प्रति दुश्मनी और विरोध की भावना न रहे—धर्म का यही सन्देश है।

धर्म को जाति या कौम में मत वाटिये। जातियाँ सामाजिक सम्वन्धों के आधार पर अवस्थित है। धर्म जीवन परिमार्जन या आत्मशोधन की प्रक्रिया है। वहाँ हिन्दू और मुसलमान का भेद नही है। धर्म वह शाश्वत तत्त्व है, जिसका अनुगमन करने का प्राणीमात्र को अधिकार है। साम्प्रदायिक सकीर्णता की उसमें गुजाइश नही। जहाँ भेद-दृष्टि को प्रमुखता दी जाती है वहाँ साम्प्रदायिक झगडे और सघर्ष पैदा होते है। चूंकि विभिन्न सम्प्रदायो में भेद के वजाय अभेद—समानता के तत्त्व अधिक है, अत. उनको मुख्यता देते हुए धर्म ... लक आदर्शों ... प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। ऐ... ... सघर्ष, झगड़े खडे ही नही होगे।

अजमेर
१० मार्च

त

अणुव्रत ... मूल
पारस्परिक ... के

सद्भावना का सचार कर जीवन मे एक नयी शक्ति भरती है। इसका अनुगमन करनेवाला स्वय आत्म-तृप्ति के मधुर रस का आस्वादन करेगा। सबसे पहले लाभ उसे स्वयं है, इसलिए इन आदर्शों को अपनाना मुझपर कोई एहसान नही है। यह तो उनका अपना काम है, जिसे करने पर उनको स्वय लाभ मिलेगा। यह व्यक्ति के दैनिक व्यवहार को परिमार्जित और परिष्कृत करने का एक सफल साधन है। मानव का दैनन्दिन व्यवहार सात्त्विकता, शुद्धता, और निर्मलता लिये हो, यह जीवन की पहली जरूरत है। दैनिक व्यवहार यदि क्लेश, कदाग्रह आदि भाव से गन्दा बना हो तो ऊँची-ऊँची बातें बनाने से क्या लाभ? यह धर्म के उन मौलिक सर्वसम्मत आदर्शों को लेकर चलता है, जिनका प्रतिपालन व्यक्ति को धर्म की ऊँची आराधना के योग्य बनाता है।

इस आन्दोलन से कोई यह न समझ ले कि छोटे-छोटे व्रतो का संचयन कर ऊँची तपस्या और साधना का यह निरोधक है। ऐसा समझना बड़ी भूल होगी। ऐसा करने से रोकता ही कौन है? यह तो प्रसन्नता की बात है कि मनुष्य अपने जीवन को जितना ले जा सके, धर्म और तपस्या की ऊँची आराधना मे ले जाय। पर पहले उसके योग्य तो बने। अणुव्रत-आन्दोलन का हमने आरम्भ किया, कठिनाइया भी सामने आने लगी। धर्माचार्य इस तरह का कार्य करते है—ये व्यग भी मैंने सुने। मैंने सोचा—जो काम मै कर रहा हूँ, जो मार्ग मैंने लिया है, वह अनुचित नही है, शुद्ध है, निर्दोष है, मुझे उसपर चलना चाहिए। मै चला। विरोध का मै बुरा नही मानता। मै उसे लाभकारी समझता हूँ क्योकि यह व्यक्ति को जागरूक रखता है। मुझे उसमें बडा आनन्द आता है। मुझे यह प्रकट करते सन्तोष है कि आज अणुव्रत-आन्दोलन की जडे मजबूत होती जा रही है।

अणुव्रत-आन्दोलन सब धर्मों का नवनीत है। क्या कोई भी धर्म, शील, सदाचार, शौच और सद्भावना का विरोध करेगा? अणुव्रत-आन्दोलन धर्म के इन ऊँचे आदर्शों को सरलता से हृदयगम और जीवन-व्यापी बनाना चाहता है। नई शिक्षण-प्रणाली के अनुसार चलनेवाले बाल-मन्दिर में जैसे बच्चो को बिना आभास के हँसते-खेलते शिक्षण दिया जाता है, उनको यह महसूस नही होने पाता कि हमसे पढाई करायी जा रही है; उसी तरह अणुव्रत-आन्दोलन धर्म के ऊँचे तत्त्वों को जीवन-व्यवहार में इस सफलता और सहज भाव से जोडता है कि वे भार रूप न रहें और व्यक्ति के जीवन का हर पक्ष सदाचार के बुनियादी उसूलो से जुडे।

अजमेर

११ मार्च '५६

३३ : आत्म-नियमन

भारतीय सस्कृति मे वह जीवन जीवन है, जो शान्त, तुष्ट और पवित्र है। जिसमें शान्ति, तुष्टि और पवित्रता नही, वह केवल कहने भर को जीवन है, जीवन का सच्चा सत्त्व वहाँ नही। भौतिक साधनो की उपलब्धि और उनके उपभोग में शान्ति नही। शान्ति सयम में है। सयम अर्थात् असत्य, हिंसा आदि पतनकारी तत्त्वो से बचते हुए सत्य, अहिंसा आदि पर डटे रहना। ऐसा करनेवाला ही सच्ची शान्ति या सात्त्विक सुख पा सकता है। अपने विचारो मे, वृत्तियो में जितना अधिक सयम को आप प्रश्रय देंगे, जीवन उतनी ही शान्ति और सुख की ओर अग्रसर होगा। सृष्टि या सन्तोष का साधन है—स्वतन्त्रता। स्वतन्त्रता के बिना सचमुच जीवन दूभर लगता है। पिंजड़े मे बँधा पक्षी चाहे जितना मेवा मिष्ठान्न पावे, पर क्या वह सुख अनुभव करता है? राजनैतिक दृष्टि से आज देश स्वतन्त्र है पर मेरी दृष्टि मे यह बाहरी स्वतन्त्रता है। देश के लोगो को आन्तरिक स्वतन्त्रता पाने की ओर प्रयास करना होगा। इसलिये यहाँ जो मैंने स्वतन्त्रता की बात कही, उससे मेरा आशय है—स्व अर्थात् अपना तन्त्र, आत्मानुशासन, आत्म-नियमन, स्ववशता। जो अपने द्वारा शासित है, आत्मानुशासन मे रमा है, सचमुच वह स्वतन्त्र है, क्योकि स्वय पर उसका अपना शासन है, दूसरे का नही। पवित्रता से मेरा मतलब बाहरी सफाई-धुलाई से नही है। विचारो और वृत्तियो मे सात्त्विकता—निर्मलता ही सच्ची पवित्रता है। कपडे खूब साफ-सुथरे पहन रखे है, नहाया-धोया है पर यदि विचारो मे स्वच्छता नही है तो वह व्यक्ति पवित्र नही, अपवित्र है। प्रत्येक व्यक्ति इन साधनो को अपनाते हुए जीवन को शान्त, सन्तुष्ट और पवित्र बनाने की ओर आगे बढ़ें।

आत्मा, परमात्मा, ससार आदि या अनादि आदि दार्शनिक गुत्थियाँ दार्शनिको और विचारकों के लिए हैं। जब वे आपस मे इनपर विवेचन करते हैं, विश्लेपण करते हैं तो कितना सुन्दर लगता है। पर ध्यान रहे, जनसाधारण के उलझने के लिए, आपसी सघर्ष के लिए ये प्रश्न नही हैं। जन-साधारण को जीवन-शुद्धि की उन सार्वभौम बातो को लेकर चलना है, जिनसे उनके जीवन की बुराइयाँ मिट सकें। अणुव्रत-आन्दोलन इसी विचार का पुण्य प्रतीक है, वहाँ नियम लादे नही जाते, व्यक्ति स्वेच्छा के साथ स्वय उन्हें स्वीकार करता है। वह स्वयं आत्म-निरीक्षण करता रहता है कि नियमो के परिपालन मे कही स्खलना तो नही हो रही है। इस प्रकार सहज रूप में

जीवन को सात्त्विक और उन्नत बनाने का यह उपक्रम है। आशा है आप सब लोग इसे देखेंगे, समझेंगे और इन्हे जीवन मे ढालने का प्रयास करेंगे।
अजमेर
१२ मार्च '५६

३४ : आत्म-साधना

भारतवर्ष अनेकानेक सास्कृतिक व ऐतिहासिक स्थानो का देश है, जिनके पीछे एक लम्बा इतिहास है, गौरवमयी सस्कृति है। पर केवल इतिहास और सस्कृति के गीत गाने से कुछ नही बनेगा, बनेगा तभी जब जीवन मे उस आत्मशुद्धि-मूलक इतिहास व सस्कृति से प्रेरणा लेते हुए उसका अनुसरण किया जाए। जैसा कि कहा जाता है—पुष्कर तपोभूमि है, पर तपोभूमि मे कदम रखने मात्र से क्या होगा? जबतक कि जीवन को तपस्या व आत्म-साधना मे रमाया न जाए? मैंने अजमेर में ख्वाजा साहब की दरगाह मे कहा था—मन्दिर, मस्जिद, गिरजा, गुरुद्वारा—व्यक्ति कही भी जाए, दिन भर वहाँ डटा रहे, पर यदि जीवन में अहिंसा, दया, सच्चाई, आदि धर्म के मौलिक सिद्धान्तो को नही उतारेगा तो इससे क्या बनने का है?
पुष्कर
१३ मार्च '५६

३५ : त्याग और संयम की संस्कृति

भारतीय संस्कृति त्याग और सयम की संस्कृति है। जीवन की सच्ची सुन्दरता और सुषमा सयताचरण में है, बाहरी सुसज्जा, और वासना-पूर्ति मे नही। जिन भोगोपभोगो मे लिप्त हो मानव अपने आप तक को भूल जाता है, वह जरा आँखे खोलकर देखे कि वे उसके जीवन के अमर तत्त्व को किस प्रकार जीर्ण-शीर्ण और विकृत बना डालते हैं। जीवन मे त्याग को जितना अधिक प्रश्रय मिलेगा, जीवन उतना ही सुखी, शान्त और उद्बुद्ध होगा। भारतीय मानस मे त्याग के लिए सदा से बड़ा ऊँचा स्थान रहा है। यही तो कारण है कि त्याग-परायण सन्तो का यहाँ सदा आदर रहा है। यह व्यक्ति का आदर नही है, यह तो त्याग का समादर है। सन्तो के जीवन से आप त्याग की प्रेरणा लीजिए, जीवन को सयम की ओर उन्मुख कीजिए। इसी मे जीवन की सच्ची सफलता है। माना कि प्रत्येक व्यक्ति त्याग को जीवन में सम्पूर्णत उतार सके यह सम्भव नही

पर जितना हो सके अपनी ओर से उसे अपने आपको ज्यादा त्यागी और संयमोन्मुख बनाना चाहिए। त्याग से घबराइए मत, उसे नाग मत समझिए। वह तो जीवन शुद्धिमूलक सजीवनी बूटी है। उस ओर बढ़िए, सात्त्विकता से पूर्ण नया जीवन, नया ओज, नयी कान्ति और नयी शक्ति पाइए।

जीवन का सच्चा विकास आत्म-शुद्धि मे है

कहा जाता है कि आज विकास का युग है, मनुष्य बहुत आगे बढा है, पर मानव यदि अपने अन्तरतम को टटोले तो वह स्वय महसूस करेगा कि वह कहाँ से कहाँ आ लुढका है, कितना नीचे वह गिर गया है। भौतिक विकास की चकाचौंध मे वह अन्धा हो गया है। कर्त्तव्याकर्त्तव्य का भान उसे नही रहा। उसका जीवन महज एक यन्त्र-सा बन गया है। इस तथा-कथित विकास की ओट में युद्ध, संघर्ष, ईर्ष्या, धोखा, विश्वासघात जैसे विषैले, भीषण परिणाम निकले, जिससे संसार आज कराह उठा है। यह सब क्यो हुआ? उत्तर सीधा है—जीवन का सच्चा विकास आत्म-शुद्धि में है, अपने-आपको सत्य, शौच, शील, सदाचरण जैसे सद्गुणो के सँजोने मे है। यदि थोड़े में कहा जाय तो आध्यात्मिक विकास ही मानव का सच्चा विकास है। तभी तो भगवान् महावीर ने कहा था—"**अहिंसा ही विज्ञान है। जिसने अहिंसा को जाना; उसके तत्त्व को हृदयंगम किया, जीवनवृत्ति में उसको स्थान दिया, उसने विज्ञान की बड़ी-से-बड़ी उपासना की।**" यथार्थ विज्ञान तो वही है, जो जीवन को शुद्धि की ओर ले जाए। आज इस से लोग आँख मूंदते जा रहे हैं, उनका जीवन अवसाद, क्लेश, असन्तोष और अभाव से जर्जर बना जा रहा है। क्या विज्ञान और विकास का यही फल होना चाहिये? उससे तो शान्ति मिलनी चाहिए, सुख मिलना चाहिए, स्फूर्त्ति मिलनी चाहिए, चेतना मिलनी चाहिए पर ऐसा नही हो रहा है। अत मैं कहूँगा—मानव जागे, चेते, भारतीय ऋषियो द्वारा बताये गए मार्ग पर आए; एकमात्र भौतिक विकास को ही चरम लक्ष्य न मान आध्यात्मिक विकास के पथ को अपनाए, उसपर आगे बढे। उसका जीवन सहज ही शान्ति से आप्लावित हो उठेगा।

हर व्यक्ति विकास करना चाहता है, अपने जीवन को उन्नत देखना चाहता है। सही भी है—विकास होना ही चाहिए। वह भी क्या कोई जीवन है जो अपनी पुरानी स्थिति में ही चलता रहे, विकास की ओर प्रगति न करे! अत यह सही है कि विकास जीवन के लिए इष्ट है और उसके लिए व्यक्ति को सदैव सजग और सचेष्ट रहना चाहिए। विकास के भी नाना रूप हैं। कोई परिग्रह की वृद्धि को, कोई साम्राज्य की वृद्धि को,

और कोई नाना सुखोपभोगो की वृद्धि को विकास मानता है, किन्तु यह वास्तव मे जीवन का विकास नही है। भारतीय दर्शन आत्मवादी दर्शन है। उसके दृष्टिकोण मे आत्मा का विकास ही सर्वोपरि श्रेष्ठ विकास है। दैहिक विकास की अपेक्षा यहाँ आत्मा के विकास की महत्ता अधिक रही है और आध्यात्मिक दर्शन-क्षेत्र के समग्र प्रयत्न आत्मा के विकास की ओर ही अग्रसर हुए है। आत्मा परम तत्त्व है। व्यक्ति आत्मा से परमात्मा बनने की ओर निरन्तर अग्रसर होता रहे—यही जीवन-विकास की सही दिशा है जिसकी ओर सबको प्रयाण करना है।

थाँवला
१४ मार्च '५६

३६ : जीवन के मापदण्ड में परिवर्त्तन

अनीति, अनाचरण, अप्रामाणिकता, विश्वासघात और अर्थलोलुपता जैसी बुराइयो ने आज मानव के जीवन को जर्जरित कर डाला है। फलतः आपसी विश्वास मिटता जा रहा है। स्वार्थ के मद मे अन्धा व्यक्ति अपना विवेक खो बैठा है। जीवन के सत् मूल्यों का स्थान असत् मूल्यों ने ग्रहण कर लिया है। जहाँ सदाचरण, अहिंसा और संयम जीवन के ऊँचेपन का मापदण्ड था, वहाँ अर्थ-पैसा आज उनका स्थान हथियाये बैठा है। इसी का नतीजा आज स्पष्ट देखते है कि पैसा बटोरने की तीव्र लालसा ने मानव को बेईमान बना डाला है। पैसा मिलना चाहिए, चाहे किसी को कितना भी अन्याय और अनौचित्य का आश्रय ही क्यो न लेना पडे! आज यह आम मनोवृत्ति बनती जा रही है। आज की अशान्त, विषादमय और उलझन भरी समस्याओ का मुख्य कारण यही है। इसे दूर करना होगा, जीवन के मापदण्ड मे परिवर्त्तन करना होगा। प्रतिष्ठा संयम और त्याग की रहे, पैसे की नही। आज इस तत्त्व के प्रसार की अत्यन्त अपेक्षा है। अणुव्रत-आन्दोलन यही करना चाहता है, वह जीवन के मापदण्ड में एक नया परिवर्तन लाना चाहता है। अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह को वह व्यवहार में देखना चाहता है। तभी तो उसने जीवन के हर पहलू को छूते हुए इन व्रतमूलक नियमो का आविष्कार किया है। इस ओर लोग मुडें, जीवन के सही लक्ष्य को पहिचानें। अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह की आराधना मे अपने जीवन को लगाएँ।

थाँवला
१४ मार्च '५६

३७ : सच्चा तीर्थ

धर्म जीवन जागृति का साधन है। वह विकास और शान्ति का सच्चा मार्ग देता है, पर यह सब कब तक? जबकि व्यक्ति उसके आदर्शों पर अपने जीवन को ढाले। केवल परम्परा-पोषण और स्थिति-पालन मे धर्म को बाँधे रखना उसे जड और निस्तेज बनाना है। धर्म तो जीवन-शुद्धि का निर्द्वन्द्व और अप्रतिबन्ध राजमार्ग है। बन्धन और धर्म, इनका कैसा मेल! यदि जडता और चेतना का मेल हो तो इनका हो। धर्म साधना मे अपने मन को रमा देनेवाले के अन्तरतम मे वह चिनगारी पैदा होती जाती है जो हरदम उसे कुमार्ग से बचने के लिए सजग और उद्बुद्ध रखती है। जडता मे वह उसे जाने नही देती। वह तो उसे आत्म-चेतना मे खोए रखना चाहती है। इसीलिये मै अक्सर कहा करता हूँ, केवल मन्दिरो में जाने मात्र से, साधुओ के दर्शन करने मात्र से, तीर्थ स्थानो मे चक्कर लगाने मात्र से क्या बनेगा, यदि धर्म के मूल आदर्शो को जीवन मे प्रश्रय नही दिया जाए। मै कई बार देखता हूँ—लोग आते है। मेरे चरणो के नीचे की धूल ले जाते हैं। उसके सहारे अनेकानेक बाधाओ से छूटने की परिकल्पना करते है। मै कहता हूँ—आप उन आदर्शों को ही लीजिए, जिन्हें मै जीवन मे लिये चलता हूँ, और जिनकी व्याप्ति मै लोगो मे भी देखना चाहता हूँ। वे है—अहिंसा, दया, सत्य, शील, शौच। इन्हें लीजिए यही तो सच्चा तीर्थ है। जैसा कि महाभारत में युधिष्ठिर को सम्बोधित करते हुए एक स्थान पर कहा गया है

आत्मा नदी संयम पुण्यतीर्था, सत्योदकी शीलतटा दयोर्मि।
तत्राभिषेकं कुरू पाण्डुपुत्र! न वारिणा शुद्धयति चान्तरात्मा।

अर्थात् आत्मा नदी है। सयम उसका पवित्र तीर्थ है। सत्य उस नदी का जल है। शील उसका तट है। दया की लहरें उसमे छलछलाती है। युधिष्ठिर! उसमें स्नान कर। पानी से अन्तरात्मा शुद्ध नही होती।

ईडना
१४ मार्च '५६

३८ : सत्संगति उन्नति का साधन

प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि अपना कुछ समय वह सत्सगति में अवश्य लगाए। सत्सगति उन्नति का साधन है। इससे मनुष्य सद्गुण सीखता है। कुछ लोगो से यदा-कदा सुनने को मिलता है—क्या किया जाए समय

ही नही मिलता। मै उनका यह कथन ठीक नही मानता। जीवन मे अनेको काम वे करते है, उनके लिए उनके पास समय है और सत्पुरुषो की सगति के लिए उन्हे समय ही नही मिलता! यह उनकी उपेक्षा का परिचायक है। अच्छे कार्य के लिए तो प्रयत्न करके समय निकालना ही चाहिए दिन में ६० घडियाँ होती है, क्या २ घडी भी धर्मानुशीलन और सत्सग के लिए वह नही निकाल सकता। साठ घडियों मे इन दो घडियो की वहुत वडी कीमत है। इन दो में मिले लाभ के सहारे न जाने मनुष्य कितना आगे बढ सकता है। एक सीधा-सा दृष्टान्त मैं रख रहा हूँ, जिसको सुन इन दो घडियो का मूल्य आप आँक सकेगे :—एक व्यापारी था। धन कमाने के लिए दूर देश गया। सुरक्षा के लिए कई ठाकुर उसके साथ थे। व्यापार अच्छा चला। व्यापारी मालोमाल हो गया। लाखो की सम्पत्ति उसने पैदा की। फिर वह घर को वापस चला। गॉव निकट आया। सेठ (व्यापारी) ने सोचा—इन ठाकुरो को विदा कर दूँ नही तो गाँव तक ले चलने से पुरस्कार देना होगा। अब तो मै घर के समीप पहुँच ही गया। और पैसे क्यो गवाँऊँ। उसने ठाकुरो को विदा दे दी। ठाकुर चले गए। सेठ थोडी ही दूर चला था कि उसे ६० डाकुओ के झुण्ड ने आ घेरा। डाकुओ ने सेठ को रथ से नीचे उतार दिया और धन सहित रथ को अपने अधिकार मे ले लिया। सेठ की घिग्घी वँधी थी। वह थर-थर काँप रहा था। हाथ बाँधे खडा था। डाकू धन से भरा रथ लेकर आगे चलने लगे। सहसा सेठ को स्मरण आया—उन साठो में दो व्यक्ति उसके सम्पर्क के है। उसने झट उन्हें आवाज दी। दोनो ने पीछे की ओर मुँह फेरा। आँखें फाडकर सेठ की तरफ देखा। उन्हें फौरन याद आया कि सेठ से तो उनका पुराना सम्बन्ध है। सेठ गिडगिडाने लगा—"मुझे इस दशा में छोडकर जाते हो?" दोनो वोले—"ऐसा नही होगा, हम आपका धन अभी वापस दिलवा देगे।" वे दोनो अपने साथियो के पास गए। कहने लगे "सेठ को हम पहचान नही पाए थे। वह तो हमारा पुराना मित्र है। उसको कैसे लूटे? धन वापस लौटा दो।" बाकी डाकू बोले—"नही, यह कैसे होगा? लूटा हुआ धन हम वापस नही देगे।" दोनो ने अनमने भाव से कहा—"खैर, मत दीजिये, आप सवके आगे हमारा क्या वश? पर हम आज से इस दल से अपना सम्वन्ध तोडते है।" सब डाकुओ ने सोचा—केवल एक डाके के माल को लेकर हम अपने घनिष्ठ साथियो को छोड दें, यह कभी भी उचित नही। अपने को धन से साथी अधिक प्यारे है। धन लौटाना है। उन्होने सेठ को धन सहित उसका रथ वापस लौटा दिया। सेठ की उदासी खुशी में वदल गई।

यह एक कहानी है। साठ में अट्ठावन सेठ का धन न लौटाने पर अड़े थे, बचे दो डाकुओ का, जो सेठ के सम्पर्क के थे धन वापस लौटाने का अनुरोध था। उन दोनो से पूर्व सम्पर्क का परिणाम यह हुआ कि सेठ को धन वापस मिला। यह है साठ मे दो का महत्त्व।

जैसा कि मैंने कहा यदि साठ घडी में दो घडी भी सत्सगति और सद्गुण-अर्जन में मनुष्य लगाए तो वह जीवन में बहुत बड़ा लाभ पा सकता है।

डेगांना
१७ मार्च '५६

३९ : सच्चे सुख का अनुभव

आज हम देखते है, विशिष्ट व्यक्तियो का लोग स्वागत करते है, लम्बे-लम्बे भाषणो से, फूल-मालाओ से। महान् व्यक्तियो के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करते है, उनकी समाधियो पर फूल-मालाएँ चढाकर, उनके गुणो के गीत गा-गाकर और अधिक हुआ तो उनके नाम पर बडे-बडे स्मारक खडे कर करके। पर क्या यही उनका सच्चा स्वागत है? ये तो महज स्मरण-चिह्न है। उनका सच्चा स्वागत तो उन सद्गुणो को अपनाने मे है, जिनका प्रतिपालन वे करते रहे हैं। आपलोगो ने हमारा स्वागत किया। अपने श्रद्धामय उद्गार प्रकट किए। यह आपकी भक्ति का परिचय हैं। पर जैसा कि मैंने कहा—सन्तो का सही स्वागत तो उनके बताए मार्ग पर चलने में है। इसलिए मै आपलोगो से कहना चाहूँगा कि आपलोग अपने जीवन को अधिक से अधिक अहिंसामय बनाने का प्रयत्न करे। अहिंसा महान् धर्म है, पर उसकी उपयोगिता तब है, जब कि जीवन मे उसकी परिव्याप्ति हो। कहने को "अहिंसा परमोधर्म" का नारा सभी लगाते है, सभी धर्मों मे इसका उल्लेख है। ऐसा कौन-सा धर्म होगा, जो कहेगा कि "हिंसा करो शोषण करो, क्लेश, कदाग्रह और संघर्ष करो।" पर हम दुनिया मे प्रत्यक्ष देखते है कि आज इन बुराइयो का तांता-सा जुड रहा है। चाहे कही जाएँ, सर्वत्र ऐसा ही नजर आता है। यह सब क्यो? इसलिए कि धर्म के आदर्शों को आज का व्यक्ति अपने सुनने तक के लिए सीमित रखने लगा है, जीवन मे उन्हें उतारना है, इससे उसका क्या सरोकार? कितनी विषम और विपरीत स्थिति आज की बन गई है। आज आपको इसे बदलना होगा धर्म को केवल कहने और परम्परा पालने तक सीमित न रख उसके आदर्शों पर जुटना होगा, तभी आपका जीवन सच्चे सुख का अनुभव कर सकेगा।

आध्यात्म दृष्टि के विकास की ओर

धर्म के विश्लेषण मे जाये तो पाएँगे कि धर्म त्याग में है, सन्तोष मे है, शान्ति मे है, समता में है, जीवन-शुद्धि मे है। यह तथ्य आपको हृदयगम करना है। इस पर आपको आगे बढना है। तभी जीवन मे हल्कापन, शान्ति और स्थिरता का आप अनुभव करेंगे।

अणुव्रत-आन्दोलन जीवन-शुद्धि का आन्दोलन है। यह एक सर्वसम्मत कार्यक्रम है। झूठा माप-तोल न करना, विश्वासघात न करना, रिश्वत न लेना, किसी को अस्पृश्य न मानना, व्यवहार में अप्रामाणिकता न बरतना, व्यभिचार में न पडना—कोई भी धर्म इनका विरोध नही करेगा। अणुव्रत-आन्दोलन इसी प्रकार के जीवन-शुद्धि मूलक छोटे-छोटे नियमो का संकलन है। जीवन को ध्वस्त-विध्वस्त बनानेवाली बुराइयो का यह सफल परिहारक है।

जीवन की दृष्टि अन्तर्मुखी बनेगी तभी व्यक्ति अध्यात्मवाद का उपासक बन सकेगा। आज व्यक्ति सुबह उठकर अखबार पढना चाहेगा। गीता, धम्मपद, और जैन सूत्रो के पाठो के स्मरण मे अब उसकी रुचि नही रही है। यह सब भौतिक दृष्टिकोण की प्रबलता का परिणाम है। आध्यात्मिक दृष्टि का आज अभाव होता जा रहा है। यह खेद का विषय है। मैं उपस्थित बन्धुओ से कहना चाहूँगा कि वे प्रवृत्ति-शोधन और आध्यात्मदृष्टि के विकास की ओर अग्रसर हो और अपने जीवन को सफल और सार्थक बनाए।

बोराबड़
१६ मार्च '५६

४० : जीवन का सही लक्ष्य

भारतीय दर्शन की त्रिवेणी वैदिक, जैन और बौद्ध तत्त्वज्ञान की त्रिविध धाराओ में बही। यदि इसमें अवगाहन किया जाय तो यह स्पष्ट लक्षित होगा कि—खा लेना, पी लेना, पहन लेना, ओढ लेना, संसार के और-और जीवन-यापन-सबधी काम चला लेना ही जीवन का लक्ष्य नही है। जीवन का सही लक्ष्य दूसरा है। वह है अपने आपका परिष्कार करना। अपने मे व्यापी हुई पाप वृत्तियो को दूर करना, उनकी जगह सत्प्रवृत्तियो को स्थान देना, देखने मे चमकीली और सुहावनी लगनेवाली वासनाओ का शिकार न होना। ये जीवन को क्लेश के दल-दल मे फँसाने के साधन है। मुझसे कई बार लोग पूछते है, सबसे अच्छा कौन-सा धर्म है? मै कहा करता

सत्य की व्याप्ति लाए। जिसका पालन करनेवालो का जीवन त्याग, सयम और सदाचरण की ओर झुका हो। कहने को सब कह देते हैं—"उनके धर्मग्रन्थो मे ज्ञान की अगाध राशि भरी पडी है," पर ऐसा कहनेवाले जरा अपने को टटोले तो सही कि उस अगाध ज्ञानराशि से उन्होंने भी कुछ लिया या नही।

आचार-प्रधान धर्म

जैनधर्म आचार-प्रधान धर्म है। उसमे सबसे पहला स्थान अहिंसा को है। कोई किसी को न मारे, न सताए, पीड़ा न दे शोषण न करे, किसी के मन को न दुखाए, किसी को दास न बनाए, सबको अपने समान समझ, यह सब अहिंसामय सन्देश है, जो भगवान् महावीर ने दिया है। आज इसी समतावाद या साम्यवाद की आवश्यकता है। केवल आर्थिक असमानता दूर होने से सारी समस्याएँ सुलभ जायेंगी, ऐसा नही लगता। इसके लिए तो भगवान् महावीर के शब्दो मे "सब्ब भूअप्प भूएसु" अर्थात् समग्र भूत प्राणियो को अपने समान समझो—इस आदर्श साम्य के प्रतिष्ठापन की आवश्यकता है। जैनधर्म किसी जाति, वर्ग और वर्णभेद से नही बँधा है। वह तो उन्ही का है जो इसका पालन करते हैं। प्राणिमात्र इसके अनुसरण के अधिकारी हैं।

(पुष्कर में दिये गए प्रवचन से)

४१ : जीवन में संयम का स्थान

सुख और शान्ति चाहने वाले मानव के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने जीवन मे सयम को अधिकाधिक स्थान दे। सयम का अभाव जीवन के लिए जितना अलाभकारी सिद्ध हुआ है उतना कोई और दुर्गुण नही। सयम में रमे रहनेवाले व्यक्ति के जीवन मे विकार नही समाते। सयम जीवन को बुराइयो से सुरक्षित रखने का अमोघ साधन है। सरोवर के चारो ओर मेड़ होती है, उसका कार्य है सरोवर के भीतर स्थित जल को वचाए रखना—यदि वह न हो तो जल की क्या गति होगी। यह स्पष्ट है कि सारा जल विखर जायेगा। सयम जीवन को, जीवन तत्त्व को, सुरक्षित रखने के लिए मेड (दीवाल) जैसा है। असयत मनोवृत्ति का ही परिणाम आज हम देख रहे हैं—लोग न्याय-अन्याय, औचित्य, अनौचित्य, सत्य, झूठ किसी की भी परवा न करते हुए सग्रह और शोषण में

जी जान से लगे हैं। ऐसा दीखता है, मानो जीवन का सर्वाधिक श्रेयस्कर लक्ष्य यही है। पर वे भूलते हैं, यह लक्ष्य नही अलक्ष्य है। यह ग्राह्य नही, त्याज्य है। यह श्रेय नही अश्रेय है। यह शान्ति नही, जीवन को अशान्ति की ओर ले जाता है। इतिहास इस बात का साक्षी है। अनेक ऐसे लोग हुए जिन्होने येन-केन-प्रकारेण प्रभुता और सम्पदा उपार्जित करने मे अपने आपको जोड दिया था। पर लोगो ने देखा, जब वे मरने लगे तो अशान्ति, दु ख, क्लेश और क्रन्दन के साथ मरे, क्योकि सग्रह और शोषण मे शान्ति का बीज नही है। जब तक मानव अपने आपको सयम की ओर नही मोडेगा, पिशाचिनी की तरह मुंह बाए दौडी आ रही विषम समस्याएँ उसका पीछा नही छोड़ेगी।

सयम का अर्थ है अपने आप पर नियत्रण, अपनी इच्छाओ पर अपना नियत्रण यद्यपि यह नियत्रण है पर सही मानेमें सच्ची स्वतन्त्रता भी यही है कि सयम के लिए अपने आप मे दृढता और आत्म-बल पैदा करना होगा। यह साधारण कार्य नही है पर आत्म-बल को जगाने वाले के लिए असाधारण भी क्या है? सामने अनगिनत भोग्य पदार्थ पडे हैं, जिह्वा पर वश रखनेवाला उनकी सुलभता के बावजूद भी अपने को सयत रखता है। संसार के भोगोपभोग सामने हाथ बाँधे उपस्थित हैं पर सयम के आनन्द मे उल्लसित बना मानव उनसे आकर्षित नही होता। अभाववश बचे रहना और इन्द्रिय-नियत्रण पूर्वक बचे रहना—दोनो में यही तो फर्क है। जिन्हें भोग उपलब्ध नही हैं, यदि मिल जायँ तो वे भूखे भेडिए की तरह टूट पडे, इस प्रकार अभाव और अवशतावश भोग से बचनेवाला कोई त्यागी थोडे ही कहा जा सकता है? भर्तृहरि ने कहा है—"**भोगाः न भुक्ताः; वयमेव भुक्ताः**" अर्थात् लोगो को हमने नही भोगा, भोगो ने हमको भोग लिया, हमे नि सार बनाकर छोड दिया। इस तरह के व्यक्ति जिनकी सामर्थ्य मिट गयी है, जिनमे भोगोपभोग की शक्ति ही नही रही है अथवा जैसा कि मैंने कहा जिनको प्राप्त नही है उनका विषय-विकारो से बचे रहना कोई उत्कृष्ट त्याग नही है। उत्कृष्ट त्याग उनका है जो सब प्रकार की सुविधाओ व अनुकूलताओ के बावजूद भी अपने-आपको आत्म-साधना में जुटाते हुए स्वेच्छापूर्वक भोगोपभोगो को तिलाञ्जलि दे देते हैं। अत मेरा सभी को यह सन्देश है कि अपने जीवन में अधिक से अधिक संयत बनाने का प्रयास करे। सयम वह बहुमूल्य रत्न है, जिसकी तुलना ससार का बडा से बडा रत्न भी नही कर सकता।

बोरावड़

२२ मार्च '५६

४२ : धर्म के दो मार्ग

शास्त्रों मे धर्म के दो मार्ग बतलाये गये हैं—महाव्रत और अणुव्रत। महाव्रत का अर्थ है जीवन भर के लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को स्वीकार करना, इनकी साधना मे प्राणपण से सलग्न रहना। यह जीवन-विकास का उत्कृष्ट मार्ग है। महाव्रतों की आशिक साधना करना अणुव्रत है। यदि व्यक्ति जीवन मे सम्पूर्ण रूप से अहिंसा, सत्य आदि का पालन करने मे अपने को असमर्थ पाता है तो वह जहाँ तक बन सके हिंसा से, असत्य से बचने का प्रयास करे। अनावश्यक हिंसा तो वह न करे, क्रूर हिंसा तो वह न करे, ऐसा असत्य तो न बोले जो अनर्थ पैदा करनेवाला हो। दूसरे के तिनके को भी बिना पूछे लेना चोरी है इससे बचना अचौर्य का उच्चतम आदर्श है। यहाँ तक यदि व्यक्ति नही पहुँच सकता तो वह कम से कम राज दण्डनीय और लोक निन्दनीय चोरी तो न करे। अणुव्रतो का मूल स्वरूप यह है। वे जीवन को विरति अर्थात् बुराइयो के परित्याग की ओर ले जाते हैं जिससे वह इस पवित्र मार्ग पर आगे बढता-बढता और भी विकास एव उन्नति कर सके। अणुव्रत कोई नया नही। कोई पूछे सत्य और अहिंसा कब से चले तो क्या बताया जाए? ये तो अनादिकालीन तत्त्व हैं। वही बात अणुव्रतों के लिए हैं। वे आज के लोक-जीवन में शुद्धि ला सके, उसमें प्रविष्ट की हुई बुराइयो पर चोट कर सके इसलिए उनके अन्तर्गत जीवन शुद्धि मूलक जैसे समयानुकूल नियमो का निर्माण कर एक आन्दोलन का रूप दिया गया है, जो अणुव्रत-आन्दोलन के नाम से सुविदित है। यदि सक्षेप में कहें तो यह अणुव्रतो का सार्वजनिक रूप से आज के युग के अनुरूप चारित्र्य शुद्धिमूलक सस्करण है।

अणुव्रत-आन्दोलन किसी कौम, जाति या सम्प्रदाय का आन्दोलन नही है। यह मानवता का आन्दोलन है, जीवन-शुद्धि का आन्दोलन है। व्यक्ति चाहे किसी भी जाति का हो, किसी भी सम्प्रदाय का हो, उसके जीवन मे सच्चाई की माग है, ईमानदारी की माग है, समता की माग है, क्योकि ये वे गुण है जो मानव को सही माने में मानवता देते हैं। अणुव्रत-आन्दोलन ऐसा ही करना चाहता है। वह कहता है—कूट माप-तोल न करो, धोखा मत दो, असत्य आचरण से बचो, रिश्वत मत लो, शोषण मत करो। जरा सोचें क्या ये विचार किसी सम्प्रदाय विशेष के है? ये तो सभी के हित के हैं। मै उम्मीद करता हूँ कि आप इस ओर बढेगे।

बोराबड़

२३ मार्च '५६

४३ : अध्यापकों से

विद्यार्थियो का जीवन कोमल है, मृदु है, सरल है। जैसे भाव उसमे अंकित किये जाते है, वही उसमे जम जाते है। यदि बुरे संस्कारों मे से विद्यार्थियो को गुजरना पडता है तो वे सहसा बुरे वन जाते है और यदि अच्छे संस्कार उन्हें मिलते है तो वे उनमें ढल जाते है। इसलिए मै पहले अध्यापको से कहूँगा कि विद्यार्थियो के जीवन को बनाने की बहुत वडी जिम्मेवारी उन पर है। इस जिम्मेवारी को वे उन्हे कितावो के पाठ रटा कर या उनके वीच मीठे-मीठे और ऊँचे-ऊँचे उपदेश की बाते कह कर ही पूरा नही कर सकते। उन्हें अपना जीवन स्वय ऊँचा बनाना होगा। वे यह न भूल जाएं कि उनके जीवन के कामो की परख छोटे-छोटे बालक वडी बारीकी से करते है। वे यह नही देखते कि अध्यापक या अभिभावक क्या कहते है, वे देखते यह है कि ये क्या करते है और उसकी नकल भी करते है। इसलिए अभिभावक तथा अध्यापक अपने जीवन को सादा तथा हल्का बनाए ताकि वे विद्यार्थियो के सामने जीता-जागता उपदेश सावित हो सकें। ऐसा करने से ही वे अपनी जिम्मेवारी को भी पूरा कर सकेंगे।

विद्यार्थी विनीत वनें, सदाचारी वनें, सरल बने, सादगी को अपनाएं, किसी के साथ बुरा व्यवहार न करे। जीवन में सच्चाई, अहिंसा, समता आदि ऊँचे आदर्शों को विकसित करें क्योकि विद्यार्थी जीवन सद्‌गुणो के अर्जन का समय है।

बोराबड़
२३ मार्च '५६

४४ : सबसे बड़ा बाधक तत्त्व स्वार्थ

भारतीय दर्शन में त्याग की एक लम्बी परम्परा रही है। यहाँ वस्तु पाने की अपेक्षा वस्तु का त्याग अधिक महत्त्वशाली रहा है। अपार भौतिक सामग्रियो के स्वामी भी अकिंचन ऋषि-महर्षियो की चरण-धूलि के लिए तरसते है उस असीम-अनन्त आनन्द को प्राप्त करने की चेष्टा करते है। पदार्थ-निरपेक्ष-आनन्द की वह परम्परा एक स्वानुभूत सत्य है जो साधना-लब्ध है। खाना सहज है पर उपवास सहज नही। सहजता सुविधावाद है पर सुविधावाद स्थायी सुख का सर्जन नही करता। उपवास शारीरिक सुख नही देता किन्तु उपवास में जो आनन्द आता है वह आनन्द खाने में नही आता। इसकी अनुभूति के लिए एक लम्बी साधना की आवश्यकता है।

वह आनन्द अन्तर से उपजता है। आनन्द का असीम और अटूट खजाना अन्तरात्मा मे भरा पडा है। उसको विकसित करने की अपेक्षा है।

शान्ति का सबसे बडा बाधक तत्त्व स्वार्थ है। स्वार्थवृत्ति छोडे बिना व्यक्ति सुखी नही बनता। उसकी विषमता में जहाँ मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन दूभर बनता है, वहाँ समाज और राष्ट्र की स्थितियाँ भी विषम बनती है। स्वार्थवृत्ति के परिणाम-स्वरूप भाई-भाई का दुश्मन बनता है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के प्रति विद्रोह कर मानव-समुदाय को युद्ध की भयावह ज्वालाओ से झुलसा डालता है। स्वार्थ वृत्ति से पैदा हुई भीषण परिस्थितियाँ अभी-अभी हमारे सामने से गुजरी हैं। राष्ट्र के सामने प्रान्तो के सीमा निर्धारण का प्रश्न आया। उस छोटे से प्रश्न ने कितना वीभत्स दृश्य हमारे सामने प्रस्तुत किया उसको यादकर आज भी लोगो का हृदय काँप उठता है। स्वार्थवाद में अन्धे बने व्यक्ति ने राष्ट्र को बडा से बडा नुकसान पहुँचाया। जातिवाद, भाषावाद और प्रदेशवाद का यह भयानक पिशाच आज भी राष्ट्र के नागरिको को इस बात पर विचार करने के लिए प्रेरित कर रहा है कि वे इतने सकुचित क्यो बनते जा रहे है? जहाँ मानव-मानव में समता की भावना को बल मिलना चाहिए वहाँ ये सकुचित वृत्तियाँ राष्ट्र के नागरिको के लिए शर्मनाक होगी। स्वार्थ वृत्ति का यह खुला प्रयोग मानव समुदाय के लिए विध्वस का सकेत है। इस वृत्ति पर नियत्रण किये बिना शान्ति व सुख के समग्र प्रयत्न सफल नही हो सकते।

बोराबड़
२३ मार्च '५६

४५ : मन और आत्मा की सफाई करें

आपने साधुओ के आने पर अपने ग्राम की, गली की, और मण्डप आदि की सफाई की और दरवाजे भी बनवाये। पर मै आप सबसे कहूँगा इन सबकी सफाई करवाने की आपको जरूरत नही है। इनकी सफाई तो म्युनिसिपैलिटी अपने आप करवायेगी। पर आपको चाहिए कि साधुओ के आने पर अपने मन की, और अपनी आत्मा की सफाई करें। इन बाहरी सफाइयो में कुछ भी नही रखी है। अगर अपनी भीतरी सफाई कर ली तो मै आपका स्वागत आप कहेंगे तो समझ लूंगा। और बाहर के लोग भी इतने आते है वे भी यह नही देखते कि आपके यहाँ पण्डाल कैसा बना है, आपके यहाँ सफाई कैसी है, वे तो यह देखते है कि यहाँ के लोग कितने नीतिमान् है, चरित्रशील है, इनका दैनिक व्यवहार कैसा है।

आपके दिल मे यह शका कभी भी नही होनी चाहिए कि महाराज को पण्डाल पसन्द आयेगा या नही, महाराज को मकान और गॉव पसन्द आयेगा या नही। अगर महाराज ऐसा सोचने लग गये तो महाराज न जाने कितने गाँवो मे और कितने घरो मे रहते है रोजाना नाराज होते रहेगे। महाराज नाराज तो तभी होगे अगर आपने महाराज के बताए गृहस्थ मार्ग का अवलम्बन न किया। उनको जीवन मे नही उतारा। और जीवन को उसके अनुसार सादा नही बनाया। नही तो चाहे कितने ही गुणगान करते रहिए आपके जीवन पर उसका कोई प्रभाव पडनेवाला नही है।

सब लोगों को चाहिए कि धर्म के नाम पर आडम्बरो को प्रोत्साहन न दे। नवयुवको मे धर्म के प्रति अरुचि पैदा होने का, एक मुख्य कारण यह भी है कि लोगो ने वास्तविक धर्म को तो पहिचाना नही और आडम्बरो में ही सब कुछ समझने लग गए। देखते है धर्म का तो नाम होता और उसके नाम पर न जाने कितना रुपया बाहरी आडम्बरो में बरबाद हो जाता है। लोग तो यहाँ तक समझने लग गए है कि गरीब को धर्म का अधिकार ही नही है। क्यो क्या धनिको ने धर्म का पट्टा करवा रखा है? पर आप लोगो से मै यही कहूँगा कि आडम्बरो को प्रोत्साहन न देकर धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझे।

छोटी खाटू
२५ मार्च '५६

४६ : साधु की पहिचान

लोग कहते है हमे आज साधुओ की आवश्यकता नही है। परन्तु वे प्रवाह मे आकर ऐसा कह देते है। साधुओ की आवश्यकता रही है और रहेगी। अगर व्यक्ति को साधना करनी है, सत्य और अहिसा के राजमार्ग पर चलना है तो साधुओ की आवश्यकता जरूर पडेगी। हाँ, यह हो सकता है कि आज साधु भी बहुत तरह के हो गये है। बहुत सारे नामधारी साधु भी है। कुछ अपनी साधना करनेवाले भी हैं। लोग उन तक पहुँच नही पाते और ऊपर ही ऊपर रह जाते है। जिस प्रकार समुद्र में कोई मोती ढूंढे और ऊपर ही ऊपर देखता रहे तो उसे मोती मिलना बहुत दुर्लभ है। मोती तो जब गहरी डुबकी लगाई जाएगी तभी प्राप्य हो सकते है। उसी प्रकार साधना करनेवाले साधु भी बहुत मुश्किल से प्राप्य होते है।

तेरापन्थ का मतलब कोई सम्प्रदाय विशेष से नही है। इसका मतलब

बिल्कुल सीधा है। हे प्रभो! यह तेरापथ हमारा नही, यह तो आपका पंथ है। हम तो उस पर चलने वाले है, हमारा कोई पथ नही है।

शुद्ध साधु पंच महाव्रत, पच समिति तथा तीन गुप्ति का पालन करने वाला होता है। उसकी चाल, उसकी वाणी एक नये ही ढग की होगी, जिसका कि गृहस्थो मे अभाव पाया जाता है। साधु अपने लिये बनाया हुआ भोजन, मकान, पानी आदि का उपयोग नही करते। वह बिल्कुल शान्त प्रकृति का, निराभिमानी और धैर्यवान होगा। वह किसी भी नशीली वस्तु या बुरे कार्यों की तरफ मुँह भी नही करेगा।

छोटी खाटू,
२६ मार्च '५६

४७ : जीवन-विकास की सर्वोच्च साधना

सहज प्रश्न होता है कि आत्म-विकास की साधना क्या है? मै आपको संक्षेप मे बताना चाहूँगा—अपनी दुष्प्रवृत्तियो का निरोध कर जीवन मे सद्-प्रवृत्तियो का समावेश करना ही जीवन-विकास की सर्वोच्च साधना है। समूचे ससार को सुधारने की डीग भरने वाले मनुष्य, समूचे ससार को देखने वाले मनुष्य जब तक अपने को नही सुधारेंगे, अपने जीवन की ओर नही देखेंगे, जीवन मे प्रविष्ट दुष्प्रवृत्तियो का निरोध नही करेंगे तब तक विकास की सब कल्पनाएँ मानव मस्तिष्क की थोथी कल्पनाएँ होगी। जीवन-विकास का तत्त्व वहाँ नही है। अत आज की सबसे पहली आवश्यकता है कि व्यक्ति स्वदोष-दर्शन का अभ्यासी बन अपनी प्रवृत्तियो का शुद्धिकरण करे, बहिर्मुख प्रवृत्तियो को अन्तर्मुखी बनाये।

(मकराना में दिये गये प्रवचन से)

४८ : जीवन और लक्ष्य

आज मानव मे यदि सबसे बडी कमी आयी है तो वह यह है कि वह लक्ष्यहीन बनता जा रहा है। जीवन का वास्तविक लक्ष्य क्या होना चाहिए—इसे भूलकर वह अलक्ष्य को लक्ष्य मानने लगा है। जैसा कि अधिकाश मनुष्यो के जीवन को देखते है—जिस किसी तरह पैसा इकट्ठा कर लेना ही वे अपनी जिन्दगी का सबसे बडा कर्त्तव्य समझते है। उसे ही अपना चरम लक्ष्य मान बैठे है कि येन-केन-प्रकारेण धन से अपनी तिजोरियाँ भर ली जायँ। आदमी जैसा मन मे मान बैठता है, स्थिर कर लेता

है उसके जीवन की गतिविधि, क्रिया-प्रक्रिया वैसी ही वन जाती है। जब आदमी ने धन को जीवन का लक्ष्य माना तव वह उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय, जायज-नाजायज सभी तरह से इस ओर मुडा। फलतः शोषण-वृत्ति जागी, विषमता वढी, सामाजिक जीवन में वैमनस्य और शत्रुभाव पनपे। यह सव इसलिए हुआ कि मनुष्य ने अपने अलक्ष्य को लक्ष्य के आसन पर विठा दिया। यदि इन विपय समस्याओ और क्लेश-परम्पराओ से व्यक्ति वचना चाहता है तो वह अलक्ष्य को छोड लक्ष्य की ओर वढे। जीवन का सही लक्ष्य है—चारित्रिक शुद्धि, वृत्तियो का परिष्कार, नैतिक-विकास। इन्हे पाने के लिए इन्सान को जी-जान से कोशिश करनी चाहिए। ईमानदारी, सच्चाई, नीति, सद्भावना, विनय, सदाचरण और मैत्री ये सव सच्चे लक्ष्य की ओर दौडने वाले को सहज ही मिल जाते हैं। आज के सत्रस्त और क्लेशपूर्ण जन-जीवन मे यदि शान्ति और सुख लाया जा सकता है तो इन्ही के सहारे सभव हो।

हृदय की सरलता, निष्कपटता, विचारो की सादगी, शुद्धता—जीवन-व्यवहार मे सहज रूप से सात्विकता का समावेश करनेवाले सद्गुण है। पर यदि इनके साथ अहकार का मेल हो जाए तो ये सव लुप्त हो जाते है। इसलिए दूसरी विशेप वात मै आपको यही कहूँगा कि आप अपने अह को सयत वनाइए। अहकार आत्म-गौरव नही है, आत्म-पतन है। इन्ही शाश्वत तत्त्वो को आपलोग जीवन मे उतारने की कोशिश करें तो आपको एक नई प्रेरणा, नया वल, और नई स्फूर्ति मिलेगी।

डीडवाना
२९ मार्च '५६

४९ : अणुव्रत-क्रान्ति क्या है?

आज दुनिया मे विनाश का ताण्डव मच रहा है। एक आदमी दूसरे आदमी को, एक समाज दूसरे समाज को, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को चवा जाना चाहता है। अणुबम जैसे विध्वसकारी और भयावह अस्त्र-शस्त्रो का निर्माण क्या यह सावित नही करता? घटना ज्यादा पुरानी नही हुई है। जापान पर अणुवम गिरा। मानवता थर्रा उठी। कीडो-मकोडो की तरह लाखो प्राणी देखते-देखते मृत, अर्द्धमृत, मूर्च्छित और सज्ञा-शून्य-से हो गये। आज भी उसे स्मरण करते मनुष्य का कलेजा काँप उठता है। मानव ऐसा दानव क्यो वन जाता है! क्या वह धन, सत्ता और वैभव मरते वक्त अपनी छाती पर ले जायगा? इतिहास वताता है न कभी ऐसा हुआ और न आगे

५१ : अपरिग्रह की साधना, सुख की साधना

सुख की ओर मनुष्य की सहज गति है। मनुष्य की क्या, जगत् का प्रत्येक प्राणी वर्ग सुख का आकाक्षी है। दुःख अनायास होता है। सुख के लिए प्रयास करना पड़ता है। व्यक्ति दुष्प्रवृत्ति की ओर प्रवृत्त होता है। परिणाम में वह दुःखो से घिरा मिलता है। दुष्प्रवृत्तियाँ दुःख की जननी है। सुख प्रयास-साध्य है। उसके लिए साधना चाहिये, साधन चाहिए और आत्मबल भी। तीनों की अनुस्यूति से सुख का स्रोत प्रस्फुटित होता है।

अहिंसा और अपरिग्रह की साधना ही सुख की साधना है। लोग अहिंसा और अपरिग्रह की बातें अधिक करते है पर उन्हें जहाँ जीवन में उतारने का सवाल आता है वहाँ पीछे खिसक जाते हैं। यह पलायनवादिता साधना का अवरोधक पक्ष है। यह नही होना चाहिए। जो हों उनका जीवन में प्रयोग हो। अहिंसा की उपयोगिता सामाजिक, राजनीतिक और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी हो सकती है, इसे लोग नही समझते थे। हिन्दुस्तान में अहिंसा के बल पर स्वराज्य आया। लोगो ने राजनीतिक क्षेत्र में भी अहिंसा की उपादेयता आँकी। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में किये गये अहिंसा के प्रयोग भी प्रसन्नतासूचक हैं। इन प्रयोगो से अहिंसा का क्षेत्र व्यापक बना है। प्रत्येक कदम में सक्रियता होनी चाहिए तभी उस सिद्धान्त का रूप निखर पाता है। अत. अहिंसा के सक्रिय प्रयोगों की आवश्यकता है। मुझे विश्वास है कि अहिंसा से विश्व के सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय तनाव बहुत हद तक दूर हो सकते हैं। हमें इस ओर आगे बढ़ने की आवश्यकता है।

पूंजी की आकर्षण-शक्ति ने विश्व में तहलका मचा रखा है। पूंजी के सामने बड़ा से बडा भी झुक जाता है फिर तो पूंजी की प्रतिष्ठा स्वाभाविक है। अन्य महापुरुषो की अपेक्षा शायद भगवान् महावीर ने अपरिग्रह का अधिकाधिक उपदेश दिया पर उनके अनुयायी कहलानेवाले जैन लोग शायद धन-संग्रह की साधना में सबसे आगे हैं। यह सिद्धान्तो की अवहेलना ही तो है। धर्म सिद्धान्तो में अधिक आता है, जीवन में कम। यह धर्म की विडम्बना नही तो क्या है? शोषण और अन्याय द्वारा बहुत सारा धन-सग्रह कर थोड़ा-सा उसका वितरण कर देना, और दानवीर की उपाधि पा लेना आज की एक आम मनोवृत्ति हो गई है। बड़ा सस्ता सौदा है। लोग दान की ओट में धनपति बनते चले जाते हैं और दुनिया की सारी वाहवाही इकट्ठी कर लेते हैं। धर्म पुस्तकीय और सैद्धान्तिक बन रहा है,

लोग धर्माचरण की साधना से घबराते है। आत्म-बल शिथिल होता जा रहा है। यह एक बुरी स्थिति है। जब तक व्यक्ति धन-सग्रह की भावना को नही छोडेगा तब तक उसमे धार्मिकता आना सम्भव नही। धन की जगह हमें त्याग और सयम को ऊँचा स्थान देना है। जीवन की उच्चता और नीचता की तौल त्याग के आधार पर करनी है। यह जब होगा तभी व्यक्ति अपने जीवन में सुख का अनुभव कर सकेगा।

लाडनूं
२ अप्रैल '५६

५२ : आलोचना की सार्थकता

युवक शक्ति और प्रगति के स्रोत हुआ करते है पर आज का युवक वर्ग निरन्तर अकर्मण्यता की ओर बढता जा रहा है। जीवन की अनिश्चित दिशा ही उनकी अकर्मण्यता का मूल हेतु है। बुजुर्गों में युवको के प्रति जो अविश्वास की भावना है उसका आधार यह अकर्मण्य वृत्ति ही है। युवक प्रगति और विकास की बातें करते है पर स्वयं उसकी ओर अग्रसर नही होते। उनमें उत्साह है पर लक्ष्य में दृढता नही है। डाँवाडोल स्थिति में विकास के मार्ग पर चरण बढ़ते-बढते रुक जाते है। अतः विकास के पहले लक्ष्य की स्थिरता होनी चाहिए। दिशा की स्पष्टता पर प्रत्येक चरण गतिमान होता चला जाता है। इसीलिए मैं प्रगति और नवयुग का सृजन करने के हामी भरने वाले नौजवानो से यह कहना चाहूँगा कि उनमें तत्त्व-ज्ञान की बहुत कमी है। आध्यात्मिक ज्ञान के क्षेत्र में उनकी योग्यता नही के बराबर है। मैं चाहता हूँ कि वे भारतीय तत्त्वज्ञान के व्यापक और विस्तीर्ण क्षेत्र मे प्रवेश करें। अध्ययन और जीवन-मन्थन की उस स्थिति में युवको को एकाग्रता की साधना करनी होगी। एकाग्रता गम्भीर अध्ययन के लिए पहली अपेक्षा है। उनके जीवन का यह उदयकाल अध्ययनकाल बनकर उन्हें बहुत आगे बढा सकता है। साधना से सब कुछ प्रतिफलित होता है। युवक अपना आत्म-बल बटोरकर इस क्षेत्र मे प्रवेश करेंगे तो वे गम्भीर विचारक और विद्वान् बन सकेंगे। तत्त्व-ज्ञान और दर्शन क्षेत्र के नीरस लगने वाले विषयो के अध्ययन में उन्हें रुचि पैदा करनी चाहिए। कम कहने और ज्यादा करने के तत्त्व को वे अपना जीवन-सिद्धान्त बनाएं।

आज के युवक फैशन के शिकार है। विलासिता बढती जा रही है, आमोद-प्रमोद जीवन का सर्वोपरि एव आवश्यक अग बनता जा रहा है। घर

की आर्थिक स्थिति नाजुक है फिर भी वे फैशन को छोडना जीवन से हाथ धोना मानते हैं। अधिकाश की यही स्थिति है। युवक अपने मन और इन्द्रियों के आगे विवश हैं। सामाजिक प्रतिष्ठा के स्तर को ऊँचा रखने के लिए ऋण लेकर भी फैशन की वृत्ति का निर्वाह किया जाता है, शान-शौकत और राजसी ठाठ से शादी होती है। सादगी से नफरत होने लगी है। विलास ही जीवन का साध्य बनता जा रहा है और उसके लिए निरन्तर धन-सग्रह की धुन मे रहना होता है। साधन उचित हो या अनुचित, धन-सग्रह की साधना मे उनका औचित्य-अनौचित्य नही दीखता। राष्ट्र का नैतिक स्तर गिरता जा रहा है। इसी सग्रह और विलास वृत्ति के कारण, युवकों ने यह गलत लक्ष्य पकड़ा है। उस ओर से अब उन्हें मुड़ना है। जीवन मे सादगी, सदाचार, और सयम को स्थान देना है। ये ही वे गुण हैं जिनकी उन्हें साधना करनी है।

मै युवकों मे आई हुई एक बुरी मनोवृत्ति की ओर भी उनका ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा। उनमें हर एक की आलोचना करने की मनोवृत्ति पाई जाती है। आलोचना अगर दोष की विशुद्धि के लिए हो तो अच्छी है। छिन्द्रान्वेषण या थोथी आलोचना की वृत्तियाँ उनमें नही होनी चाहिये। उससे किसी दूसरे का नुकसान तो होगा या नही किन्तु आलोचक अपनी आत्मा का नुकसान तो कर ही लेगा। समय का निकम्मापन ही इसका मूल कारण होता है। इसलिये इस ओर सावधानी की आवश्यकता है। वे आलोचना के आदी हैं, साधुओ की आलोचना करते हैं, शौक से करें। साधुओ को फायदा है। गृहस्थो की आलोचना करते है, उनकी अपनी इच्छा है पर उनसे मै यही कहूँगा कि थोडा वे अपनी आलोचना की वृत्ति का भी स्वाद लें। क्या आन्तरिक आनन्द उसमें आता है, थोड़ा अनुभव करें। अपनी बुराइयों को निकालने का प्रयास करे तो आलोचना की सार्थकता हो सकती है।

लाडनूं
(युवक सम्मेलन)
३ अप्रैल'५६

५३ : शान्ति का पथ

आज का लोक-जीवन अशान्ति और विद्वेष के वीच से गुजर रहा है। संयम और सदाचार का अभाव ही इसका मूल हेतु है। लोग भौतिक सुख-सुविधाओं की ओर अधिक दौड़ते है, संयम का पक्ष कमजोर पड़ता जा

रहा है। आवश्यकताएँ दिन पर दिन बढ़ रही है फिर अशान्ति हो भी क्यो नही? जो कार्य अशान्ति के है उनसे वह बढ़ेगी ही। शान्ति का पथ इच्छाओं पर नियन्त्रण है, लालसाओ का नियमन है, आवश्यकताओ का सीमाकरण है। वह जब तक नही हो जाता लोक-जीवन शान्ति नही पा सकता।

आवश्यकताओं की पूर्ति करके शान्ति पाने का जो दृष्टिकोण वनता जा रहा है वह एक भ्रामक दृष्टिकोण है, जो जगत् पर अशान्ति की चिनगारियां उछाल रहा है। सयम की साधना ही शान्ति की साधना है, जिस पर आज के मानव को अग्रसर होकर वास्तविक सुख और शान्ति को प्राप्त करना है।

लाडनूं
४ अप्रैल '५६

५४ : महिलाओं से

आज चारो ओर अधिकारो की माग गूंज रही है। सव कहते है—हमारे अधिकार हमें सौपे जायँ। महिलाएँ भी इस माँग के लिए उत्सुक है। वे भी चाहती है उन्हें पुरुष के समान दर्जा मिले। इस सम्वन्ध में मेरा यह कहना है कि जीवन-विकास के क्षेत्र में रंग, लिंग, जाति, वर्ग आदि का कोई भेद है ही नही। वहाँ तो वही जीवन-विकास का सच्चा अधिकारी है, जो उसमें अपने को लगाता है। वहनो से मैं खास तौर से कहना चाहूँगा—पहले पहल वे दूसरी मागों को छोड़ें, अपने जीवन को सच्चे विकास के मार्ग पर ले जाने का प्रयत्न करें। केवल देखादेखी या वरावरी की वातो से क्या वनेगा? यदि सच्ची उन्नति के लिए उनमें तड़प होगी तो उनकी प्रगति रोके न रुक सकेगी। उनमे उत्साह और साहस होना चाहिए। ऐसा होने से उनके सारे कष्ट सरल बन जाते है।

महिलाएँ वनाव-शृङ्गार की दुष्प्रवृत्ति का निरन्तर अधिकतम शिकार वनती जा रही है। मुझे नही मालूम, क्या वे अपने को सिर्फ भोग सामग्री की वस्तु ही समझ रही हैं? यदि उनमें ऐसी भावना घर कर गई है तो मैं उनसे पुरजोर शब्दों में कहना चाहूँगा कि वे इस भावना को अपने हृदय से निकाल दे। जीवन का सही साध्य जो स्थूल शरीर से मुक्ति पा अपने आत्म-स्वरूप में स्थित होना है, वे उसे भूलें नही। महिलाएँ वीराङ्गनाएँ होती है। वे अपनी आत्म-शक्ति को क्यो भूल जाती है? अपनी लोक-लाज की रक्षा के लिए जहाँ उन्होने हँस-हँस कर अपने प्राणो की आहुतियाँ दे दी है वहाँ क्या वे अपने जीवन-विकास के लिए इन

आभूषणो और कीमती वस्त्रों का त्याग नही कर सकती ? वे अपने जीवन को विलास और ऐश्वर्य से मोड कर त्याग और सयम की साधना मे लगाये।

महिलाओ में धर्म के प्रति हार्दिक श्रद्धा है, मै इसे भूल नही रहा हूँ। पर तो भी मै यह महसूस कर रहा हूँ कि उनमे वह श्रद्धा कुछ कमजोर बनती जा रही है। आदिकाल से धार्मिक क्षेत्र मे महिलाओ का एक गौरवपूर्ण स्थान रहा है। यदि वे उस क्षेत्र मे अपना स्थान रखना चाहती है, पुरुष-समाज को अपने जीवन से प्रेरणा देना चाहती है तो उसे धर्म के प्रति अपनी श्रद्धा को प्रबलतम बनाना होगा। मै यह भी नही चाहूँगा कि उनमे अन्धश्रद्धा ही रहे। वे ज्ञान के क्षेत्र मे उन्नति करती हुई श्रद्धा को मजबूत बनाये। जीवन मे तत्त्व-ज्ञान और तत्त्व चिन्तन की प्रकाश-रश्मियो को स्थान दे। समाज और राष्ट्र को उन्होने बहुत कुछ दिया है और वे अब भी महिलाओ से आशा रखते है। मुझे विश्वास है कि महिलाएँ अपने आध्यात्मिक जीवन को उठाती हुई समाज, राष्ट्र और विश्व के सच्चे कल्याण की ओर अग्रसर होगी।

लाडनूं
५ अप्रैल '५६

५५ : शुद्ध जीवन-चर्या

भोगवाद और सुविधावाद आज लोगों के जीवन पर हावी हो रहे हैं। भोगोपभोग की प्रचुर सामग्री और सुविधा पाने के लिए व्यक्ति सग्रह और शोषण की ओर बढता है। साथ ही साथ जहाँ भोग, वासना जीवन का लक्ष्य मान लिया जाता है, वहाँ व्यक्ति सदाचार, सच्चाई और ईमानदारी का उल्लघन करते जरा भी नही हिचकिचाता, क्योकि उसका मन वास्तविकता सदाचार आदि सद्गुणो में नही लगता। उसे वास्तविकता विषय-वासना मे मिलती है। यह मानव का बहुत बड़ा मानसिक अथवा वैचारिक पतन है। बुराइयो की ओर बिना रुके लुढकने की यह वह फिसलन है जो व्यक्ति को अवनति के रसातल तक ले जाये बिना नही छोडती। भोगवाद और सुविधावाद ही अनैतिकता के पनपने का मुख्य आधार है। मै कहना चाहूँगा कि व्यक्ति अपने मन से विषय-वासना और भोग लोलुपता की दुष्प्रवृत्तियो को निकाल फेंके। ये जीवन को डँसनेवाली वे सर्पिणियाँ है, जिनका जहर मनुष्य को समाप्त किये बिना नही रहता। भोग और सुविधा मे जो सुख की परिकल्पना करते है, वह मिथ्या है, कल्पित है। जो सुख, अहिंसा,

सत्य, शील, सदाचार जैसे गुणों की उपासना मे है, वह भोगोपभोग में कहाँ ? इसलिए सबसे पहले मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी मनोवृत्ति को सुधारे, मान्यता को ठीक करे। वाह्य सुख-सुविधा और भोग-वासना के बदले आत्म-शुद्धि, शालीनता और शुद्ध जीवन-चर्या को वह अपना साध्य माने। ऐसा करने से नैतिकता स्वयं जीवन में प्रस्फुटित होगी। अनैतिक आचरण पर सहज रोक लगेगी।

यदि इस ओर मानव अग्रसर हुआ तो मुझे विश्वास है कि उसका जीवन वास्तव में सुखी और शान्तिपूर्ण बनेगा।

लाडनूं
५ अप्रैल '५६

५६ : कथनी और करनी में एकता लाएँ

आज धार्मिक क्षेत्र में साम्प्रदायिक तनाव कुछ कम हो रहा है, यह प्रसन्नता की बात है। साम्प्रदायिक आग्रह जहाँ पलता है वहाँ तत्त्व-चिन्तन की दिशा नही बनती। तत्त्व-चिन्तन की दिशा बने बिना मूल्याकन की दिशा सही नही बनती। भेद-अभेदमूलक तत्त्वो को अनाग्रह बुद्धि से या निष्पक्ष बुद्धि से देखा जाए तो हम से एक दूसरे के व्यापक प्रसार की बहुत बड़ी अपेक्षा है।

आज हरएक वर्ग के व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि उसके जीवन में नैतिकता आये। नैतिकता की आवाजे आज बहुत लगती है पर उनका आचरण कम होता है। कथनी और करनी की इस विषमता को आज पाटने की आवश्यकता है। कहने के पीछे हृदय की निष्ठा होनी चाहिए। वह निष्ठा कहने के पूर्व स्वय जीवन में उतारने से आती है। इसलिए कहने के पूर्व आचरण-भूमिका का निर्वाह होना चाहिए। आचरित धर्म का उपदेश दूसरो के लिए प्रेरणादायी होता है। अत आज कहने के वजाय करने का समय है। अणुव्रत-आन्दोलन जीवन-धर्म का आन्दोलन है। उसका व्रत प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में आना चाहिए। नैतिक क्रान्ति की सही दिशा मे यह एक आवश्यक कदम है। इसलिए सबको इसकी ओर अग्रसर होना चाहिये।

सुजानगढ़
६ अप्रैल '५६

५७ : कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव

जैन-दर्शन के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य मुक्ति है। भारत के अन्यान्य दर्शन भी प्राय ऐसा ही मानते हैं। जैन-दृष्टि से मुक्ति का अर्थ है—आत्मा का कर्म-बन्धनो से सर्वथा छूट जाना—अपने शुद्ध स्वरूप में अधिष्ठित होना। ऐसा होने पर आत्मा को फिर जन्म-मरण, आवागमन के चक्कर में नही पडना होता है क्योकि ये सब कर्म-जन्य है। इनका बीज कर्म है। आत्मा के साथ जब कर्मो का कोई लगाव ही नही रहा तो उनका प्रतिफल उस पर क्यो घटे ?

क्रोध, मान, माया और लोभ—ये मुक्ति के बाधक तत्त्व हैं, कर्म-बन्धन के चक्कर में प्राणी को भटकानेवाले हैं। इसके साथ ही साथ वर्तमान जीवन को भी ये अशान्त, क्लेशपूर्ण और विषम बनानेवाले हैं। इन्हें कषाय कहा जाता है। यदि हम गहराई से सोचे तो यह प्रतीत होगा कि मनुष्य क्रोध आदि मे जितना अधिक ग्रसित होता है, उसका जीवन उतना ही अस्त-व्यस्त, असन्तुलित और भारी बनता जाता है।

क्रोधी व्यक्ति में स्थिरता नही पनपती। वह बात-बात में आग-बबूला होकर अपना धीरज खो बैठता है। वह शान्ति से किसी भी बात को सोच तक नही सकता। वह हर विषय का तत्काल निर्णय कर लेता है। इसका परिणाम अच्छा नही होता। वह अपने पारिवारिको, मित्रों और साथियों का स्नेह और विश्वास नही पा सकता। उसके मनोभाव उज्ज्वल नही होते। उसमें उग्रता, तीव्रता और कलुषितता रहती है। इससे वह कठोर बन्धनो का बन्धन करता रहता है।

मान का अर्थ है अपने को बडा मानना ; विद्या, बुद्धि, वैभव आदि में अपने समक्ष औरो को तुच्छ गिनना। मान मानव की सरलता, विनयभावना आदि को क्षीण करता है। इससे अहं, दभ और अहंपोषण की वृत्ति बढती है। गुण-ग्राहकता की भावना कम होती है। विद्या, बुद्धि आदि की प्रचुरता हो, फिर भी अभिमान नही करना चाहिए। अभिमान इसके विकास को रोकता है। आत्मा की परिशुद्धि और उन्नति में बाधा डालता है।

माया का अर्थ है—दम्भचर्या, छल और कपट। इससे आत्मा में कुटिलता आती है। भावना मलिन होती है। चिन्तन अशुभ रहता है। मायावी व्यक्ति का लोग भरोसा नही करते। उसका सामाजिक जीवन भी अशान्त, अविश्वस्त, और असम्मानपूर्ण रहता है। हर व्यक्ति उससे नेपथ्र को बचाये रखने का प्रयास करता है। उसका जीवन लाँछित और प्रताड़ित रहता है।

लोभ सब बुराइयों का मूल है। कौन नही जानता—लोभ में फँसा व्यक्ति कैसा-कैसा दुष्कर्म कर डालता है। हिंसा, चोरी, धोखा, अप्रामाणिकता इन सब दूषित वृत्तियो का कारण लोभ ही तो है। यह आत्मा को गिरानेवाला है।

जबतक इन चारो कषायो से व्यक्ति अपने को नही छुड़ा सकता, वह मुक्ति की ओर आगे बढ़ नही सकता। एक पूर्वतन आचार्य ने कहा है—"**कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव।**" अर्थात् कषायो से मुक्त होना ही मुक्ति है।

सुजानगढ़
१० अप्रैल '५६

५८ : आन्तरिक सौन्दर्य

महिलाएँ बाह्य सौन्दर्य, सुसज्जा और प्रसाधन को जीवन का मुख्य ध्येय मान आन्तरिक सौन्दर्य-अर्जन को न भूलें। उनके जीवन-व्यवहार में सुन्दरता आनी चाहिए। अन्तर्वृत्तियों में सुन्दरता आनी चाहिये। उनका कोई कार्य ऐसा न हो, जो असुन्दर हो। अर्थात् उनमें हिंसक-भाव, दम्भचर्या, प्रताडना और कालुष्य न हो। उनकी वृत्तियाँ निर्मल और निष्पाप हो। वे किसी के प्रति असद्-व्यवहार न करे, किसी का जी न दुखाएँ। व्यवहार व भाषा में कटुता न बरतें। दूसरों को हीन व तुच्छ न समझें। घर के बड़े-बूढो के प्रति अविनय-भाव न रखें। उनका जीवन सादा और विचार ऊँचे हों। इसीका नाम आन्तरिक सौन्दर्य है, जो आत्म-शुद्धि का हेतु है।

सुजानगढ़
१० अप्रैल '५६

५६ : उत्तम, मंगल और शरण

जैन-दर्शन कर्मवादी दर्शन है। पुरुषार्थ का वहाँ बहुत बडा स्थान है। अपना उत्थान-विकास मानव के कर्त्तव्य से बनता है। इसके लिए वह स्वय उत्तरदायी है, दूसरा कोई नही। तभी तो भगवान् ने कहा है—**"आत्मा ही सुख-दुःख का कर्त्ता-विकर्त्ता है। वह अपना मित्र है, यदि वह**

सत्प्रयुक्त है। वह अपना शत्रु है, यदि वह दुष्प्रयुक्त है। वह स्वयं अपना तारक है, अपना उद्धारक है। दूसरा कोई नहीं।"

व्यवहार की भाषा मे गुरु आदि पूज्य जनो के प्रति जो कहा जाता है, आप हमें तारनेवाले है, हमारा उद्धार करनेवाले है, वह हृदय की भक्ति और विनय का परिचायक है। वस्तुत तारना—जीवन को ऊँचा उठाना, गिराना, विकारो में पडना यह तो मानव की अपनी जिम्मेवारी है। जैसा वह करेगा, पायेगा। गुरु-मार्ग दर्शक है। वह सच्ची उन्नति का मार्ग वतग्ता है। व्यक्ति यदि उस मार्ग पर आत्मबल और उत्साह के साथ आगे वढता है तो अपने जीवन-विकास के लक्ष्य में सफलता पाता है।

भगवद्वाणी में ज्ञान के अमूल्य रत्न भरे पड़े है। एक-एक पद श्रेयस् का वह सन्देश देता है, जिसके सहारे जीवन बहुत विकसित हो सकता है। मागलिक पाठ आप अनेक बार सुनते है। वहाँ कितना उच्च आशय है। संसार के भौतिक सुख-सम्पदाओ को आज का मानव मंगल मानने लगा है। वह वास्तविक मगल नही है। तत्त्वत· वह अमगल है। अकल्याण है। वास्तविक मंगल की कैसी सरस छटा है.

चत्तारि मंगलं, अरिहंता मंगलं।
सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं।
केवलीपन्नत्तो धम्मो मंगलं।

अर्थात् जिन्होने राग-द्वेष आदि आत्म-विघातक शत्रुओ का हनन, उच्छेद कर डाला—वे अर्हत् मगल है। उन्होने विश्व को मगल की ओर जाने का मार्ग-दर्शन दिया है। समस्त कर्म-बन्धनो को तोड़, विजातीय तत्त्वो से सर्वथा परे हो जिन्होने सिद्धि, चरम सफलता पा ली, वे सिद्ध मगल है। विश्व के लिए वे आदर्श है, प्रेरणापुज हैं, सासारिक सुख-सुविधाओ और प्रलोभनो को छोड जिन्होने अपना जीवन-सत्य-अहिंसा, आदि महाव्रतो की सावना में सम्पूर्णत लगा दिया—वे साधु मंगल है। साधना के पथ पर अविरल और अविश्रान्त गति से आगे बढते हुए जन-समाज में वे स्फुरणा का संचार करते है। आत्मशुद्धि, और आत्म-सम्मार्जन का जो साधन है, पथभूले राही को जो जीवन का सही पथ बतलाता है—वह धर्म मंगल है।

इनसे वढकर और क्या मगल होगा? लोग इस पवित्र वाणी का तत्त्व हृदयगम करे। इन्ही मांगलिक प्रश्रयो का सहारा लेने से मानव अपने जीवन में सच्चा आनन्द और शान्ति पायेगा, ऐसा मेरा सहज विश्वास है।

भगवान् ने इन्ही की शरण को सच्चा सहारा कहा है·

चत्तारि सरणं पवज्जामि।
अरिहंता सरणं पवज्जामि।
सिद्धा सरणं पवज्जामि।
साहू सरणं पवज्जामि।
केवलीपन्नतं धम्मं सरणं पवज्जामि।

जीवन की दृष्टि अन्तर्मुखी बनेगी तभी व्यक्ति अध्यात्मवाद का उपासक बन सकेगा। आज व्यक्ति सुबह उठकर अखबार पढना चाहेगा, गीता, धम्मपद और जैनसूत्रो के पाठो के स्मरण मे उसकी रुचि नही रही है, फिर आत्म-विकास का प्रश्न ही नही उठता यह सब भौतिक दृष्टिकोण की प्रबलता का परिणाम है। अध्यात्म-दृष्टि का आज अभाव होता जा रहा है। यह खेद का विषय है। मैं चाहूँगा कि आप प्रवृत्ति-शोधन और अध्यात्म-दृष्टि के विकास की ओर अग्रसर हों और अपने को सफल और सार्थक बनायें।

सुजानगढ़
१२ अप्रैल '५६

६० : पेटू साधु, साधु नहीं

जैनधर्म में सयम का सबसे ऊँचा स्थान है। सन्यस्त जीवन या साधु-अवस्था सयम का सक्रिय प्रतीक है। साधु जीवन भर के लिए सयम पालन का दृढ संकल्प लेकर विचरता है। जहाँ एक ओर वह प्राणपण से अध्यात्म-साधना या सयताचरण मे अपने आपको लगाए चलता है वहाँ दूसरी ओर वह जन-साधारण मे सयम और त्याग की भावना का सचार करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। लोगो से वह इसका बदला नही चाहता। लोक-जागरण भी उसकी साधना का एक अग है। जीवन चलाने के लिए उसको भोजन चाहिए। तन ढँकने के लिए वस्त्र चाहिए। पर इस अल्पतम आवश्यकता-पूर्ति के लिए भी वह समाज पर भार नही बनता। साधु आचार-परम्परा की मर्यादा ही ऐसी है।

एक गृहस्थ अपने लिए भोजन बनाता है। सयोग से साधु उसके यहाँ भिक्षा के लिये आ जाये तो वह अपने खाने में सकोच करके कुछ देना चाहेगा तभी साधु स्वीकार करेगा। साधु को जितना दे देगा वह गृहस्थ पुन पका कर उसकी पूर्ति नही कर सकेगा। उस बचे हुए भोजन से ही उसे काम चलाना होगा। इसका तात्पर्य यह है कि वह साधु के निमित्त

कुछ भी तैयार नही कर सकता। ऐसा करना जैन-शास्त्रो में दोष माना गया है।

साधु जब भिक्षा के लिए जाता है तो वह देनेवाले से पूछता है- उसने कही साधु के निमित्त तो भोजन तैयार नही किया? पूरी जाँच के बाद साधु भोजन का अल्पांश ग्रहण करता है। भिक्षा-ग्रहण का दूसरा नाम गोचरी भी है। जिसका अर्थ है—जैसे गाय किसी एक ही स्थान पर पेट भर नही चरती। थोडा-थोड़ा चरती जाती है और आगे बढती जाती है, इसी प्रकार साधु एक ही घर से अपनी पूर्त्ति नही कर लेते। वे थोडा-थोड़ा कई घरो से लेते हैं, जिससे देनेवालो पर भार न पडे।

जैन-शास्त्रो मे साधु को आहार-ग्रहण में ४२ दोषों को टालने का निर्देश किया गया है। जैसे—साधु के निमित्त जो भोजन पकाया गया हो, उसे आधाकर्मी दोष कहा जाता है। ऐसा भोजन साधु के लिए अग्राह्य है। किसी गृहस्थ के यहाँ दूसरे मेहमान आनेवाले हैं। वह भोजन तैयार करवाता है। साथ-साथ में ऐसा भी सोच लेता है कि साधु भी आनेवाले हैं, उनके लिए भी भोजन तैयार होना चाहिए। जहाँ भोजन पकाने में यह दृष्टि रहती है। आनेवाले मेहमानो के साथ-साथ साधुओ के लिए भी उसका उद्देश्य है। ऐसा भोजन औद्देशिक दोषपूर्ण है। उसे साधु नही ले जा सकता। इसी प्रकार और भी दोष हैं।

साधु को इन दोषों के परिहार के लिए प्रतिक्षण जागरूक रहना पडता है, क्योकि उसके जीवन का लक्ष्य अच्छा खाना-पीना और मौज-मजा करना नही है। उसका लक्ष्य है आत्म-शुद्धि, जन-जीवन की शुद्धि। इस लक्ष्य से परे होकर साधु, साधु नही रह जाता। वह साधु के वेष में असाधु है, पेटू है।

लाडनूं
१४ अप्रैल '५६

६१ : पूज्यश्री कालुगणी की स्मरण-तिथि पर

आज छठ है। परम श्रद्धेय पूज्य कालुगणी का छठ के दिन ही स्वर्गवास हुआ था। यह उनकी स्मरण-तिथि है। श्री कालुगणी महान् पुण्यवान् पुरुष थे। उनका जीवन अत्यन्त ओज, आत्मबल और साहस का जीवन था। उनके जीवन मे अनेको संघर्ष आये पर उनके अपरिमित आत्मबल के समक्ष वे टिक नही सके। स्वत. समाप्त हो गये। ओसवाल जाति में

देशी-विलायती का भयानक संघर्ष उनके समय मे आया, जिसने ओसवाल जाति की मर्यादा, एकता और संगठन पर एक गहरी चोट की। लोग साधुओ को भी उससे जोडने लगे। कितनी वडी भूल की वह बात थी। साधुओं को ऐसे सघर्षों से क्या? पर जो लोग गहराई से नही सोचते, वे असलियत को नही पकड सकते। वे गलत भ्रम मे पड़ जाते है। आचार्य श्री कालुगणी ने उस समय जिस दूरदर्शिता, आत्मदृढ़ता एवं निपुणता से काम लिया, वह सर्वविदित है।

संघर्ष से भागना या अनावश्यक सघर्ष मोल लेना दोनों ही अनुचित है। यदि जीवन मे सघर्ष आता है, विवेक के साथ उसका सामना किया जाता है तो वह एक अभिनव ज्योति देता है पर यदि अविवेक से यों ही संघर्ष खडा किया जाता है तो उससे शक्ति का दुरुपयोग होता है। पूज्यपाद कालुगणी सदा इस ओर जागरूक थे।

उन्होने अपने जीवन-काल में दो विशेष यात्राएँ की—मारवाड की तथा मालवा की। बडी सुन्दर व अध्यात्म प्रेरणादायी वे यात्राएँ थी। मुझे इन यात्राओ मे उनके साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मालव यात्रा के पश्चात् गंगापुर में उनका स्वर्गवास हुआ। उनके अन्तिम समय के संस्मरण मुझे आज भी एक सजीव प्रेरणा देते हैं। शासन के उत्तरदायित्व को मैं सफलता के साथ सम्भाल सकूं, इसके लिए उन्होने मुझे जो सत् शिक्षाये दी, उन्हें याद करते आज भी मेरा हृदय गद्गद् हो उठता है। श्री कालुयशोविलास में मैंने उनका यथास्थान उल्लेख किया है। वे कहने लगे.

श्रमण श्रमणी सहु ए थारे शरणे रे
तू रहिजे सदा एहने उद्धरणे रे
मुनिप महामना!

अर्थात् संघ के समग्र साधु-साध्वी तुम्हारी शरण मे है। तू सदा इनके उद्धार—विकास के लिए सतत जागरूक रह। सघ में बालक भी है, वृद्ध भी है, बीमार भी है, सबकी देख-भाल यथावत् होनी चाहिए। किसी के मन में यह न आने पाए कि हम यहाँ निराश्रय है।

आगे उन्होने मुझे स्फुरणा देते हुए फरमाया, "तुम्हें एक बृहत् साधु संघ का परिचालन करना है। जिसका कार्य शाबासी देने योग्य हो, उसे शाबासी देना, उसका उत्साह बढ़ाना; जिसका कार्य उपालम्भ देने योग्य हो, उसको उपालम्भ देना। संघ के ऐक्य, अनुशासन व संगठन को विकसित करने के लिए यह आवश्यक हैं। गण की एक-एक मर्यादा कायम रहे, उन्हें सब जीवन-प्राण समझें, ऐसा करना। इतने बड़े भार को देख घबराने

की आवश्यकता नहीं है। मजबूती और आत्म-बल से आगे बढ़ते रहना।"

अपने प्रात. स्मरणीय गुरुवर्य के ये स्फूर्तिप्रद उद्‌गार क्या कभी भूले जा सकते हैं? उनसे मुझे बड़ा बल मिलता है।

श्री कालुगणी एक सहज संस्कारी और ओजस्वी महापुरुष थे। यह तभी से विदित था जब पूज्यपाद सप्तमाचार्य श्री डालगणी पट्‌टासीन हुए।

श्री डालगणी का निर्वाचन पूर्वतन आचार्य द्वारा नही हुआ था, क्योंकि षष्ठाचार्य श्री श्रीमाणकगणी उत्तराधिकारी का बिना निर्णय किये ही दिवंगत हो गये थे। श्री डालगणी का निर्वाचन उनकी अनुपस्थिति में साधु-संघ द्वारा हुआ था।

श्री डालगणी पधारे। मुनिश्री मनगलाल जी से पूछने लगे—आपलोगो ने मेरा निर्वाचन किया है। मुझे पूछना तो था। मुनिश्री मगनलाल जी कहने लगे—इसमें पूछना क्या था? आप सर्वथा योग्य हैं। हमने आपको चुन लिया। श्री डालगणी बोले—यदि मैं नही स्वीकार करता तो? मुनि श्री मगनलालजी ने कहा—स्वीकार कैसे नही करते? हम आपके पैरों पडते, आपको मनाते, राजी करते। श्री डालगणी ने फरमाया—मान लीजिये मैं फिर भी नही मानता तो आपने किसको सोच रखा था? मुनिश्री मगनलाल जी बोले—हमलोग विनती करते, नम्रता दिखाते, आखिर हमारी बात मानते ही आप। श्री डालगणी ने फिर फरमाया—मान लें, फिर भी मैं नही मानता, मेरा अधिकार तो मुझपर है, वैसी हालत में आप किसको चुनते। तब मुनिश्री मगनलाल जी ने कहा—हम अपनी ओर से पूरी चेष्टा करते, उसपर भी आप यदि स्वीकार नही करते तो हमारा ध्यान श्री कालुजी के लिए था। तब, श्री डालगणी बोले—मेहनत मैंने भी बहुत की पर यहाँ तक मेरी दृष्टि नही पहुँची।

तभी से श्री डालगणी की दृष्टि उन पर लग गई। श्री डालगणी के उपरान्त श्री कालुगणी पर संघ का भार आया, जिसे उन्होने अपने पूर्वतन आचार्यों की तरह अत्यन्त योग्यता के साथ निभाया। वे प्रभावशाली पुरुष थे। मारवाड़, मेवाड़ तथा मालवा-यात्रा के अतिरिक्त ढूंढाड़, हरियाणा प्रभृति अन्यान्य प्रदेशो की भी उन्होने महत्त्वपूर्ण यात्राएँ की। थली-प्रदेश को आपने अपने उपदेशामृत से चिरकाल तक सीचा। शासन का उन्होने सर्वतोमुखी विकास किया। तप, [illegible] विद्या, साहित्य [illegible] उनके प्रयास व निर्देशन में साधु-सघ [illegible] प्रसार हुआ [illegible]

यह पूज्यपाद श्री कालुग[illegible] है कि शासन दिन पर दिन विकासोन्मु[illegible] । को पूर्ण देन दे रहा है। शासन के [illegible]।

कर्त्तव्य है कि वे शासन की मर्यादाओ मे रहते हुए अपने जीवन और तपस्या को त्याग की ओर वढाएँ। जहाँ शासन में अनेकानेक तपस्वी, वैरागी साधु, साध्वी हुए, वहाँ श्रावक-श्राविकाओ मे भी धर्म के प्रति अटल रहने वाले, अपने को कठिन तपस्या एव साधना में लगानेवाले अनेको हुए हैं। इससे सब प्रेरणा लें।

लाडनूं
१५ अप्रैल, '५६

६२ : आत्म-पवित्रता का साधन

धर्म आत्म-पवित्रता का साधन है। आत्मा पर आई मलीनता को दूर करने के लिए, आत्मा की पवित्रता लिए या आत्मा को अपनी वास्तविक स्थिति में लाने के लिए धर्म की आवश्यकता और उपयोगिता है। हिंसा से आत्मा अपवित्र वनती है इसलिये हिंसा का निषेध किया गया। जो वडे हैं उन्हे सुख की अधिक जरूरत है, छोटो को सुख की जरूरत नही या उन्हे जीने का अधिकार नही, जहाँ यह भावना बन जाती है वहाँ आत्मा का अस्तित्व भुला दिया जाता है। आत्मा-आत्मा में समानता है—यह भावना बने विना जीवन में अहिंसा नही टिक सकती। जैनधर्म या आत्मधर्म सब प्राणियो के प्रति समानता की भावना देता है। जहाँ जीवन के आदि छोर में व्यक्ति जीने की वाछा करता है वहाँ जीवन के अन्तिम क्षण में भी वह जीने की वाछा रखता है। सब जीने की वाछा रखते है तब किसी को मारने का किसे अधिकार हो सकता है? सबके प्रति समभाव, शत्रु के प्रति भी प्रेम का व्यवहार, यही वास्तविक अहिंसा है जिसकी ओर सबको आगे वढना है।

आत्म-शान्ति अन्तरात्मा से उद्भूत होती है। वाह्य शान्ति वास्तविक शान्ति नही है। बाहरी शान्ति को ही वास्तविक शान्ति माननेवाला भौतिक पदार्थों की खोज में भटकता रहता है, उलझता रहता है और उसी में निरतर रमा रहता है। फिर भी उसे शान्ति नही मिलती। कारण स्पष्ट है—ज्यो-ज्यो वह पदार्थों के माध्यम से तृप्ति की ओर बढना चाहता है, अतृप्ति की परम्परा और लम्बी बनती चलती है। अतृप्ति मिट नही रही है। फलस्वरूप शान्ति दूर वहुत दूर चली जा रही है। अशान्ति की जलती चिनगारियाँ मानव को सुख की साँस नही लेने देती। वह शान्ति की खोज में है और नाना प्रकार की प्रक्रियाओं की ओर गति कर रहा है। ध्यान रहे, शान्ति का एक ही मार्ग है और वह है—आत्मशुद्धि—आत्मपरिष्कार।

यदि लोग इस ओर अग्रसर हुए तो इसमें सन्देह नही कि उनका जीवन शान्ति को अवश्य आत्मसात् करेगा।

हर व्यक्ति विकास करना चाहता है, अपने जीवन को उन्नत देखना चाहता है। सही भी है—विकास होना भी चाहिए। वह क्या जीवन को जीवन को पुरानी स्थिति में ही चलाता रहे, विकास की ओर प्रगति न करे। अतः यह सही है कि विकास जीवन के लिए इष्ट है और उसके लिए व्यक्ति को सदैव सजग और सचेष्ट रहना चाहिए। विकास के भी अनेक रूप हैं। कोई परिग्रह की वृद्धि को कोई साम्राज्य की वृद्धि को और कोई नाना सुखोपभोगो की वृद्धि को ही विकास मानता है, किन्तु यह वास्तव में जीवन का विकास नही है। भारतीय-दर्शन आत्मवादी दर्शन है। उसके दृष्टिकोण से आत्मा का विकास ही सर्वोपरि श्रेष्ठ विकास है। दैहिक विकास की अपेक्षा यहाँ आत्मा के विकास की महत्ता रही है और आध्यात्मिक दर्शन-क्षेत्र के समग्र प्रयत्न आत्मा के विकास की ओर अग्रसर हुए हैं। आत्मा परम तत्त्व है। व्यक्ति आत्मा से परमात्मा बनने की ओर निरन्तर उन्मुख होता रहे—यही जीवन-विकास की सही दिशा है, जिसकी ओर सबको प्रयाण करना है।

सहज प्रश्न होता है कि आत्मा-विकास की साधना क्या है? मैं आपको संक्षेप में बताना चाहूँगा—अपनी दुष्प्रवृत्तियों का निरोध कर जीवन में सद्-प्रवृत्तियो का समावेश करना ही जीवन-विकास की सर्वोपरि साधना है। समूचे संसार को सुधारने की डीग भरनेवाले मनुष्य—समूचे ससार को देखने-वाले मनुष्य जब तक अपने को नही सुधारेंगे, अपने जीवन की ओर नही देखेंगे, जीवन में घुसी हुई दुष्प्रवृत्तियो का निरोध नही करेंगे तब तक विकास की सब कल्पनाएँ मानव-मस्तिष्क की थोथी कल्पनाएँ होगी। जीवन-विकास का तत्व वहाँ नही है। अत. आज की सबसे पहली आवश्यकता यह है कि व्यक्ति स्वदोष-दर्शन का अभ्यासी होकर अपनी आन्तरिक प्रवृत्तियो का शुद्धिकरण करे, और वहिर्मुख प्रवृत्तियों को अन्तर्मुखी वनाये।

६३ : युवकों में विचार स्थैर्य्य हो

मैं चाहता हूँ, युवक अधिक से अधिक संयम तथा त्याग की ओर मुड़ें। जीवन में घुसी हुई बुरी प्रवृत्तियों को छोड़ स्वयं को सत्-प्रवृत्तियो में लगाएँ। हिंसा, असत्य जैसे आत्म-पतनकारी दुर्गुणों से मुँह मोड़ें। इससे वे जीवन में शान्ति और सुख का अनुभव करेंगे। मैं तो इसे ही अपना स्वागत या अभिनन्दन मानता हूँ।

युवको मे मैं जो उत्साह देख रहा हूँ, इससे लगता है कि धर्म के प्रति उनके मन में रुचि है, लगन है। युवक दिखावे या बाह्याडम्बर को पसन्द नही करते। वे तो वास्तविकता मे विश्वास करते है। उनके यहाँ ऐसा मिलता है तब रुचि और निष्ठा क्यों न हो! युवकों मे जोश है, साहस है, स्फूर्ति है, काम करने की अभिरुचि है। यह मैं जानता हूँ पर वे इन बहुमूल्य शक्तियो का उपयोग निर्माण मे करे, विध्वस में नही।

युवको से मैं कहना चाहूँगा कि वे कम से कम तीन बातों को विशेष रूप से स्वीकार करे—ज्ञान-विकास, आचार-शुद्धि, विचार-स्थैर्य्य। ज्ञान जीवन का महत्त्वपूर्ण पहलू है। उसके बिना उन्नति की केवल रट लगाई जा सकती है, वास्तविक उन्नति नही हो सकती। नौजवानो को अपना अधिक से अधिक समय ज्ञानार्जन, अध्ययन, चिन्तन व मनन मे लगाना चाहिए। वे अपने आचरण को सात्त्विक और उज्ज्वल बनाएँ। उनका आचरण ऐसा हो कि दूसरो के सामने वह एक आदर्श के रूप में रखा जा सके। तीसरी बात विचारो की स्थिरता की है। आज कुछ सोचा, कल कुछ सोचा, इस तरह की वैचारिक अस्थिरता और चचलता उचित नहीं। यह जीवनस्तर को छिछला और निस्तेज बनाती है। आशा है, युवक इन तीन बातो पर ध्यान देते हुए जीवन को तदनुरूप बनाने का प्रयास करेगे।

पड़िहारा,
२६ मई '५६

६४ : त्याग और सदाचार की महत्ता

प्रत्येक श्रावक मे आत्म-दृढता और सत्य-निष्ठा होनी चाहिए। उनमे निर्भीकता होनी चाहिए। वे विचारो मे उलझे हुए न हो, स्पष्ट हो। वे दुधमुँहे न बनें। सामने कुछ कहा और परोक्ष में कुछ। यह आत्म-दुर्बलता का सूचक है। मैं उनमे ऐसी कमजोरी देखना नही चाहता। शासन के सूत्रो को वे दृढता के साथ पालें। यदि उनके मन मे किसी विषय को लेकर कुछ विचार आ जाए तो उन्हें मेरे समक्ष रखने की पूरी छूट है। मैं तो सत्य का पक्षपाती हूँ, जो भी सत्य है, वह मेरा है। असत्य का समर्थक मैं नही।

मैं कहा करता हूँ कि धर्म व्यक्ति के व्यावहारिक जीवन मे स्थान पाये। उसमें सात्त्विकता एवं उज्ज्वलता पैदा करे। इसमे उसकी बहुत बडी सार्थकता है। मैं चाहता हूँ, श्रावक समाज अनैतिक वृत्तियो से मुँह मोड़े। पैसे

को ही जीवन का लक्ष्य न मान त्याग और सदाचार की महत्ता का मूल्य आँके। अणुव्रत-आन्दोलन मानव-मानव को इस ओर ले जाने का एक साधन है। श्रावकों को हिचकिचाहट और झिझक छोड स्वय को इससे सम्बद्ध करना है।

पड़िहारा,
२८ मई '५६

६५ : अन्तिम साध्य

आज के मानव का जीवन यदि हम देखे तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि लोभ की, अर्थ-लिप्सा की भयावह अग्नि के शोलों में वह झुलसा जा रहा है। इससे वह अशान्त है, सुखी नही है, पर इस आग को वह शान्त करने का भी तो प्रयास नही करता। इसे शान्त करने का एक ही मार्ग है—सन्तोष, अपरिग्रह, अर्थ-लालसा का अभाव।

लोभ का साम्राज्य इतना विस्तार पाये हुए है कि जहाँ इसने अमीरो को जकड रखा है, वहाँ गरीब भी इससे बच नही पाए हैं। वे भी इससे बुरी तरह ग्रस्त हैं। जिसके पास धन के ढेर हैं, वे उन्हे पर्वत बनाना चाहते हैं, जो अभावग्रस्त हैं, कामना उनकी भी यही है कि वे भी धनराशि से वचित क्यो रहे? इस भ्रमपूर्ण विचार-धारा ने लोगो का जीवन अव्यवस्थित और अस्त-व्यस्त बना रखा है। लोग इसके चगुल से अपने को छुड़ाए। अर्थ को जीवन की आवश्यकता कहा जा सकता है पर साध्य नही। आज इसे साध्य माना जा रहा है, यही तो सबसे बडी भूल है, जिसने जीवन को अशान्ति का अड्डा बना रखा है।

व्यक्ति-व्यक्ति सयम और त्याग को जीवन का अन्तिम साध्य माने। व्यक्ति के मूल्याकन का आधार सयम और त्यागपूर्ण जीवन हो, न कि अर्थ-बहुल जीवन। वैसा न होने से अर्थ का पहलू जो आज जीवन का सर्वस्व और प्रधान बन बैठा है, गौण हो जायगा और तब सात्त्विक और सदाचरणमय जीवन प्रधान बन जायेगा। फलत आपसी झगडे, सघर्ष और टक्करे मिटेंगी, वातावरण मे मैत्री और बन्धुत्व की मधुर सुरभि फूट पडेगी।

पड़िहारा,
२९ मई '५६

६६ : बहनों से

अभय—निर्भीकता जीवन का आवश्यक पहलू है। अभीत या निर्भीक व्यक्ति जीवन का सन्तुलन बिगडने नही देता। वह अपने में स्थिरता रख सकता है। जीवन-विकास के लिए अभय की बहुत बडी उपयोगिता है। धर्म भी तो यही प्रेरणा देता है—भय मत करो, कठिनाइयो से डरो नही। साहस और निर्भय भाव से सन्मार्ग पर आगे बढते रहो। बहनो मे मैं कुछ अभय की कमी पाता हूँ। मैं चाहूँगा, वे अपने जीवन मे अभय को स्थान दें। धर्माराधना और जीवन-शुद्धि के पथ पर अग्रसर होने मे वे सकोच और भय को अपने पास न फटकने दे।

महिलाएँ अपने मन मे हीन-भाव न लाएँ। वे यह क्यो सोचें कि पुरुषो से वे हीन है? वे भी मानव है, आत्मवान् हैं। जीवन को विकसित बनाने की उनमे भी क्षमता है, अपने में हीनता का अनुभव वे क्यो करे? उनमे आत्म-ओज की अनुभूति रहनी चाहिए। यह अनुभूति आगे बढ़ने की स्फूर्ति देती है। हीन-भाव के न रहने का अर्थ उद्दण्ड और उच्छृङ्खल बनना नही है। उद्दण्डता और उच्छृङ्खलता तो स्वयं एक भारी दोष है, जो आत्मा को गिराता है। हीनता-अनुभूति का आशय है—अपनी अमित आत्म-शक्ति को विस्मृत बनाना, उसकी अनुभूति लिये स्फूर्त न रहना।

बहनो को तत्त्वज्ञान सीखने मे प्रगति करनी चाहिए। तत्त्व-ज्ञानार्जन जीवन को उन्नत बनाने का महत्त्वपूर्ण साधन है, बहने अपने जीवन को सात्त्विक, सादा और सस्कारी बनाने के लिए सदा प्रयत्नशील रहें ताकि उनका अपना जीवन तो ऊँचा उठे ही, आनेवाली पीढी भी उनसे सहजतया इन सद्गुणो को ले सके।

पड़िहारा,
२६ मई '५६

६७ : जीवन के दो तत्त्व

आप सब जानते हैं—हम भवनो का उद्घाटन नही करते, लौकिक समारोहो का उद्घाटन नही करते पर 'अनेकान्त अध्ययन मडल' जैसे कार्यक्रम का, जो ज्ञान-विकास का कार्यक्रम है, उद्घाटन प्रारम्भ करने में हमें सचमुच बडा हर्ष है। यह तो वह कार्य है, जिसके लिए हम सदा प्रेरणा देते रहते हैं। जिसे प्रारम्भ करने के लिए, चालू रखने के लिए, हम सदा कहते रहते हैं।

आप को समझना है—जीवन के दो ही तत्त्व हैं, आचार और विचार। विचार के बिना आचार पूरा फलता नही। उसमे वह ओज और वैशिष्ट्य नही आता जो विचार-पूरित आचार मे आता है। आचार के बिना केवल विचार कोई सार नही रखता। वह निस्तथ्य और निस्तेज जैसा होता है। आचार का साहचर्य्य पाकर विचार अमित शक्ति से उद्वेलित हो उठता है। उसमें सक्रियता आती है। ठोसपन आता है। तभी तो आचार और विचार दोनो का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। अन्धे और पंगु जैसी इनकी जोडी है। विचार के बिना आचार अन्धा है, आचार के बिना विचार पगु है। दोनो का सम्मिलन पगुता और अंधता दोनों दोषो का निवारण करता है वहाँ अन्धता के स्थान पर चक्षुष्मता, ज्योतिर्मयता और पगुता के स्थान पर अस्खलित गति पैदा हो जाती है। अत ज्ञानार्जन या विचार-जागरण के क्षेत्र में नौजवानो ने जो यह निश्चय किया है, सचमुच यह उनको जीवन-विकास में सहारा देगा, एक प्रकाश देगा। जो उत्साह, उत्कठा और लगन आज उनमें दीखती है, मैं चाहूँगा, वह उत्तरोत्तर बढे, मिटे नही।

आजकल आचार और विचार दोनो क्षेत्रो में व्यक्ति पीछे हटा है, आगे नही बढा है। उन्नत कहे जानेवाले जमाने की यह स्पष्ट अवनति है। इसने जो विषमता और दुरवस्था पैदा की है, वह आज किससे छिपी है ?

मानव इससे छुटकारा पा सके, इसके लिए आचार-शुद्धि के क्षेत्र में अणुव्रत-आन्दोलन काम कर ही रहा है। मानव-समाज मे उसने एक नैतिक उत्क्रान्ति का सूत्रपात किया है, विचार-क्षेत्र में भी एक उत्क्रान्ति आए, इसके लिए भी प्रयास चलता रहता है। मै एक व्यवस्थित कार्यक्रम इसके लिए सोच रहा था। पडिहारा के युवकों का यह प्रयास एक प्रकार से उसी कोटि की वस्तु है।

अध्ययन-क्रम की एक व्यवस्थित रूप-रेखा, परिचालन, परीक्षण आदि सभी पहलुओ पर सोचना होगा। एक सुन्दर एव विकासकारी गठन हो सके, इस ओर सबका प्रयास रहेगा ही।

पड़िहारा,
२६ मई '५६

६८ : शासन समुद्र है

आत्मभीरु के लिए, धर्माराधक के लिए, अरिहन्त, सिद्ध, साधु और केवली प्ररूपित धर्म, ये चार शरण हैं। इनसे जीवन में विश्राम मिलता है, शान्ति की अनुभूति होती है।

अरिहन्त हमारे परम उपकारी हैं। आसन्न उपकर्त्ता हैं, उन्होंने धर्मतीर्थ की स्थापना की। जीवन-शुद्धि का मार्ग बताया।

समस्त कर्मों को क्षीण कर जिन्होंने मोक्ष प्राप्त किया, जो ज्योतिर्मय हैं, चिन्मय हैं, वे सिद्ध हमारे लिए, जीवन के लिए, उच्चतम आदर्श हैं, प्रेरणास्रोत हैं।

वर्तमान में अरिहन्त और सिद्ध हमारे प्रत्यक्ष नहीं हैं। उनके बताये पथ पर सर्वात्म भाव से चलनेवाले साधु ही प्राणी वर्ग को मोक्ष-बन्धन से मुक्ति का मार्ग बतला रहे हैं।

केवलियो—सर्वज्ञों, सर्व-द्रष्टाओं ने जिस धर्म की प्ररूपणा की, वह धर्म जीवन-शुद्धि का अन्यतम साधन है।

वास्तव में चार सत्य शरण हैं, इनकी शरण लेने का अर्थ है अहिंसा, शान्ति, आर्जव, मार्दव, अकाचिन्य, विनय आदि सद्‌गुणो के प्रति अपने आप का समर्पण। इससे व्यक्ति ऊँचा उठता है। पर ध्यान रहे, केवल लोक-दिखावे के लिए शरण लेने का स्वांग न रचा जाए। आन्तरिक शुद्धि के लिए शरण ली जाए। यही वह हेतु है जो जीवन को कल्याणोन्मुख बनाता है।

उत्थान, बल अनुष्ठान-पराक्रम, पुरुषार्थ—ये एक अपेक्षा से व्यक्ति पर निर्भर हैं जितनी शुद्धि और गति के साथ व्यक्ति इनमें लगेगा वैसा फल वह पायेगा। अच्छे का फल अच्छा और बुरे का बुरा। यह सहज सिद्ध है। व्यक्ति बुरे कार्य से बुरे रास्ते से सदा बचे। जिन्होंने बुरा रास्ता ले रखा है, जो दूसरों की बुराई पर उतरे हुए हैं, यदि सम्भव हो तो, उन्हें सन्मार्ग पर लाने की कोशिश करे। अन्यथा उपेक्षा।

कभी-कभी ऐसा होता है बुराई और अन्याय पर उतरे हुए लोग सीमा पार कर जाते हैं। सहनशीलता की भी एक हद होती है। अन्याय को निरन्तर सहते रहने से अन्यायी के सीग बढ़ जाते हैं। वहाँ उसका अहिंसात्मक प्रतिकार आवश्यक हो जाता है।

यदि हिंसा का प्रतिकार न किया जाए तो वह हिंसा सब ओर छा जाए। हिंसा की कमर टूटे, उसका बल मिटे, उसका लोप हो—यह जरूरी है पर ध्यान रहे, हिंसा को मिटानी है, हिंसक को नही। हिंसक को मिटाना तो स्वयं हिंसा है।

कुछ लोग बिना समझे, बिना मतलब ही दुविधा मोल लेने लगते हैं। अमुक सघ से निकल गये, यह कैसा हुआ आदि-आदि उनको समझाना चाहिए—चौदह वर्ष पूर्व और चार ज्ञान के धनी केवली की तरह शिक्षा देनेवाले भी अपने कर्म-योग से नरक-निगोद तक में पहुँच जाते हैं, फिर औरो की तो बात ही क्या! वे गहराई से सोचें-समझें। दिल व दिमाग में दुविधा और उलझन न लाएँ।

शासन समुद्र है, उसमे ज्वार आता है ; हिलोरे उठती है, भाटे आते है, शासन-समुद्र मे रहनेवाले कच्छ-मच्छ समझें कि ज्वार-भाटे के साथ हम भी बाहर निकल जाए तो क्या परिणाम होता है, किसी से छिपा नही है। बाहर के पछी अपनी तेज चोचो से उन्हे बुरी तरह कुरेद डालते हैं।

इसलिए शासन-समुद्र मे आवास करनेवालों को गहराई से सोचना चाहिए। उठती हुई तरंगो और हिलोरो से घबरा कर उन्हे अपना स्थान नही छोडना चाहिए। इसीमे उनका श्रेयस् है।

रतनगढ़,
३१ मई '५६

६६ : यथार्थ की ओर

सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदम्।
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्॥
माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तौ।
सदा ममात्मा विदधातु देव॥

आराध्यदेव की स्मृति करते हुए आचार्य ने कितने ऊँचे उद्‌गार रखे है। आराध्यदेव! हमारे मन मे आप के प्रति भक्ति है, श्रद्धा है। हम आपसे क्या मागे? हाँ, हमारी पहली माग है · प्राणी मात्र के प्रति हम मैत्री रखे, किसी के प्रति भी द्वेष—शत्रुभाव न रखे। हमारी दूसरी माग है—ससार मे जो भी गुणी एव महान् पुरुष है, हम उनकी गुणवत्ता और महानता को जानकर हर्षित हो, हमारे मन मे प्रमोद का स्रोत वह चले। हम उनसे ईर्ष्या न करे, मत्सर न करे। तीसरी माग है : ससार मे अनेक प्राणी दु:ख से आक्रान्त है, उनके प्रति हम दया की भावना रखे, उनको आन्तरिक शान्ति मिल सके, ऐसा प्रयास हम करे। चौथी माग है जो लोग न उपदेश सुनते है और न जिन पर कोई उपदेश का असर होता है, इतना ही नही जो उत्पथगामी है, विपरीत पथगामी है उन पर भी हमारा रोष क्यो हो? यह कभी सम्भव नही कि समूचा ससार किसी एक के पथ पर चले। अत विपरीत पथ पर जाते को देख रोष करने की आवश्यकता ही क्या है? ऐसे लोग भी होते है, जो सत्पथ छोड कुपथ मे जाते है। हम इस तरह के लोगो के प्रति तटस्थ भाव, उदासीन वृत्ति, उपेक्षा भावना रखे।

मेरे सरदार शहर आने के दो प्रमुख कारण है—पहला मन्त्री मुनि से मिलन, दूसरा लोगो में प्रवचन-प्रसारण भी। मैंने बहुत लम्बी यात्रा की। यदि दूसरी अपेक्षा से देखू तो बहुत लम्बी यात्रा तो यह नही है। वैसी तो

दूर का हो, मुझे यहाँ इसका निर्णय करना है। निश्चय मे तो 'यद् भाव्यं तद् भाव्य'—जहाँ होना है, वहाँ होगा। व्यवहार में हम पुरुषार्थ करेगे।

आज काफी लम्बा-चौड़ा कार्यक्रम चला, फिर भी जनता स्थिर बनी बैठी है, इसका नाम श्रद्धा है। धर्मस्थान, धर्म-प्रवचन तो श्रद्धा के केन्द्र होते हैं। वहाँ ही श्रद्धा न रहे तो फिर रहे कहाँ? वहाँ लोग गर्मी, खानपान सब भूल जाते हैं। यहाँ मैं ऐसा ही देख रहा हूँ। बहने धूप में बैठी है, फिर भी वे तन्मयता पूर्वक सुन रही है। यह उनके हृदय की श्रद्धा का परिचय है। अस्तु। आज मै अधिक न कहकर इतना ही कहूँगा, जो कुछ मैंने कहा, उस पर लोग गौर करेंगे, जीवन में लाने के लिए चेष्टाशील होगे।

सरदार शहर
१२ जून '५६

७० : नैतिक शुद्धिमूलक भावना

मैं अक्सर कहा करता हूं, युवकपन केवल अवस्था सापेक्ष नही है। वह उत्साह, लगन और साहस सापेक्ष है, जो युवापन की सच्ची निशानी है। इसलिए मै जो कुछ कहूँगा, उन सबके प्रति कहूँगा, जो उक्त अपेक्षा से अपने को युवक मानते है। 'हमने ठाना—धर्म का व्यापक प्रसार होना चाहिये। वह जाति, वर्ग, कौम तथा वर्ग-भेद से अछूता रह, व्यक्ति-व्यक्ति तक पहुँचे। व्यक्ति-व्यक्ति उसका सन्देश पा जीवन में एक नई प्रेरणा सचित कर सके। हमने इस पथ पर अपना कदम आगे बढाया। धर्म से जीवन-शुद्धि की वृत्ति जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास किया। लोगो में एक स्फुरण जगी, उन्होने करवट बदली, इस ओर उन्मुख हुए। सामूहिक रूप मे महसूस किया जाने लगा, धर्म-जागृति, चरित्र-उत्थान का यह लाभ-दायी उपक्रम चल रहा है। पर साथ ही साथ खेद इस बात का है कि हमारे ही निकट के कुछ लोगो ने इसे यथावत् समझने का प्रयास नही किया। इतना ही नही, यह सब रुक जाए, ऐसा भी उनका रुख रहा। हमने अपने आपको टटोला, अन्तरतम को परखा, हमें लगा—जो हम कर रहे है, ठीक कर रहे है। जीवन के मौलिक सिद्धान्त जिनको हमने स्वीकार किया है, प्राणपण से जिनका हम परिपालन करते है—यह ठीक उनके अनुरूप है। हमारे निश्चय को बल मिला। किसी भी अहिंसक साधक का यह पहला कर्त्तव्य होता है कि सबसे पहले वह अपने आपको टटोले, अपना अन्तरतम टटोले। उसकी कार्य-विधि की यह पहली कसौटी है।

में जो अच्छी चीजें हैं, उन्हें बिना किसी शर्त के अपनाया जाय, वहाँ झिझक या हिचकिचाहट कैसी ?

व्यवहार मे पुरुषार्थ

हमे दुनिया को खुश करने के लिए नही चलना है। दुनिया राजी रहे या नाराज रहे, हमें इससे रचमात्र मतलब नही। हमें तो अपने को मँजते हुए "तिन्नाण-तारयाण" अर्थात् स्वयं तरना तथा औरो को तरने की प्रेरणा देना—इस आदर्श को आगे रखते हुए चलना है।

संघीय जीवन मे और वैयक्तिक जीवन में अन्तर है। व्यक्ति के लिए अनेक मार्ग हैं। वह अरण्यवासी बन सकता है, पादपोपगमन संथारा कर सकता है। पर सघ मे लाखो व्यक्तियो के जीवन को देखा जाता है, हमें समष्टि रूप मे सोचना हो जाता है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति के लिए संघीय अनुशासन में चलना आवश्यक होता है।

आचार्य भिक्षु ने जो तत्त्व दिये, मुझे खुशी है कि अपनी पिछली यात्रा के बीच उन तत्त्वो को मैंने व्यापक रूप में फैलाया। बम्बई जैसी महान् नगरी, पूना जैसे सास्कृतिक केन्द्र और प्रान्तीय असेम्बली जैसे लोक-सगठनो के बीच उन्हें प्रसारित किया। लोगो ने, विचारको ने इसकी कद्र की, मुझे ताकत मिली, पर खेद एक ही बात का है कि जिसके लिए मैंने खून और पसीना एक किया, बाहर के लोगो ने जिसकी कीमत आँकी, घरवालो ने उसे नही समझा, आशा है, वे समझने का प्रयास करेंगे।

मुझे गुरुदेव से जो तत्त्व मिला, वायु के झोको से वह डगमगानेवाला नही है, टूटनेवाला नही है। वायु के झोको से टूटकर गिरनेवाला फूल पैरों से रौंदा जाता है, कुचला जाता है, जो पेड पर टिका रहता है, वह देवता की पूजा मे चढता है, सम्मान पाता है।

मौलिक तत्त्वो का अनुसरण कर चलते हुए हमें सख्या से कोई मतलब नही है। शासन-निष्ठा को लेकर कवि-हृदय से निकले ये भाव कि 'जगत् रूठे तो रूठन दो, स्वर्ग तूठे तो तूठन दो'—मुझे तो शासन से काम है, संघ से मतलब है। सचमुच वे विचार एक सजीव प्रेरणा और सजग चेतना का सचार करनेवाले है, सब शासन की गतिविधि को समझें, और अपने को एकत्र कर रखें।

मन्त्री मुनि के पास सरदार शहर आकर मुझे ऐसा लगता है कि मैं कुछ हलका हुआ हूँ। जब भी मैं इनके पास आता हूँ, मुझे अनुभव होता है कि मेरा कुछ भार हलका बना है। चातुर्मास जैसी क्षेत्र-स्पर्शना होगी। होगा, आज मैंने निर्णय नही दिया है। चाहे यहाँ हो, इर्द-गिर्द हो,

पर समाज और राष्ट्र का भविष्य निर्भर है, इस तरह अनुशासनहीन और उच्छृङ्खल बन जाए, यह कहाँ तक शोभनीय है ?

ऐसा कर विद्यार्थी स्वय अपना अहित करते हैं। विद्यार्थी-जीवन, जो गुणार्जन और चरित्र-विकास की वेला है, उसका इस तरह अनुचित कार्यों मे उपयोग क्या वस्तुत: दुरुपयोग नही है ?

भारत के विद्यार्थियों के समक्ष तो अपने अतीत की सस्कृति का एक बहुत वडा आदर्श है। जिसे लेकर वे आगे बढे तो जीवन को सच्चे विकास के सुगठित साँचे मे ढाल सकते हैं। जरा सोचे तो सही, भारतीय विद्यार्थी कितने सरल, सीधे, संयत, शिष्ट, सौम्य और विनीत होते थे।

इसका मुख्य कारण था—यहाँ की आदर्श शिक्षण-प्रणाली, जहाँ बचपन से ही विद्यार्थियो को केवल अक्षर-ज्ञान ही नही, वरन् सच्चरित्रता, सत्य-वादिता, शालीनता और विनम्रता की सत् शिक्षाएँ दी जाती थी। विद्यार्थी अध्यापक के यहाँ रहते, अध्ययन, अनुशीलन करते, केवल पुस्तकीय ही नही, वे सक्रिय ज्ञान पाते।

एक पुरानी कहानी है। एक राजा ने अपने राजकुमार को अध्यापक के यहाँ पढने को भेजा। राजकुमार अध्यापक के यही रहता, वही खाता-पीता, पढता-लिखता, उस समय की यही प्रणाली थी। राजकुमार को अध्यापक-गृह में वास करते हुए १२ वर्ष हो गए। इस दीर्घ अवधि के बीच अध्यापक ने उसे समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, राजनीति, दर्शन, गणित, इतिहास आदि अनेक विषयो का गहरा अध्ययन करा दिया।

राजकुमार की परीक्षा का दिन था। अध्यापक को राजकुमार के साथ राज-सभा मे उपस्थित होना था। महाराज स्वय प्रश्न करनेवाले थे। अध्यापक गहराई से सोचने लगा—राजकुमार को मैने जीवन के लिए आवश्यक और उपयोगी सभी विषय पढा दिया। सहसा उसके दिमाग मे आया, एक कमी रही। तत्काल राजकुमार को लेकर अध्यापक बाजार गया। २० सेर अनाज खरीदा। गठरी बाँधी और गठरी राजकुमार के सिर पर रखते हुए कहा—मेरे पीछे-पीछे चले आओ। इसे घर ले चलना है।

राजकुमार वडा बेचैन था। फूल-सा कोमल शरीर और यह बीस सेर का भार, उसके लिए दो मन जैसा था। जैसे-तैसे अपना बल बटोर कर वह अध्यापक के पीछे-पीछे चलने लगा। करता क्या। मन ही मन वडा खिन्न और रुष्ट था। सोचता—अभी तो अध्यापक जैसा चाहें कर लें पर परीक्षा के समय महाराज के समक्ष उनकी शिकायत किये बिना नही रहूँगा। थकता-हाँफता, पसीने से तरबतर वह गठरी सिर पर उठाए अध्यापक के साथ वडी कठिनाई से उसके घर पहुँचा।

अस्तु। हमने कोई कमजोरी महसूस नही की, न हम करते है। मौलिक सिद्धान्तो को यथावत् अनुसरण करते हुए अध्यात्म-जागृति के इस अभियान पर आगे बढना है, प्रबल आत्म-बल और अकुंठित साहस के साथ।

आज एक भूचाल जैसा हम देखते है। गाँव-गाँव में, घर-घर मे, उसकी प्रतिक्रिया चक्कर काट रही है। स्थान-स्थान पर यही बात, यही चर्चा। प्रयोजनवश बात की जाए तो ठीक, मगर बिना मतलब के चर्चा करना समय के दुरुपयोग के अलावा और क्या है? सामाजिक लोगों के सामने विलासिता, फिजूलखर्ची आदि अनेक विषम समस्याएँ पडी है जिनके निवारण के सम्बन्ध मे वे कुछ बोलते तक नही, सोचते तक नही। और वे इन विषयो मे इतना गहरा रस लेते है। ऐसा करनेवाले कभी-कभी जलती आग मे पुलाव झोकने का काम भी कर डालते है जो अनुचित है।

मुझे नौजवानो से कहना है, वे विवेकशील है, बुद्धिशील है, वे विवेक, सहिष्णुता और स्थिरता से काम ले। आग की इन लपटो में भूलवश कही अपने कपडे न जला ले।

आजकल हरिजनो मे उपदेश किया जाता है, जाट-गवारो मे प्रवचन होते है। इस तरह के वे विषय है जिनको लेकर कुछ लोग बेतुकी बातें करने लगते है। वे क्यो भूल जाते है कि जैन-दर्शन कितना गहरा और विशाल दर्शन है। वह किसी जाति व वर्ग का दर्शन नही। वह तो प्राणी-मात्र के विकास और शुद्धि का दर्शन है। उसे सकीर्ण बनाकर क्या हम उसकी अवहेलना नही करते? अपने मौलिक तत्त्वो पर सुदृढ रहते हुए हमे उत्तरोत्तर आगे बढना है—प्रत्येक नौजवान को यही सोचना है।

मै नौजवानो को आह्वान करूँगा कि वे जीवन-शुद्धि के मार्ग पर जी-जान से बढे। अणुव्रत-आन्दोलन की नैतिक शुद्धिमूलक—भावना को समझे। जीवन को उस ओर ढालने के लिए यत्नशील हो।

सरदार शहर,
१२ जून '५६

७१ : शिक्षा का आदर्श

विद्यार्थी-वर्ग को लेकर देश के बडे-बड़े विचारक और जन-नेता आज चिन्तित है। विद्यार्थियो की दिन पर दिन बढती हुई उच्छृङ्खलता और अनुशासनहीनता ने एक सिर-दर्द पैदा कर दिया है। विद्यार्थी वर्ग, जिस

पर समाज और राष्ट्र का भविष्य निर्भर है, इस तरह अनुशासनहीन और उच्छृङ्खल बन जाए, यह कहाँ तक शोभनीय है?

ऐसा कर विद्यार्थी स्वयं अपना अहित करते हैं। विद्यार्थी-जीवन, जो गुणार्जन और चरित्र-विकास की वेला है, उसका इस तरह अनुचित कार्यो मे उपयोग क्या वस्तुत दुरुपयोग नही है?

भारत के विद्यार्थियो के समक्ष तो अपने अतीत की सस्कृति का एक वहुत वडा आदर्श है। जिसे लेकर वे आगे बढे तो जीवन को सच्चे विकास के सुगठित साँचे मे ढाल सकते हैं। जरा सोचे तो सही, भारतीय विद्यार्थी कितने सरल, सीधे, सयत, शिष्ट, सौम्य और विनीत होते थे।

इसका मुख्य कारण था—यहाँ की आदर्श शिक्षण-प्रणाली, जहाँ वचपन से ही विद्यार्थियो को केवल अक्षर-ज्ञान ही नही, वरन् सच्चरित्रता, सत्य-वादिता, शालीनता और विनम्रता की सत् शिक्षाएँ दी जाती थी। विद्यार्थी अध्यापक के यहाँ रहते, अध्ययन, अनुशीलन करते, केवल पुस्तकीय ही नही, वे सक्रिय ज्ञान पाते।

एक पुरानी कहानी है। एक राजा ने अपने राजकुमार को अध्यापक के यहाँ पढने को भेजा। राजकुमार अध्यापक के यही रहता, वही खाता-पीता, पढता-लिखता, उस समय की यही प्रणाली थी। राजकुमार को अध्यापक-गृह मे वास करते हुए १२ वर्ष हो गए। इस दीर्घ अवधि के वीच अध्यापक ने उसे समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, राजनीति, दर्शन, गणित, इतिहास आदि अनेक विषयो का गहरा अध्ययन करा दिया।

राजकुमार की परीक्षा का दिन था। अध्यापक को राजकुमार के साथ राज-सभा मे उपस्थित होना था। महाराज स्वय प्रश्न करनेवाले थे। अध्यापक गहराई से सोचने लगा—राजकुमार को मैंने जीवन के लिए आवश्यक और उपयोगी सभी विषय पढा दिया। सहसा उसके दिमाग मे आया, एक कमी रही। तत्काल राजकुमार को लेकर अध्यापक बाजार गया। २० सेर अनाज खरीदा। गठरी बाँधी और गठरी राजकुमार के सिर पर रखते हुए कहा—मेरे पीछे-पीछे चले आओ। इसे घर ले चलना है।

राजकुमार वडा बेचैन था। फूल-सा कोमल शरीर और यह बीस सेर का भार, उसके लिए दो मन जैसा था। जैसे-तैसे अपना वल बटोर कर वह अध्यापक के पीछे-पीछे चलने लगा। करता क्या। मन ही मन वडा खिन्न और रुष्ट था। सोचता—अभी तो अध्यापक जैसा चाहे कर लें पर परीक्षा के समय महाराज के समक्ष उनकी शिकायत किये विना नही रहूँगा। थकता-हाँफता, पसीने से तरवतर वह गठरी सिर पर उठाए अध्या-पक के साथ वडी कठिनाई से उसके घर पहुँचा।

राजसभा लगी हुई थी। अध्यापक राजकुमार के साथ उपस्थित था। महाराज ने स्वयं राजकुमार से अनेक विषयो के प्रश्न पूछे, जिनका राजकुमार ने तत्काल उत्तर दिया। महाराज अत्यन्त सन्तुष्ट थे। बाद में वे राजकुमार से पूछने लगे—तुम्हें बारह वर्ष गुरु-गृह-प्रवास में कुछ कष्ट तो नही हुआ? राजकुमार ने कहा—गुरुजी ने मुझे सब तरह का आराम दिया, अपने पुत्र की तरह मुझे रखा। पर आज अन्तिम दिन उन्होने मेरे साथ बडा क्रूर व्यवहार किया।

महाराज के मुख पर क्रोध की एक हल्की-सी रेखा खिंच गई। वे कहने लगे—"क्रूर व्यवहार! बतलाओ क्या क्रूर व्यवहार किया?"

राजकुमार बोला—"आज अनाज का एक भारी गट्ठर मेरे सिर पर रख कर बाजार से अपने घर तक गुरु जी मुझे ले गये। मेरी गर्दन मानो टूटने लगी। शरीर तमतमा उठा, पसीने से मैं नहा गया।"

महाराज ने अध्यापक की ओर देखा। अध्यापक ने कहा—"महाराज, मैंने ऐसा किया और यह सोच-समझ कर किया कि राजकुमार को मैंने अभी अधूरी शिक्षा दी है। एक अति आवश्यक शिक्षा तो छूट ही गई है। राजकुमार ने विभिन्न शास्त्र पढे, विभिन्न विषयो का गहरा अनुशीलन किया पर श्रम और कष्ट क्या होता है, उसे इसकी अनुभूति नही थी। उसे इसकी अनुभूति होनी चाहिए। क्योकि इस विशाल साम्राज्य की बागडोर तो किसी समय उसी के हाथो मे आने वाली है। जिसको, चाहे जो कष्ट दे डालेगे—थोडी-सी बात आई कि रख दो मन भर की शिला इसके सिर पर। इसलिए मैंने सोचा—राजकुमार को स्वयं कष्ट की साक्षात् अनुभूति होनी चाहिये ताकि वह कभी भी विवेक को न भूल औचित्य के साथ अपने कार्य करे। यही कारण था—मैंने अनाज की गठरी उसके सिर पर रखी।"

महाराज बड़े सन्तुष्ट हुए। राजकुमार का भी क्षोभ जाता रहा। उसने गुरु से क्षमा मांगी।

यह था—आदर्शों से जीवन का साक्षात् परिचय। तभी तो अतीत के विद्यार्थी-जीवन को आज भी आदर के साथ स्मरण किया जाता है।

सरदार शहर,
१ जुलाई '५९

७२ : सच्ची मानवता

आज के मानव में आत्म-चिन्तन की सबसे बडी कमी है। वह बहुत कुछ सोचता है, बहुत चिन्ताएँ करता है, पर जरा अपने-आपको मनन कर

देखे तो सही कि क्या कभी अपनी आत्मा का भी चिन्तन उसने किया है? अपने आपको भी सोचा है? जीवन क्या है वह कहाँ जाने को है, जिन्हे वह चिरस्नेही मानता है, वे कब तक उसका साथ देनेवाले हैं—क्या इन छोटे, पर बहुत महत्त्वशील पहलुओ पर भी उसने विचार किया है? शायद नही। क्योकि ये तो वहुत छोटे पहलू ठहरे न। पर नही। वह भूलता है, गलती करता है, यदि अपने जीवन को नही टटोलता, आत्मा का चिन्तन नही करता, गवेषणा नही करता, अपने आपको नही सोचता, तो कुछ भी नही सोचता है।

हम देखते है, आप सब देखते है—व्यक्ति आता है, कुछ समय बाद उसकी स्मृति भी शायद नही बच पाती। व्यक्ति जिस पर इतराता है, पीढियो की आशा बाँधता है, जिसके सुख की कल्पना में धन का अम्बार खडा करना चाहता है, वह भूल क्यो जाता है कि क्या पता वह शरीर कब साथ छोड चिता का आश्रय ले ले।

उपाध्याय विनय विजय एक गहरे चिन्तक थे, कवि थे। कितना सुन्दर उन्होंने लिखा है

एक उत्पद्यते तनुमान् एक एव विपद्यते।
एक एवहि कर्म चिनुते, सैकैकः फल मश्नुते ॥

अर्थात् व्यक्ति अकेला पैदा होता है, आता है, अकेला ही चला जाता है। अकेला ही कर्म करता है। वह अकेला ही फल भोगता है। तत्त्वत. कौन किसका साथ दे सकता है? यह जैन-दर्शन की एकत्व-भावना है।

असलियत यह है, जीवन का यथार्थ स्वरूप यह है, पर ससार की सुख-सुविधा और विषय-वासना की भूल-भुलैया में पडा व्यक्ति ऐसा कब सोचता है? वह अपने स्वरूप को भूल जाता है, आत्म-विस्मृत हो जाता है। वह नही सोचता—तू शरीर नही है, आत्मा है, नीरूज है, निरजन है। तेरे जीवन का चरम लक्ष्य भोग नही है, साधना है, मुक्ति है, तू केवल आत्मा ही नही, परमात्मा है। यदि अपने स्वरूप को समझ ले, जीवन-विकास को रोकनेवाले कर्म-बन्धनों को तोड़ दे, अपने को निबन्ध बना ले।

आज मनुष्य का जीवन कृत्रिमता से लदा है। अपने सहज रूप को, सहज वृत्ति को वह भूल-सा गया है। ज्यो-ज्यो जीवन मे कृत्रिमता आई, वैषयिकता आई, त्यो-त्यो मानव दम्भी बना, छली बना, उसने धोखा देना सीखा। इस कृत्रिमता के भार से आज वह दबा-सा है। निश्छलता, निर्दम्भता, निष्कपटता मानव की सहज वृत्ति है, उसका सहज स्वभाव है। आज पुन उसे सहज रूप में आना है। ऐसा कर वह अपने जीवन मे स्फूर्ति पायेगा। हल्कापन महसूस करेगा, शान्ति की मधुर अनुभूति उसे होगी।

करे, क्रोध का शमन करे, मनोवृत्ति मे प्रशान्तता, धीरता और सहिष्णुता लाए। थोड़ा-सा विपरीत सुनकर वे आग बबूला न हो जाए। प्रतिकूल बात को हजम करने की उनमें शक्ति होनी चाहिए।

क्रोध को जीतना सहसा कठिन लगेगा पर अभ्यास से यह संभव हो सकेगा, ऐसा मेरा विश्वास है। आत्मा अपरिमित शक्तियो का स्रोत है। वह क्या नही कर सकता ? पर कब ? जब कि आन्तरिक लगन और दृढता के साथ जुट जाए।

आये दिन हम सुनते है, लोग हिमालय की दुर्जेय चोटियो तक पहुँच जाते है। सहजतया यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कितनी कठिनाइयो का सामना वे करते होगे। यदि कठिनाइयो के सामने वे घुटने टेक दे तो ? सफलता अप्राप्य रहे। पर ऐसा करते नही।

दृढ निश्चयी और लगनशील व्यक्ति यदि अपने निश्चय और लगन से काम ले तो यह कहना कठिन होगा कि वह अपनी जीवन-वृत्तियो को सात्त्विकता की ओर नही मोड सकता।

क्रोध का दुष्परिणाम किसी से छिपा नही है। आज घर-घर कलह और झगडे के अखाडे बने है। जहाँ पारिवारिक जनो में क्या, मानव-मानव मे मैत्रीभाव होना चाहिये, वहाँ एक कुटुम्ब मे व्यक्ति भी आज मैत्री और अशत्रु-भाव से बरतना नही जानते।

क्रोध मे विवेक नही रहता, धीरज छूट जाता है, किसी बात पर व्यक्ति गहराई से सोच नही पाता। देखा जाता है—बहनो का गुस्सा तो किसी पर होता है, आकर निकालती है घर के बच्चो पर, उन्हे पीटती है, उन बेचारे भोले बालको ने क्या बिगाडा पर क्रोध इतना सोचने का अवसर दे तब तो ?

वैर होता है पडोसी से, उस पर वश नही चलता। उसके गाय, भैंस, ऊँट आदि पशुओ पर जोर चलाया जाता है। उन्हें पीटते है। उन निरीह और अबोल पशुओ का क्या अपराध ? वे इतना क्यो सोचे ?

क्रोध के वश बने व्यक्ति सचमुच दया के पात्र है। वे स्वय अपने को पापो से बाँधते है, आत्मा को भारी बनाते है, और जिसके प्रति क्रोध करते हैं उसे हल्का। क्योकि समता से क्रोधी के क्रोध को पी जानेवाला व्यक्ति कर्म-निर्जरण करता है।

क्रोध और शान्ति का इच्छुक व्यक्ति क्रोध की तरह आर्त-रौद्र-भाव भी छोड़े।

मनोज्ञ—प्रिय—अनुकूल वस्तु का वियोग और अमनोज्ञ—अप्रिय—प्रतिकूल वस्तु का संयोग पा क्रन्दन करना, उसके लिए झूरना, आसक्ति से तड़पना आर्तभाव है।

अमुक को मार डालूं, अमुक को लूटूं, खसोटूं, उत्पीडित करूँ—ये रौद्र-भाव हैं।

कर्म-बन्धन के ये खास कारण हैं, जीवन-सुख और आत्म-वैभव को लूटनेवाले ये दुर्द्धर्ष दस्यु हैं।

इनसे वचने का एक ही उपाय है—आत्म-नियंत्रण, आत्मवशता। जिसने अपने आप पर नियंत्रण किया, अपने आप को वश में किया, सचमुच उसने जीवन-शुद्धि के मार्ग में गतिशील कदम रखा है। आत्म-नियत्रित व्यक्ति पर आर्त-रौद्र जैसे अशुभ भाव अधिकार नही पा सकते। उसका मन सत्-चिन्तन और धर्म-ध्यान में रहता है। आदमी यह सब सुनता है, समझता है, फिर भी इधर मुडना नही चाहता, यह उसकी कितनी बडी भूल है।

एक प्राचीन कवि ने कहा है—शलभ मे जागृत-विवेक नही है, वह नही जानता कि आग की लपटें मुझे झुलसा डालेंगी, भस्मसात् कर देंगी। वह उसमे गिर जाता है। मत्स्य भी अज्ञानी है, वह महसूस नही कर पाता कि अकोडे (कँटिया) के सिरे पर लगी मास की वोटी के बीच एक तीखा कांटा भी है जो उसके तालु को बीव डालेगा। वह उसे खाने के लिये दौड़ता है। पर मानव मे उद्‌वुद्ध-विवेक है, वह जानता है कि सासारिक माया, मोह, भोग, लालसाएँ, अशुभ-भाव, अशुचि वृत्तियां आदि जीवन को पतन की ओर ले जाने वाली हैं, जीवन को दु खो के गहरे गड्ढे में ढकेलने वाली हैं। पर इतना सब जानने के बावजूद भी उधर से वह मुंह नही मोडता। निविड मोह ने उसे कितना जकड रखा है।

व्यक्ति को इस मोह से मुक्त होना है। बधन से उन्मुक्त-भाव की ओर जाना है। तभी उसके अन्तरतम मे निहित सुखो का खजाना सहजतया खुल पड़ेगा।

७५ : पुरुषार्थवाद

विश्व मे अनेकानेक दर्शन हैं—नियतिवाद, पुरुषार्थवाद, क्रियावाद, अक्रियावाद आदि अनेको विचार है। व्यक्ति क्या सोचे, क्या करे, सहसा यह उलझन पैदा होती है। मनुष्य विवेकशील प्राणी है। वह सद्-असद् की पहचान कर सकता है। इसीलिए आप्त पुरुषो ने कहा है—"जो तत्त्व ग्राह्य मालूम पडे, जिसमें यथार्थता मिले, व्यक्ति उसे ग्रहण करे। वह कुल परम्परा सम्मत है या नहीं, अन्य बाह्य आधारों से समर्थित है या नहीं—इसका महत्त्व वहां नहीं रहता। महत्त्व है उसकी सत्यता का, वास्तविकता का।"

विचार किसी पर बलात् मढे नही जा सकते। वे समझ कर, अनुशीलन कर, ग्रहण किए जाते है इसलिए धर्माचार्यों, विचार विशेष के परिचालको का भी यही कर्त्तव्य होता है कि वे अपने-अपने विचार बताए। उनका सही स्वरूप लोगो के समक्ष रखें।

आज अपने को पुरुषार्थवाद पर विचार करना है। सामान्यतया यह कहा जाता है कि जैन-दर्शन पुरुषार्थवादी दर्शन है। यहाँ कुछ समझ का भेद है। जैन-दर्शन एकान्तवादी दर्शन नही है। वह अनेकान्तवादी दर्शन है—उसमे अनेक दृष्टियो का सामजस्य है। बिना दूसरी अपेक्षाओ को सोचे एक ही बात पर अडे रहने या दुराग्रह मे बँध जाने का विचार वह नही देता। वह नही कहता कि उसने जो स्वीकार किया है, उसके अतिरिक्त कोई सही है ही नही। वह तो सही है ही, उसके सिवा और जो मानते हैं, किन्ही अपेक्षाओ से वह भी सही हो सकता है।

अनेकान्तवाद उदार चिन्तन का अवकाश देता है। व्यापक तथा असकीर्ण रूप में विचार करने की वहाँ गुंजाइश रहती है। एकान्तिक निरूपण सही हल की ओर नही ले जाता। उदाहरणार्थ—व्यवहार में भी हम देख सकते हैं—मिश्री मीठी भी लगती है और कडवी भी। साधारण मनुष्य को मिश्री मीठी लगती है पर जिसे साँप ने काट खाया, हो उसे नीम मीठा लगता है, मिश्री कडवी लगती है इसलिये एकान्तत मिश्री मीठी ही है, ऐसा निरूपण ठीक नही बैठता। पुरुषार्थवाद पर अपने को अनैकान्तिक दृष्टिकोण से सोचना है।

जैन-दर्शन मे पुरुषार्थ पर बहुत जोर दिया गया है पर जब हम तात्त्विक निरूपण मे जाएगे तो कहना होगा वह पुरुषार्थवादी है भी और नही भी।

तुलनात्मक दृष्टि से देखते है तो हम स्थान-स्थान पर ऐसी उक्तियाँ भी पाते हैं—**"यद्धात्रा निजभालपट्टलिखितं, . . . तन्मार्जितु कः क्षमः"** —अर्थात् विधाता ने जो भाग्य में लिख दिया, उसे कौन मिटा सकता है। **"फलति कपालं न भूपालः"**—भाग्य ही फलता है, वही फल देता है, राजा नही।

एक छोटी सी कहानी है—एक गरीब ब्राह्मण राजसभा में आया। उसने राजा को आशीर्वाद दिया। अन्त में बोला—**"फलति कपालं न भूपालः"**। राजा नाराज हुआ। कहा—राजसभा मे आए हो, कुछ लेने के भी इच्छुक हो। फिर कहते हो भाग्य फलता है, राजा नही। अच्छा, देखेंगे—तुम्हारा भाग्य कैसे फलेगा? ब्राह्मण बोला, फलेगा तो भाग्य ही राजन्! तभी कुछ मिलेगा। ब्राह्मण राजसभा से लौट आया। वह प्रतिदिन उसी प्रकार राजसभा मे आता और अपना वही वाक्य बोल कर वापस लौट आता।

राजा प्रतिदिन किसी दूसरे ब्राह्मण से शास्त्र कथा सुना करता था।

कथाकार अक्सर कहता—"गुप्तदानं महाफलम्"—अर्थात् गुप्तदान का बहुत वडा फल है। कथा का काल पूरा हुआ। चढावे का समय आया। कथा-वाचक ब्राह्मण बडी-बडी आशा लगाए था। राजा ने **"गुप्त दानं महाफलम्"** मत्र को ध्यान मे रखते हुए एक कुम्हडा लिया। उसे एक स्थान पर थोड़ा सा काट कर उसके भीतर का सारा गूदा निकलवा दिया और कुम्हडे को हीरो-पन्नो से भरवा दिया तथा कटे हुए स्थान को फिर ज्यो का त्यो चिपका दिया।

कथा का अन्तिम दिन था। राजा ने कथा की परिसमाप्ति पर वह कुम्हडा चढाया। अन्य लोगो ने जब राजा को कुम्हड़ा चढाते देखा तो उन्होने भी विविध प्रकार के फल, शाक आदि चढाए, यह सोचकर कि राजा स्वय जब फल चढाते है तो अपने लोग और क्या चढ़ाएँ। पण्डित जी के पास शाक व फलो का ढेर लग गया। वेचारे मन ही मन बडे उदास थे। सोचने लगे—चार महीने कथावाचन किया और चढावे में ये फल मिले! चढावा हुआ। सब लोग चले गए। वेचारे ब्राह्मण ने उन फलो की गठरी बाधी। सोचा इन्हे घर ले जाकर क्या करूँगा? बाजार मे किसी माली के हाथ वेच दू और ऐसा ही किया। उसने पाँच-सात रुपये में वे सारे के सारे फल वेच डाले। उधर से **"फलति कपालं न भूपाल"** वाले पण्डित जी बाजार मे शाक खरीदने आये। सयोगवश उसी माली के यहाँ पहुँचे। वही कुम्हडा छाटा, खरीदा, घर ले आये। घर लाकर उसे काटने लगे तो उनके आश्चर्य का ठिकाना नही रहा, जब उन्होने कुम्हड़े के अन्दर गूदे और बीजो के बदले जगमगाते हुए बहुमूल्य रत्नो को पाया। सोचते-सोचते उस ब्राह्मण के मन में यह बात आई—हो सकता है कि राजा ने गुप्त दान के रूप में यह किसी को दिया हो।

दूसरे दिन राजसभा लगी। सामन्त सरदार उपस्थित थे। कथावाचक पण्डित जी भी वहाँ थे। वह ब्राह्मण राजसभा में पुन आया और **"फलति कपालं न भूपालः"** वाले सम्पूर्ण श्लोक को बोल गया। निवेदन करने लगा—राजन्! मै नित्यप्रति जो रट लगाता हूँ, वह फल गई है। मेरे कपाल ने फल दे दिया है। राजा को आश्चर्य हुआ। हल्का-सा अनुमान उसके दिमाग मे आया, कही वह कुम्हडा तो इसके हाथ नही लग गया है। ब्राह्मण ने कहा, आप के कुम्हडे को मेरा भाग्य मेरे पास ले आया।

कथावाचक पण्डित पास में ही बैठा था। राजा ने उससे पूछा, मैने जो कुम्हडा चढाया था, उसका आपने क्या किया? पण्डित ने कहा—मैंने चढावे के सारे फल माली के हाथ वेच दिये। सोचा इतने फलो का क्या करूँगा। कुम्हडा भी उन्ही के साथ वेच दिया गया। राजा बोला, बडी भारी भूल की आपने। आप ही सदा तो कहा करते थे, 'गुप्त दान

महाफलम्'। मैंने आप को गुप्त-दान दिया था। किन्तु आपके भाग्य में वह नही था।

"फलति कपालं न भूपालः" वाला ब्राह्मण बोला—मै बाजार शाक लेने आया। उसी माली के पास पहुँचा। सयोगवश मैंने वही कुम्हडा छाटा। मेरा भाग्य था, आप द्वारा दिये गये गुप्तदान की सारी सम्पत्ति मेरे पास पहुँची।

राजा ने कहा, आपका कथन वास्तव मे सही है कि कपाल फलता है, भूपाल नही।

यह कहानी स्पष्ट करती है कि भाग्य ही सब कुछ है। पुरुषार्थ कुछ नही। पर वास्तव में तत्त्व ऐसा नही है। हाँ, माना भाग्य भी कोई वस्तु अवश्य है पर उसे बनाने वाला कौन है? पुरुषार्थ ही तो? पहले के किये अच्छे कर्म ही तो भाग्य-रूप मे प्रगट होते हैं।

जैन-दर्शन काल, स्वभाव, नियति पुरुषार्थ, भाग्य, इन सबको लेकर चलता है। इन पाँचो का समन्वय करना होगा। एकागी दृष्टि या एकान्तिकता से काम नही चलेगा। जैसे भूमि अनूकूल है, सिंचन भी चलता है, फिर भी वृक्षो के फूल बसन्त में ही आएँगे। खैर के वृक्ष के फूल बसन्त में भी नही आएँगे। यहाँ काल, स्वभाव आदि सयोग कारण भूत हैं। किसान खेती करता है। भूमि, बीज, हल, कृषक, वर्षा, भाग्य इन सबका असर उसकी खेती पर पड़ेगा और सब कुछ है पर यदि बीज नही है तो सब व्यर्थ जायगा और सब है वर्षा नही है तो खेती कहाँ से हो सकेगी। असलियत यह है कि इन सबकी अपेक्षा है। सब सयोग मिलने पर ही काम बनता है।

जैन-दर्शन मे मुख्यता पुरुषार्थ की है। पुरुषार्थ-पराक्रम पर वहाँ बहुत जोर दिया गया है। जैसा कि पहले बताया गया—भाग्य का बीज तो पुरुषार्थ ही है। पूर्व समय में सत्-कर्म किये, वे ही तो भाग्य-रूप मे फलते हैं। इसलिए सब जगह विशेष जोर देकर यह कहा जाता रहा है कि मानव सत्-कर्मात्मक पुरुषार्थ करे!

जैन आगमो में सकडाल पुत्र का वृत्तान्त आता है। वह कुम्भकार था। उसे मिट्टी के बर्तनो का बहुत बड़ा व्यापार था। वह गोशालक का अनुयायी था। नियतिवादी [illegible] होता है [illegible] —होनहार वश होता है। मानव का [illegible] तत्व? [illegible] थी।

एक बार भगवान् म[illegible] । बातचीत चली। भगवान् महावीर [illegible] हारे [illegible] बनाए जाते [illegible] कौन करता [illegible] ऐसा हो [illegible] मिल [illegible]

भगवान् महावीर ने कहा—"यदि तुम्हारे इन पके पकाए पात्रो को कोई पत्थर से फोड दे तो ?" सकडाल पुत्र कुछ तमका। "फोड क्यो दे, मेरा नुकसान जो होता है, कौन है मेरा नुकसान करने वाला ?" भगवान् महावीर ने कहा—"होनहारवश ऐसा हो जाता है; इससे नाराज होने की क्या बात ?" सडकाल पुत्र चुप रहा। उसके मन में उथल-पुथल मच गई।

भगवान् महावीर ने फिर कहा—"यदि कोई अत्याचारी व्यक्ति तुम्हारी पत्नी पर बलात्कार करे तो ?" सकडाल पुत्र ने आवेश मे आकर कहा—"कौन होता है मेरे रहते मेरी पत्नी पर बलात्कार करने वाला ? पूछ न लूं उसको मैं ?" भगवान् महावीर ने कहा—"इसमे किसका क्या दोष, जो कुछ होना होता है वह हो जाता है। जैसी नियति होती है वैसा होता है।" सकडाल पुत्र की आँखें खुली। उसकी नियतिवादी मान्यता क्षण भर मे दूर हो गई। उसने स्वीकार किया कि नियति या होनहार ठीक नही। जीवन मे पुरुषार्थ का बहुत वडा स्थान है।

जैसा कि मैंने कहा था—भाग्य पुरुषार्थ के सिवा और है क्या ? पहले किया हुआ पुरुषार्थ ही तो भाग्य है। अतीत मे पुण्यार्जन किया, उसका अनुकूल फल मिलता है। सुविधा मिलती है, उसीको तो लोग भाग्योदय कहते हैं। यह अपने ही किये का फल है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति सदा सत् पुरुषार्थ में ही अपने को लगाए रखे।

अतीत के कर्मों के परिणाम स्वरूप जो कुछ भाग्य बन गया वह कभी बदला नही जा सकता, ऐसी बात भी नही है। जैन-दर्शन में कर्म दो तरह के होते है। निकाचित और अनिकाचित। निकाचित कर्म वे होते हैं जिनको अनिवार्यत भोगना ही होता है। भोगने से ही वे टूटते है। अनिकाचित कर्म पुरुषार्थ से, तपस्या से तोड़े भी जा सकते है। बिना भोग भी उन्हें मिटाया जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि पुरुषार्थ में कितनी शक्ति है। एक अपेक्षा से वह भाग्य को पलट सकता है।

पुरुषार्थहीनता या अकर्मण्यता वास्तव में एक अभिशाप है। व्यक्ति को सदा पुरुषार्थ करते रहना चाहिए। अपने को सत्कर्मों में लगाए रखना चाहिए। यदि कही पर अपने पुरुषार्थ का साक्षात् फल न भी दिखे तो भी उस अपुरुषार्थी या अकर्मण्य नही बनना चाहिए। पुरुषार्थ व्यक्त या अव्यक्त फल अवश्य देगा। पुरुषार्थ के साथ विवेक की भी आवश्यकता है। विवेक के विना किया गया पुरुषार्थ लाभ के बदले अलाभ दे देता है। जैसे चूहे ने सॉंप के पिटारे को काटा। ज्यो ही पिटारे में छिद्र हुआ, सॉंप चूहे को निगल गया। चूहे ने पुरुषार्थ किया पर अविवेक से उसका फल मृत्यु हुआ।

जैसा मैने प्रारम्भ मे कहा था जैन-दर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है। वहाँ आग्रहपूर्वक एक बात को पकड कर बैठा नही जाता। वहाँ तो विभिन्न अपेक्षाओ से विषय-निरूपण होता है। अस्तु। एकान्तत भाग्य या पुरुषार्थ पर वह आग्रहारूढ नही होता है पर पुरुषार्थ या पराक्रम पर उसने बहुत जोर दिया है। लोग इसे समझते हुए अपने जीवन को अच्छे कर्मों में लगाएगे। विवेक के साथ जीवन विकास मूलक पुरुषार्थ में अपने को जुटायेंगे, ऐसी आशा है।

सरदार शहर
१५ जुलाई, '५६

७६ : चातुर्मास को सार्थकता

भीलवाडा की बात है। सब लोग अपने-अपने स्थानो के लिए निवेदन कर रहे थे। मेवाड के लोगो की तीव्र आकाक्षा और उत्कण्ठा थी—हमारा रहना मेवाड मे ही हो। मैने उस समय कहा था—हमारा जो भी कार्यक्रम बनेगा, वह सबको प्रसन्न और सन्तुष्ट करनेवाला होगा। उस वक्त मैंने मन ही मन सोचा—सब को सतुष्ट करने वाला होगा, यह कैसे ? पर आज सब लोग देख रहे है, श्री मगनलालजी स्वामी को सेवा कराने के लिए जो सरदारशहर मे चातुर्मास हो रहा है, उससे सब जगह के लोगो को हार्दिक सन्तोष है, प्रसन्नता है।

आज प्रवचन का विशेष समय नहीं है। मगलाचरणात्मक उस प्राचीन गीतिका का मैं उच्चारण करता हूँ, जिसमें अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओ की मगलमयता का विवेचन है। वास्तव मे सच्चे मगल ये ही है। ससार मे लोग वाह्य वस्तु को मागलिक मानते है, पर यदि बारीकी से देखे तो जीवन के लिए सच्चा मगल वह है, जो उसे आत्म-शुद्धि की ओर ले जाए।

अब चातुर्मास प्रारम्भ होनेवाला है। सबको केवल खुशी मे अपने आप को नही भुला देना है। चातुर्मास का सबको अधिकाधिक लाभ लेना है। इस अवसर पर साधु-साध्वियो से ज्ञान सीखें, तात्त्विक अनुशीलन करे, जीवन मे तत्त्व-ज्ञान की बहुत बड़ी उपयोगिता है। जैन-दर्शन अत्यन्त गहरा दर्शन है। यह एक सुन्दर अवसर है—इतने साधु-साध्वियो का यहाँ रहना हो रहा है, उनसे आप सब लोग लाभ ले। जैन-दर्शन की बाते उनसे सीखे। जीवन को अध्यात्म-विकास में लगाएं। बाह्य आडम्बर की भूलभुलैया में न भूल, त्याग-तपस्या एव आत्म-शुद्धि-मूलक कार्यो मे अपने को लगाए।

आज श्री मगनलालजी स्वामी की खुशी का पारावार नही है। चातुर्मास और महोत्सव पर कल्पता चातुर्मास होना कोई साधारण बात नही है। सरदारशहर के लिए तो यह अप्रत्याशित और असम्भावित चातुर्मास है। श्री मत्री मुनि के बदौलत यह पुण्यावसर मिला है। और-और प्रान्तो के लोग कितनी उत्सुकता से अपने यहाँ आगमन की, चातुर्मास की प्रतीक्षा कर रहे थे। सरदारशहर मे यह तीन वर्षों के बाद चातुर्मास हो रहा है, वहाँ औरो को तीस-तीस वर्ष हो गए है। भला उन्हे प्रतीक्षा कैसे नही हो? जब यह प्रसग चलता है तो उनकी आँखो मे आँसू आ जाते है। ऐसा होने के बावजूद भी श्री मत्री के कारण चातुर्मास सरदारशहर के लिए स्वीकार करना पडा। ऐसे महत्त्वपूर्ण अवसर से लोग लाभ न लें, यह कितनी प्रमादपूर्ण मनोवृत्ति है। मै चाहूँगा—सभी लोग अपने को धर्मध्यान त्याग-तपस्या जैसे आत्म जागृतिमूलक कार्यों मे अत्यन्त लगन के साथ लगाएँ और तभी चातुर्मास की सार्थकता है।

सरदार शहर
१६ जुलाई '५६

७७ : धर्म के आभूषण

सभी जानते है, आज से चातुर्मास प्रारम्भ है। चातुर्मास उपार्जन का समय है—कमाई का समय है। हम देखते है, पाट का व्यवसाय करने वाले धडाधड बगाल जा रहे है क्योकि यह पाट का सीजन है। किसान खेत जोतने मे लगे है। जिस तरह धन-धान्य के उपार्जन का यह समय है, उसी तरह धर्मोपार्जन का भी यह समय है। सत जो अधिक से अधिक एक महीना से ज्यादा कही नही रहते, चातुर्मास मे लगातार चार महीने तक एक ही जगह में रहते है जिससे लोगो को उनके सत्सग का सुन्दर अवसर मिलता है। आपलोगो से मै कहना चाहूँगा कि आप इस चातुर्मास-काल मे त्याग-तपस्या जैसे आत्म-शुद्धि के कार्यों में अत्यन्त उत्साह और लगन के साथ लगिए। तत्त्व-ज्ञान सीखने में भी आप पीछे न रहिए। ऐसे अवसर बारबार थोड़े ही मिलते है।

अनशन मूलक बाह्य तपस्या के साथ-साथ आप आन्तरिक तपस्या मे भी अपने को लगाइए। आन्तरिक तपस्या का आशय है जीवन की अन्तर वृत्तियो का मार्जन। उनमे लगे कालुष्य का प्रक्षालन। शास्त्रकारो ने कहा है—कषाय जीवन को पतन की ओर ले जाने का मुख्य हेतु है,

उससे हर क्षण व्यक्ति बचा रहने का प्रयास करे। कषाय का अर्थ है—कष्ट अर्थात् कष्ट अथवा भवभ्रमण। उसका हेतु—क्रोध, मान, माया, लोभ। इस कषाय चतुष्टय से अन्धे व्यक्ति को विवेक कहाँ सूझ सकता है ? वह सत् कार्यों में कैसे जुट सकता है ? ये कषाय चतुष्टय जीवन-शुद्धि के कार्यों में जाते हुए मन को बरबस उधर से खीच लेते हैं। इसलिए इनसे छुटकारा पाना अत्यन्त आवश्यक है। जैनाचार्यों ने तो यहाँ तक कह दिया है कि "कषायमुक्ति· किल मुक्तिरेव।" अर्थात् कषाय मुक्ति ही वास्तव में मुक्ति है। जिसने कषायो को जीत लिया, उसने मानो पापो के द्वार को रोक लिया।

अपनी जीवन-वृत्तियो को सुधारने का व्यक्ति प्रयत्न करे। आज मैं देखता हूँ कि लोगो में विनय की कितनी कमी होती जा रही है। विनय-शून्य व्यक्ति मे और भी अनेक दुर्गुण आ जाते हैं। जैन-धर्म मूल विनय है। तभी तो "विनय मूल" धर्म का विशेषण उसके साथ लगा है। विनय, सरलता, ऋजुता, सहनशीलता ये तो धर्म के आभूषण हैं। धार्मिक कहे जाने वाले व्यक्ति में यदि ये गुण नही है तो उसकी धार्मिकता शोभित नही होती। इसलिये सब लोग अपने मे इन गुणो को ढालने का प्रयास करेगें।

बहुत से लोग अपने समय को हँसी, मजाक आदि में व्यतीत करते रहते हैं। यह समय का सरासर दुरुपयोग है। शास्त्रविज्ञो ने कहा है कि अनुत्तर विमान के देवता ५ हजार वर्ष में जितने पुण्य क्षीण करते हैं, वाणव्यन्तर देवता १०० वर्ष में ही उतना क्षीण कर डालते है। क्या कारण है ? वाणव्यन्त देवता हँसी, मजाक, ठट्ठा, कौतुहल में लगे रहते हैं। जिससे ऐसा होता है। सब भाई-बहन अपना समय हँसी मजाक और कौतुहल में न विता कर ज्ञानाराधना, और चरित्राराधना मे लगाए।

अधिकाश लोग ताश खेलने में अपना बहुमूल्य समय बिताते रहते हैं मेरी दृष्टि में यह बहुत अनुचित है। क्या जीवन इतनें कम कीमत का है ? क्या समय इतना व्यर्थ है कि उसे ताश खेलने में बिताया जाए ? सचमुच यह बहुत बडी भूल है, बहुत बडी कमी है।

तत्त्व-ज्ञान और स्वाध्याय के लिये मैं खास तौर से कहना चाहूँगा कि लोग इस ओर ध्यान दें। स्वाध्याय और तत्त्वानुशीलन में अपने को लगाए। ऐसे स्वर्णिम अवसर वार-बार नही आया करते। वे इसका सदुपयोग करे। साधु-साध्वीगण उन्हें तत्त्वाध्ययन में सहयोग करेगे। इसके लिये व्यवस्थित कार्यक्रम चलेगा।

इस प्रकार ज्ञानानुशीलन, त्याग, तपस्या, साधु-सत्सग आदि पुनीत कार्यों

में अपने को लगा कर इस चातुर्मास-काल को अपने लिए अधिकाधिक सार्थक बनाइए यही मेरा कहना है।

साधु-साध्वियो से भी मैं कहना चाहूँगा कि अपने सयम और साधना में अडिग रहते हुए लोक-जीवन को सयमोन्मुख बनाने का वे सतत् प्रयास करते रहे। वे सोचें—लाखो व्यक्ति उनके चरण छूते है, लाखो को उनके प्रति श्रद्धा है। वे श्रद्धेय तो हैं ही ऐसा सोचने से उनमे जागरूकता रहेगी। वे अपने महान् ध्येय की ओर प्राणपण से वढते रहने के लिए अधिक स्फूर्ति पाएँगे।

मुझे आशा है, मैंने जो कुछ कहा, उस पर लोग सक्रिय रूप मे ध्यान देंगे।

सरदार शहर
२१ जुलाई '५६

७८ : सत्य की सार्थकता

कहने को कहा जाता है कि आज मानव ने बड़ा विकास किया है, वह बहुत आगे बढा है पर जरा वारीकी से देखिये, क्या वास्तव में ऐसा हुआ है? क्या उसने अपने जीवन में सुख और शान्ति पाई है? स्पष्ट दिखेगा—ऐसा नही हुआ है। उसका जीवन आज वुरी तरह प्रताडित और पीड़ित है। बहुत कुछ पाने पर भी वह खोया-खोया-सा है। यही कारण है कि वह आज स्वय महसूस करने लगा है कि उसे इस तथाकथित उन्नति से मुंह मोड़ना चाहिये। वाहरी जीवन को सजाने में, बढाने में, जहाँ उसने दिन रात एक कर दिये हैं, वहाँ आज उसे अपने अन्तर-जीवन को सजाना होगा। इसके लिये उसे करना क्या है, यह मैं बताना चाहूँगा। आप यह मत सोचिये कि मैं आप से कोई अभूतपूर्व वात कहूँगा। मैं तो शाश्वत काल से भारत के ऋषि-महर्षियो द्वारा कहे गये तत्त्व की वात ही कहूँगा, जो प्राचीन होते हुए जीवन मे अभिनव शक्तियो का सचार करने के कारण भी नवीन है। भगवान् महावीर ने बताया—"**सत्य की खोज करो, उसका विश्लेषण करो, जीवन को तदनुकूल ढांचे में ढालो। दूसरों को कष्ट मत दो, शोषण मत करो।**" कितना अच्छा हो, इन आदर्शों पर आज का मानव चलने लगे। यदि ऐसा हुआ तो जीवन को जर्जरित बनाने वाली समस्याए स्वत निर्मूल हो जाएँगी।

भारत के दार्शनिको और विचारको ने अपने सतत् अनुशीलन और चिन्तन के फलस्वरूप ज्ञान, भक्ति और कर्म जैसे तत्त्वों पर अनूठी सूझ दी।

भगवान् महावीर ने बताया—**"ज्ञान और कर्म का समन्वय करो, सत्य को जानो और उसे कर्म में अनुप्राणित करो"**—यह लक्ष्य है जिसे अपनाकर व्यक्ति जीवन का सच्चा विकास कर सकता है। कर्म में आने से ही सत्य की सार्थकता है, नही तो उँचे सिद्धान्तो से क्या बनेगा, यदि वे लम्बी-लम्बी बातो तक ही परिसीमित रह जाएँगे। अणुव्रत-आन्दोलन की इसलिये प्रतिष्ठापना की गई कि व्यक्ति सत्य को व्यवहार में सँजोए, उसकी जीवन-वृतियो पर अहिसा और सयम का आदर्श छाए।

जीवन-शक्ति प्रकृति की देन होती है। वह मानव मे भी होती है और अन्य प्राणियो मे भी। जीवन-शक्ति दोनो मे होते हुए भी मानव और पशु मे जो विवेक-शक्ति का अन्तर होता है उसी कारण मानव को विवेकशील या विकासशील प्राणी माना गया है। मानव विवेकी प्राणी ठहरा, वह उस विवेक का क्या उपयोग करे? शास्त्रज्ञो ने बताया—वह विवेक के सहारे अपने जीवन को जगाए। जीवन-शुद्धि की ओर प्रतिपल अग्रसर होता रहे—यही विवेक की उपयोगिता और सफलता है। जीवन मे नीतिमत्ता, प्रामाणिकता और सत्यनिष्ठा की सर्वाधिक आवश्यकता है। इनसे जीवन सही माने मे ओज, शक्ति और विकास पाता है। यह तथ्य सभी स्वीकार करते है पर खेद इस बात का है कि आज इसके प्रति सच्ची निष्ठा मानव मे नही रह गई है। उसके मस्तिष्क मे यह जँच नही पाता कि आज के युग मे क्या सच्चाई और ईमानदारी से भी काम चलाया जा सकता है? उसका सोचना यह है कि आज का वातावरण ही कुछ ऐसा बन गया है कि उसके अणु-अणु में असदाचार, बेईमानी और अनैतिकता के भाव बुरी तरह भरे पडे है। तब भला कैसे सभव माना जाए कि एक व्यक्ति भलाई और सच्चाई बरतता हुआ अपना जीवनयापन कर सकता है। पर यदि गहराई से सोचा जाए तो बात ऐसी नही है। सच्चाई और ईमानदारी का प्रयोग जीवन में सचमुच शान्ति का सचार कर सकता है। हो सकता है प्रथमत कुछ कठिनाई प्रतीत हो पर दृढता के साथ इनपर डटे रहने से जीवन व्यवहार में प्रविष्ट अनेक उलझने सुलझ जाती हैं। जीवन सफल और सात्त्विक बनता है। खेद का विषय है कि आज मानव का जीवन-मूल्य एक ऐसे हीन प्रवाह मे से गुजर रहा है कि यदि गम्भीर और सूक्ष्म-दृष्टि से पर्यवेक्षण करते हुए कहा जाए तो कहना होगा—इस अवमूल्यन ने उसे मानव नही रहने दिया है। वह केवल हाड-मास का पुतला जैसा रह गया है। आकार में कहने भर को वह मानव है पर उसके मानवीय गुण उत्तरोत्तर मिटते जा रहे है। जहाँ पैसे के लिये वह अपना मान बेचते नही सकुचाता, प्रामाणिकता को तिलाँजलि देते जरा भी नही हिचकिचाता,

समझ नही पडता की उसमे मानवता कहाॅ रह गई है ? आज मानव को अपने जीवन के मूल्य बदलने है। पैसा, परिग्रह व स्वार्थ के वदले उसे त्याग, सयम और सदाचार को महत्त्व देना है। जीवन को अधिकाधिक सरल, सादा और सात्त्विक बनाना है। अणुव्रत-आन्दोलन इसी भावना को लेकर चलता है। उसका स्वर है जन-जीवन में नैतिकता व्याप्त हो; सदाचरण प्रसार पाये, जीवन-व्यवहार सयम से पूर्ण हो। यही वह मार्ग है, जो आज के अलसाए लोक जीवन में एक प्रेरणा फूंक सकता है। यह जीवन मूल्यो के अहिंसा व अपरिग्रह-परक परिवर्तन का एक नया मोड है। सत्य, सदाचार और शील किसी की बपौती नही। वह तो उसीका है जो उस का परिपालन करे।

धर्म-धनी और गरीब, मालिक और मजदूर, साम्राज्यवादी और साम्यवादी इन सवके लिये कल्याण का प्रशस्त पथ है। सब धार्मिक बने, पौद्गलिक सुखो मे अति आसक्त न बने, यह जीवन का सबसे वडा गूढ रहस्य है।

सरदार शहर
२२ जुलाई '५६

७६ : जैन-दर्शन

जैन-दर्शन विश्व के समग्र दर्शनो मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यह एक व्यापक तथा उदार दर्शन है। अहिंसा और अनेकान्त दृष्टि इसके मुख्य पहलू है। यह विश्व के विभिन्न दर्शनो, विचारधाराओ और वादो को ठुकराता नही, उनमे परस्पर समन्वय तथा सामजस्य पैदा करता है।

पदार्थ को यह एकान्तिक अपेक्षा से निरूपित नही करता। अपेक्षा-भेद से उसका प्रतिपादन करता है। यही तो स्याद्वाद है या अनेकान्त वाद का वीज है।

यदि हम विविधता की दृष्टि से देखे तो व्यक्ति-व्यक्ति का अपना दर्शन है, अपने विचार है। जितने मस्तिष्क उतने ही चिन्तन। जैन-दर्शन अपेक्षा का माध्यम ले उन सबका सकलन करता है, उनमे सामजस्य खोजता है, समन्वय देखता है।

मै ठीक कहता हूँ, यदि इस विश्वजनीन और व्यापक विचार का अनुसरण ससार के लोग करे तो वे सारी समस्याएँ और उलझने, जिससे मानव-जीवन आज तबाह हो रहा है, खुद-व-खुद मिट जाए, समाहित हो जाएं।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक चिन्तन को लेकर यह आगे बढता है। सभी वाद, नय इसमे समन्वित हो जाते है। अद्वैत वेदान्त की मान्यता है

महाभारत मे वर्णन आता है—धर्मराज युधिष्ठिर को एक पाठ पढाया जा रहा था। क्रोध मत करो! धर्मराज के सब सहपाठियो ने उस पाठ को पढ लिया पर धर्मराज युधिष्ठिर एक लम्बे समय तक उस पाठ को पढने मे असमर्थ रहे। अध्यापक उस पर नाराज हुआ। डाँटा तब भी उनको पूरा पाठ याद नही हुआ। तब अध्यापक ने उन्हे पीटा। मार पडने पर धर्मराज को क्रोध नही आया। तब वे अध्यापक से कहने लगे—अब मैंने पाठ पढ लिया है। इसका मतलब क्या हुआ? धर्मराज क्रोध-विजय की साधना कर रहे थे। उनकी दृष्टि मे पाठ को कठस्थ करना मात्र ही पाठ को पढना नही था, बल्कि जीवन मे उस आचरण का सीखना सही माने में पढना था। और तब तक उन्होने पाठ को पढा नही माना जब तक कि क्रोध-विजय की साधना मे उत्तीर्ण नही हुए। यह भारतीय विद्या का आदर्श है जो केवल अक्षर पढना नहीं, उसका आचरण करना सीखना है और वही वास्तविक अध्ययन है।

विद्यार्थियो के लिए उच्छृङ्खलता लज्जा का विषय है। उन्हे आदर्श शिक्षा-पद्धति अपनानी है। बातबात मे अध्यापको के प्रति अविनयपूर्ण बर्ताव करना, यहाँ तक कि उनका सामना कर लेना और उद्दण्डता बरतना उन्हे शोभा नही देता। राजनीतिक प्रपचो में पड कर अपने अध्ययन कार्य से परे होना हितकर नही है। अत इस पवित्रतम जीवन में वे उधर न जाये। सही रूप में अपने जीवन को निर्माण और विकास की ओर लगाये। इसी में उनके जीवन की सफलता है।

८१ : संस्कार ही मूल बात

ससार मे रहने वाला व्यक्ति बहुकर्मी होता है। वह जहाँ राजनीतिक दलबन्दियो मे पडता है वहाँ सामाजिक और धार्मिक पहलुओ को भी छूता है। छूने की अपनी अलग-अलग पद्धति होती है। कोई किसी विचार को आगे किए चलता है और कोई किसी विचार को। आखिर गन्तव्य स्थल एक है—सुख और शान्ति की प्राप्ति। वह सबको अभीष्ट है और उसे पाने के लिए लोग अनेक तरह की प्रवृत्तियो का संचालन करते हैं। हमें न राजनीतिक क्षेत्र को छूना है, न आर्थिक क्षेत्र को। हमारा चुना हुआ क्षेत्र आध्यात्मिक, नैतिक या चारित्रिक है। गिरते हुए को उठाए, उठाने में प्रेरक बने, मानव-मात्र के जीवन को ऊँचा उठाने के लिए कोई व्यवस्थित रूपरेखा सामने रखें—उसी भावना का मूर्त रूप अणुव्रत आन्दोलन है।

जीवन की दो धाराएँ हैं : आस्तिकवाद और नास्तिकवाद। जो नास्तिक

हैं, चक्षु-प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं, उन लोगो के लिए कुछ सोचने जैसा है तो वह वर्तमान और प्रत्यक्ष ही है। पर जिनमे विवेक का जागरण है, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार है, मै आत्मा हूँ, अजर-अमर हूँ के विचार की प्रतीति है उनके लिए आत्मा ही परम तत्त्व है। इस चिन्तन के फलस्वरूप तीन बाते बनती हैं —

(१) आत्मनिरीक्षण (२) आत्मपरीक्षण (३) आत्मनियमन।

ये तीन विचार जहाँ नही आए हैं वहाँ मनुष्य अपने आपको नही पहचानता। समाज-सुधार के और राष्ट्र सुधार के कानून बनते है पर अपनी आत्मा को समझे बिना उनसे बनने का क्या है ? मैने बम्बई प्रान्त मे देखा—वहाँ मद्य-निषेध का कानून है पर फिर भी वहाँ लोग खुलेआम शराब पीते हैं। कारण यही कि कानून बुराई छोडने के लिए जोर डालता है किन्तु बुराई के प्रति घृणा पैदा नही करता। बुराई के प्रति घृणा का सस्कार बन जाए तो वह बुराई टिक नही सकती। वह आज खत्म होगी या कल खत्म होगी, आखिर खत्म होकर रहेगी। अत बुराइयो को मिटाने के लिए सस्कार-परिवर्तन या हृदय-परिवर्तन का प्रयास हो तो वह बुराई जड-मूल से मिट सकती है। अपने आप को समझने और पहचानने का प्रयास होगा तभी कुछ बनने का है।

युग प्रगति का है। लोग एक साथ सारी दुनिया को सुधार डालना चाहते हैं। उनके हृदय मे मगलकामना है पर सुधार का सही माध्यम व्यक्ति-सुधार ही है। अणुव्रत-आन्दोलन व्यक्ति-सुधार को प्रमुखता देकर चलने वाला एक चरित्र शुद्धिमूलक रचनात्मक आन्दोलन है। उदाहरण के रूप मे एक कहानी है एक अध्यापक ने विद्यार्थियो को एक नक्शे के कई विभक्त खण्ड, जिसके एक ओर दुनिया तथा दूसरी ओर मनुष्य शरीर की आकृति अकित थी, दिया और कहा कि इसे अव्यवस्थित कर फिर से व्यवस्थित बनाओ। विद्यार्थी उसे जोडने के लिए दुनिया के नक्शे को ठीक करने लगे। वे दुनिया से अपरिचित ठहरे—अफ्रीका को ठीक बैठाया तो अमेरिका अव्यवस्थित हो गया और अमेरिका को ठीक किया तो एशिया अस्तव्यस्त हो गया। अध्यापक ने सबको समझाते हुए कहा कि पहले आदमी को बनाओ, दुनिया का नक्शा स्वत बन जाएगा। विद्यार्थी आदमी के शरीर के सारे अवयवो से परिचित तो थे ही, मानव-शरीर को व्यवस्थित किया, कागज के पीछे की दुनिया का नक्शा स्वत ठीक बन गया। इस तरह विश्व के निर्माण से पहले मानव का निर्माण होगा तभी हमारा कार्य ठोस और क्रियाशील बन सकेगा। अत अणुव्रत-आन्दोलन की गति व्यक्ति-सुधार के माध्यम से आगे बढने की है तथा उसी दिशा में वह आगे बढ रहा है।

भारत स्वतन्त्र हुआ है। शिक्षा, कला और विज्ञान के क्षेत्र में आशातीत विकास हो रहा है। इन क्षेत्रो में विकास हो रहा है तो क्या आत्मा और चरित्र के क्षेत्र मे उन्नति की आवश्यकता नही है? आत्मा के सुधार का या अपने आप के सुधार का जहाँ प्रश्न आता है वहाँ व्यक्ति पीछे खिसक जाता है। यह बुरी स्थिति है। आत्म-नियमन की आज अत्यधिक आवश्यकता है। उसके साधन व्रत है। व्रत महान् शक्ति है। उनका विकास हुए बिना सुख और शान्ति का मार्ग प्रशस्त नही हो सकता। क्या मै आशा करूँ कि लोग भारतीय परम्परा के अनुसार व्रत-शक्ति को बढाएगे, और अपने जीवन को विकास की ओर ले जाएगे?

सरदार शहर
१६ अगस्त '५६

८२ : स्वतन्त्रता में अशान्ति क्यों?

स्वतन्त्रता का मूल्य स्वय सत्य है। नीद की बात छोडिए। जागरण के बाद कोई भी परतन्त्र रहना नही चाहता। इसीलिए ऋषि, जो द्रष्टा होते है, कहते आए है—स्वतन्त्रता सुख है और परवशता दु ख।

स्वतन्त्रता का स्वर आज विश्वव्यापी है। इस नव-जागरण के युग में कोई भी देश ऐसा नही जो परतन्त्रता का समर्थन कर सके। जो पराधीन है वे स्वतन्त्रता के लिए लड रहे है। इन थोडे वर्षों मे अनेको राष्ट्र स्वतन्त्र हो गए है, हो रहे है। सभव है थोडे वर्षो के बाद परतन्त्र राष्ट्र जैसा प्रयोग न मिले। मालूम होता है लोगो ने तथ्य को आँका है। विजातीय अधिकार के खतरे को समझा है। उसके परे होते ही अपना कर्तृत्व चमक उठता है। जैसा कि भारत में हुआ है। स्वतन्त्रता के बाद भारत का गौरव बढा है। आगे बढिए—स्वतन्त्र वातावरण में साँस लेने वाले पूर्ण सुखी है—ऐसा तो नही है। कही अभाव सता रहा है, कही भय और कही लालसाएँ। सब उद्विग्न, अशान्त और प्रलय की आशका से चिन्तित लगते है। यह क्यो? स्वतन्त्रता में अशान्ति क्यो? इस मोड पर रुकना पडता है। सच तो यह है कि लोगो ने नग्न सत्य को परखा नही। भौगोलिक और जातीय भिन्नता में खतरे की कल्पना है। वह वहाँ नही जहाँ वास्तविक खतरा है। व्यक्ति-व्यक्ति पर वासनाओ का साम्राज्य छाया हुआ है—क्रोध, अहकार, लालच और भय निरन्तर घेरा डाले बैठे है। इन्ही की सत्ता के नीचे व्यक्ति मारा-मारा फिरता है, लडता है, झगडता है, मारकाट करता है, सग्रह करता है, शोषण और अत्याचार करता है।

परिणाम मे मिलता है—दु ख और अशान्ति। अपने राष्ट्र पर छाई हुई विदेशी सत्ता को तोड फेकने के लिए जो तत्परता है वह अपने पर छाई हुई बुराइयों की सता के प्रति नही। स्वतन्त्र राष्ट्र रोटी, कपडे और मकान के अभाव को मिटा सकता है, भोगोपभोग के साधन वहाँ सुलभ हो सकते हैं, किन्तु शारीरिक सुविधाओं के उपरान्त भी मानसिक शान्ति, जो कि व्यक्ति की अपनी स्वतन्त्र निधि है, नही होती, उसका दूसरा कौन क्या करे ? स्वतन्त्रता की पहली मंजिल पार की है। उन्हें आगे की मजिल भी पार करनी है, पर उसकी चेतना जागे बिना वह हो कैसे ? मनुष्य अभी भी नही जान पाया है कि उसकी अशान्ति का मूल स्वय वही है, उसकी वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ उसका जीवन जटिल बनाती जाती हैं। यदि इसे जान पाया है तो भी हृदयंगम नही कर पाया है। कोई सन्देह नही, इस क्षेत्र में चेतना उद्बुद्ध नही हुई है। विदेशी सत्ता को उखाड फेंकने के लिए चेतना जागी और लाखो व्यक्ति—"स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है"—के नारो पर मर मिटे। अगर बुराई के विरुद्ध भी वैसी चेतना जाग जाती तो लोग कठिनाइयो से मुंह नही मोडते। नीतिनिष्ठ व्यक्तियो का द्वार भी अनीति के लिए खुला है और इसलिए खुला है कि बिना मतलब कठिनाई कौन झेले ! "यद्यपि कार्य बुरे हैं पर सभी कर रहे हैं फिर कोई एक नही करेगा तो उससे क्या बनने बिगड़ने का है ? आखिर तो सब भले होगे तभी नीति टिकेगी", इस प्रकार श्रद्धा गिरती है, व्यक्ति गिर जाता है, सुख-सुविधा और विलास का ऐसा नशा छा जाता है कि फिर उठने की बात नजदीक नही रहती। सरसरी दृष्टि डालिये—केवल भारत में ही नही, लगभग दुनिया के पट पर यही चित्र चल रहा है। आखिर यह कब तक चलेगा ? अशान्ति के अन्तर्दाह से झुलसा मनुष्य शान्ति के लिए दौड रहा है और दौडता ही रहेगा। वैयक्तिक स्वतन्त्रता के बिना वह मिलने की नही और यह तत्त्व समझ मे नही आ रहा है। ठीक वही दशा है—कस्तूरी की खोज मे मृग समूचा जगल छान लेता है पर उसे मिलती नही। सचमुच शान्ति चाहिए तो सबसे पहली अपेक्षा है—उसके अनुकूल श्रद्धा बने और चेतना जागृत हो। प्रत्येक व्यक्ति अपने को स्वतन्त्र बना ले तो अशान्ति की सत्ता उखड जाय। सारी समस्याएँ सुलझ जायँ। अणुव्रत-भावना का यही आधार है। इससे सीधे रूप में न आर्थिक कठिनाइयाँ मिटती हैं और न अभाव की समस्याए सुलझती हैं। किन्तु इससे आगे व्यक्ति की जो मौलिक समस्या है सर्वभाव मे भी अशान्ति नही मिटती, वह यह मिटा सकती है। व्यक्ति का आत्म-बल जाग जाए तो अभाव में भी शान्ति रह सकती है। पहली समस्या यही है कि ऐसी चेतना कैसे जागे ? समाज और राष्ट्र के कर्णधारो को इस यथार्थवादी दृष्टिकोण की उपेक्षा नही

करनी चाहिए। स्वतन्त्रता का दीप व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की बलि-वेदी पर जले तभी शान्ति-रेखाएँ विद्योतित होगी।

सरदारशहर
(अणुव्रत-प्रेरणा-समारोह)
१९ अगस्त '५६

८३ : कुशल कौन ?

"कुसले पुण णो बद्धे णो मुक्के"—अर्थात् कुशल बँधा भी नही होता, खुला भी नही होता। बाहर की मर्यादा से न बँधे और अन्तर की मर्यादा से मुक्त न बने वही कुशल है। व्यक्ति का विवेक नही जागता, अपने आप अपने पर नियत्रण नही आता तब दूसरो द्वारा बाँधा जाता है, कसा जाता है। अन्तर की आँख खुलने पर दीपक आलोक देने नही आता। दीपक स्वय नही जलता, जलाया जाता है। मर्यादाएँ स्वयं नही आती, वे बुलाई जाती हैं। बुलानेवाला कौन ? वही जो स्वय नियन्ता नही। जो जितना अधिक नियन्त्रणहीन होता है वह उतना ही अधिक अपने आसपास मर्यादा का जाल बुनता है।

साधना आत्म-मर्यादा है। वृत्तियो का वेग रोकने से चैतन्य में आनन्द भर आता है। शारीरिक वेग का निरोध हानि पहुँचाता है। वृत्तियो का वेग बाहरी नियन्त्रण से रोका जाए तो वह भी हानिकारक है। यदि उसे साधना से रोका जाए तो वहाँ हानि नही होती। साधना का अर्थ है—आनन्द का उभार। वृत्तियो का उबाल विषय-लाभ से पूरा किया जाए वहाँ एक हल्की-सी सुखानुभूति होती है। भले फिर वह थोडे में मिट जाए, ज्यादा न टिके—चपल, अस्थिर, विनाशी, कैसी भी क्यों न हो। कष्टानुभूति या विषय के त्याग से विकार नही मिटता, सुखानुभूति की कमी पूरी नही होती। उसे पूरा करने के लिए उससे अधिक सरसता चाहिए। वह आनन्दानुभूति है। सुखानुभूति का पलड़ा आनन्दानुभूति से हल्का होता है। जहाँ वृत्तियो का उबाल कोरी कष्टानुभूति से ठडा होता है वहाँ विरसता, चित्त-भ्रम, उन्माद या पागलपन का भाव उभर आता है। इसलिए सुखानुभूति को आनन्दानुभूति से जीतना चाहिए। सुखानुभूति विकार है, आनन्दानुभूति और साधना।

८४ : सच्ची शान्ति अध्यात्म-साधना में है

ससार मे रच-रचाया मानव सोचता है—ससार ही उसके लिए सब कुछ है। अपने सासारिक जीवन को सुखी, समृद्ध और सुसज्जित बनाना वह अपना लक्ष्य मान बैठा है। इससे उसका जीवन भोगोन्मुख है। भोगोन्मुखता को पूरा करने के लिए उसे येन-केन-प्रकारेण अर्थ-सग्रह मे जुटना पडता है। इतनी उलझन मे वह पड जाता है कि अपने इस घेरे के अतिरिक्त उसे कुछ सूझता तक नही। सूझे भी तो कैसे? स्वय उसने बडे सघन आवरण अपने लिये तैयार कर लिए है।

व्यक्ति का यह समझना सचमुच भारी भूल है। जिन भोगोपभोगो की भूल-भुलैया में गुमराह बन वह अपने को भूल जाता है, जीवन को भूल जाता है, वह भोग-सामग्री मृगमरीचिका से अधिक क्या है? जीवन को वह जर्जर, ध्वस्त और निराश्रित बना देती है। सही माने मे यह सुखाभास है, सुख नही। इन्हें सुख मानना ही सबसे बडी भूल है।

सच्चा सुख, सच्ची शान्ति भोग में नही है, भौतिक साधनों में नही है, अध्यात्म-साधना मे है। यह तत्त्व प्रत्येक व्यक्ति को हृदयगम करना है। यह सम्भव नही कि ससार के समग्र व्यक्ति ससार से सर्वदा पराङ्मुख बन अपने को सम्पूर्ण रूप से अध्यात्म-साधना में जोड दें। ऐसे तो कुछ ही व्यक्ति हुआ करते हैं। पर साथ-साथ इसमें इतना तो है—जीवन ऐकान्तिक रूप में भोग-परायण तो न बने। जहाँ तक बन सके अध्यात्म-जागरण भी जीवन में व्याप्त हो।

अध्यात्म जागरण का अर्थ है—जो विकार, अशुद्ध प्रवृत्तियाँ आत्मा को मलिन बना रही हैं, उनसे छुटकारा पाना। पर-पीडन, पर-शोषण आदि हिसक वृत्तियो से जीवन दिन पर दिन पतन की ओर जा रहा है। उसका सत् स्वरूप दूषित हो रहा है। लोभ, अविश्वास, छल, मिथ्याचरण जैसी नीच वृत्तियो ने जीवन को घिनौना बना रखा है। इन सबपर रोक लगानी होगी ताकि आत्मा अपनी निर्मलता को न खोए। आत्मा में परिव्याप्त इन विकारो से आत्मा को बचाये रखना, पहले के लगे विकारो को निकालकर बाहर फेंकना—यही अध्यात्म-साधना है।

इसके लिए आत्मा के शुद्ध स्वरूप का चिन्तन, उसके गुणो का स्मरण, उसपर स्थिर बने रहने की भावना, आते हुए विकारों को देख अस्थिर न बनने की दृढता, इस मार्ग में आनेवाली कठिनाइयो का हँसते-हँसते मुकाबला आदि में मानव को जुडना होगा। ऐसा करने से वह अपने आपको कलुषित वृत्तियो से बचाने में बहुत कुछ सफल हो सकेगा।

निम्नता की ओर जाने मे कठिनाई नही होती। बिना ताकत लगाए जाया जा सकता है पर ऊपर उठने में, ऊँचा चढने में कठिनाई होती है। वही बात आत्म-विकास के ऊँचे आदर्शों को पाने मे है। हाँ, कठिनाई जरूर होगी पर उस ओर आगे बढनेवाले को उस कठिनाई मे भी एक रस आता है, प्रसन्नता की अनुभूति होती है।

आवश्यकताओ की पूर्त्ति करके शान्ति पाने का जो दृष्टिकोण बनता जा रहा है वह एक भ्रामक दृष्टिकोण है, जो जगत् पर अशान्ति की चिनगारियाँ उछाल रहा है। संयम की साधना ही शक्ति की साधना है, जिसपर आज के मानव को अग्रसर होकर वास्तविक सुख और शान्ति को प्राप्त करना है।

आज का लोक-जीवन अशान्ति और विद्वेष के बीच से गुजर रहा है। सयम और सदाचार का अभाव ही इसका मूल हेतु है। लोग भौतिक सुख-सुविधाओं की ओर अधिक दौडते है, सयम का पक्ष कमजोर पडता जा रहा है। आवश्यकताए दिन पर दिन बढ रही है फिर अशान्ति हो भी क्यो नही? जो कार्य अशान्ति के है उनसे वह बढेगी ही।

आज जहाँ सब चीजो का मूल्य बढा है वहाँ पर मानवता—इन्सानियत का मूल्य घटा है। यह मानव के लिए शर्म की बात है। नैतिकता का ह्रास कितना हुआ, कैसे हुआ, यह मुझे बतलाने की आवश्यकता नही। क्योकि मुझसे ज्यादा आप इन बातो से परिचित हैं।

८५ : व्यापारी-वर्ग से

बुजुर्ग कहा करते थे—"**जाओ लाख पर रहो साख**" पर आज इससे बिल्कुल विपरीत हो रहा है। आज तो यह कहते है—"**जाओ साख पर रहो चाहे चूल्हे की राख**"। बुजुर्ग सोचते थे कि मेरा धन चला जाय, मेरे बाल-बच्चे चले जायँ, मेरी शरीर की चमडी भी क्यो न चली जाय पर ऋण को चुकाना है। पर इसके विपरीत—आज अच्छी तरह व्यापार चलता है पर नीयत का दिवाला निकल जाता है। अच्छी तरह जानते है कि मुझे कल मागनेवाले को अँगूठा दिखाना है—दिवाला निकालना है तो भी उससे पहले-पहल जितना रुपया मिल सकता है लोगो से ले लेते है। मकान, धन आदि अपनी पत्नी या पुत्र के नाम कर देते है और लोगो से कह देते है कि हमारे व्यापार में नुकसान हो गया है, रुपया नही दे सकते। यह मानवता का पतन नही तो और क्या है? इन घटनाओ को देख कर दिल में दर्द होता है—ठेस लगती है। न जाने मानवता कौन-सी गुफा में जा छिपी!

आज पैसे के लिए मनुष्य अपनी सारी जिन्दगी लगा देता है। उसे न रोटी खाने की चिन्ता रहती है न कपडे पहनने की। रात-दिन इसी ध्यान मे रहता है कि येन-केन-प्रकारेण ज्यादा से ज्यादा रुपये पैदा करूँ। चाहे किसी का कुछ भी क्यो न हो। हमे इससे कोई मतलब नही। लेखक ने ठीक ही लिखा है—"चाहे जाति पहले पाताल मे जाय, नीति तीसरे पाताल मे चली जाय, धर्म पहाड से गिरे और ऊपर पडे पत्थर, बुजुर्ग गड्ढे मे गिरें। हमारा इनसे कोई सम्बन्ध नही है। हमे तो चाहिये—रुपया।" यह है आज के नागरिको की मानसिक स्थिति। आपमें बहुत से सत्यवादी, प्रामाणिक व्यापारी भी हो सकते है पर आज व्यवहार में यही कहा जाता है कि आज के व्यापारी बेईमान होते है। वे कहते है कि झूठ के बिना हमारा काम ही नही चलता। आपको इस कहावत की असत्यता जड-मूल से मिटानी है।

आप जानते है कि एक दिन सबको जाना है। धन-धान्य, स्त्री, बाल-बच्चे सभी यही रहनेवाले है। कोई भी आपके साथ नही जाएगा। फिर क्यो इतनी अनैतिकता का व्यवहार करते है?

बाजार निर्भयता और न्याय का स्थान है, यह किसी से छिपा नही। बच्चे, जवान, बूढ्ढे सभी बाजार में जाकर निर्भय बन जाते है। अगर बाजार में भी निर्भयता और विश्वास नही रहेगा तो और कहाँ रहेगा? वह गुडवाला उदाहरण याद आता है। गुड ने सोचा—लोग कहते है कि रामराज्य में सभी सुखी होते है फिर मै इतना दुखी क्यो? मुझे लोग क्यो इतना परेशान करते है? मुझे मारते है, मुझे खाते है, भट्ठी पर जलाते है। गुड गुडकता-गुडकता राम के पास फरियाद लेकर पहुँचा, और कहने लगा—महाराज! आपके यहाँ न्याय नही है। राम ने पूछा—कैसे? गुड ने कहा—मुझे सब लोग खाते है, पीटते है, जलाते है, और चीटियाँ भी नही छोडती इसलिए मै काफी दुखी हूँ। राजा ने कहा—ठीक है भाई, हम इस पर कार्यवाही करेंगे। राजा ने फिर पूछा—भाई तुम्हें लोग क्यो खाते है? गुड ने कहा—महाराज, मुझमें एक अवगुण है कि मैं मीठा हूँ। राजा ने कहा—तू मीठा है? तब तो हमारा भी मन चलता है। हम भी खाएँगे। उसने कहा—हो गया न्याय। उल्टा आप ही खाने लगे। कहने का मतलब ऐसी जगह भी न्याय नही होगा तो कौन-सी गुफा मे होगा?

आज मुझे ज्यादा गहरे विषय पर नही जाना है। मुझे तो खास-खास बातें जो आपके जीवनोपयोगी है उन्ही को आपके सामने रखनी है। आपकी इच्छा हो तो उन नियमो को ग्रहण करें।

आज के सम्मेलन में भाग लेने वाले व्यापारी बन्धुओ के लिए उनसे

सम्बन्धित दो नियम रखे गये है। पहला तो जान-बूझ कर कूट माप-तोल नही करूँगा और दूसरा जान-बूझ कर नकली मे असली मिला कर या नकली को असली बता कर नही बेचूंगा। अगर आप इन दो नियमो को थोडे दिनो के लिए ही अपनाएँ, तो आप महसूस करेंगे कि कितना आनन्द और सुख आपको मिलता है। इन नियमो के ग्रहण करने से कुछ दिन आपको कठिनाई अवश्य होगी। बिक्री भी शायद कम होगी। पर उसका फल मीठा होगा। थोडे दिनो बाद आप देखेंगे कि पहले शायद ही ऐसी बिक्री चली होगी। अन्त में मैं आपसे यह निवेदन करूँगा कि ज्यादा से ज्यादा व्यापारी बन्धु इन सभी नियमो को ग्रहण कर आज के इस सम्मेलन को सफल बनाएँगे। हाँ, ध्यान रहे कि कोई भी सकोच या आवेश मे आकर नियमो को ग्रहण न करें।

सरदारशहर
(व्यापारी-सम्मेलन)
२२ अगस्त '५६

८६ : महत्त्वपूर्ण पर्व

क्षमत-क्षामना का पर्व जैन-सस्कृति का महत्त्वपूर्ण पर्व है। यह जन-जन को क्षमा का पावन सदेश देता है पर यह कहते खेद होता है, क्या जैनो ने ऐसे पर्वों के साथ खिलवाड नही किया? जिनलोगो का यह पर्व नही है, उनमे कितनी सहनशीलता और क्षमा-भावना का व्यवहार हम पाते हैं? पारस्परिक झगड़ों और क्लेशो को वे मैत्री और सद्भावना से सुलझाने का प्रयास करते है। एक योजना असफल हुई तो दूसरी योजना का वे गठन करते है, यह अहिंसक वृत्ति की ओर झुकाव है, जैन आदर्शो का यह सहज स्वभाव है ऐसा आपलोग मानेंगे पर जब जैनो की तरफ दृष्टि फैलाते हैं तो कितना पारस्परिक मनोमालिन्य और असौजन्य पाते है, क्या यह जैनत्व के अनुकूल है? दूसरे के विचारो को बुरी तरह रौंद डालने की चेष्टाएँ चलती है, क्या यह जैन-धर्म के मौलिक आदर्श क्षमा-भावना के प्रतिकूल नही है? क्या जैनो के लिए यह लज्जा की बात नही ?

मैं चाहूँगा—जैन बन्धु इसे हृदयगम करे, क्षमा और सहनशीलता को जीवन मे अधिक से अधिक स्थान दें। इसी मे उनके जैनत्व की शोभा है। क्षमाशील होन। जैनत्व का सच्चा गौरव है। यही वह सत्प्रेरणा है, जो ऐसे पर्वों से सबको लेनी है।

जैसे कि मैंने रात को आत्म-निवेदन किया, सबसे क्षमा-याचना की।

पुन: मै अपने अति निकटवर्ती सर्व साधु-साध्वियों एव श्रावक-श्राविकाओं से आन्तरिक क्षमा-याचना करता हूँ। केवल यहाँ के साधु-साध्वियो से ही नही, मद्रास, उडीसा, बम्बई आदि अन्यान्य स्थानो में स्थित साधु-साध्वियो से भी आज के दिन क्षमत-क्षामना करता हूँ। दूसरे सम्प्रदाय के व्यक्तियो से भी जिनके विचार हमसे नही मिलते है, मै उनसे भी अत्यन्त विनम्र भाव से क्षमत-क्षामना करता हूँ। अन्तत मै सारी मानव-जाति से और चौरासी लाख जीवयोनि से क्षमत-क्षामना करता हूँ।

मै चाहूँगा—आप सब इस पर्व का सच्चा महत्त्व आकते हुए जीवन में सहज सहनशीलता और क्षमावृत्ति अपनाए।

सरदारशहर
१६ सितंबर '५६

८७ : जन-सेवक

जन-सेवक—यह नाम कितना मधुर है। कितना अच्छा हो, काम भी यदि उतना ही मधुर हो। नाम की मधुरिमा के साथ-साथ यदि काम की मधुरिमा न हो तो उस मधुर नाम से क्या हो सकता है?

आज सभी वर्गो के लोग जन-सेवा का दावा करते है। व्यापारी कहेगे, वे लोगों तक अनाज पहुँचाते हैं, अन्य आवश्यकता की चीजे उनतक पहुँचाते हैं। कितनी बडी सेवाएँ करते हैं। राज्य-कर्मचारी कहेंगे, वे लोगो मे शान्ति बनाये रखते हैं, सघर्ष को रोकते है, न्याय देते है। इसी तरह सभी वर्गों के लोग लोक-सेवा का दावा करते नही सकुचाते। लेकिन मै कहूँगा सेवा का दम भरनेवाले व्यापारी नाजायज मुनाफा लेना तो छोडें, वस्तु के क्रय-विक्रय में माप-तौल और अन्य प्रकार के सम्बन्ध में अनैतिकता तो न वरतें। यदि उन्होने इस रूप में अपने जीवन को माँजा, अपनी वृत्तियो का दमन किया, पतन से अपने को बचाया, तो मैं समझूंगा कि वे बहुत बडी सेवा करते है। इसी तरह मै राज्याधिकारियो से कहना चाहूँगा कि वे अपने जीवन को अधिकाधिक सच्चाई, ईमानदारी और सयत आचरणो में ढाले। रिश्वतखोरी जैसी कलुषित वृत्तियो को छोड़े। जैसे यह उनके स्वय के जीवन-शोधन का प्रशस्त पथ है उसी तरह औरो के लिए भी यह कल्याणकारी है। जीवन-शुद्धि की दृष्टि से यह जहाँ स्व-सेवा है, लोक-हित की दृष्टि से यह पर-सेवा भी है। यही बात अन्यान्य वर्ग के लोगो के लिए है। सबसे पहले वे अपने आपको सुधारे, अपनी कालिख मिटा, अपनी असत् वृत्तियो पर रोक लगाएँ।

अणुव्रत-आन्दोलन जन-जागरण की दृष्टि से चलनेवाला एक जीवन-

शुद्धि-मूलक आन्दोलन है। इसका एक ही लक्ष्य है, जन-जन का जीवन सदाचार; जीवन-व्यवहार, न्याय और सच्चाई पर आधारित हो, तथा अनैतिकता के कारावास मे फँसी मानवता उन्मुक्ति पाए। यह आन्दोलन जहाँ जातीय और साम्प्रदायिक सकीर्णता से अछूता है वहाँ वर्ग, दल और जमात-भेद इसमें नही है। यह तो सभी वर्ग-जाति और दल के लोगो को जीवन-शुद्धि के मार्ग पर लाने का आन्दोलन है। मैं चाहूँगा, लोग इसके विश्वजनीन आदर्शो पर अपने को लाए।

सरदारशहर,
१६ सितंबर '५६

८८ : आत्मशुद्धि की सत्प्रेरणा लें

आचार्य भिक्षु के साहस का कोई पार नही था। उनमे अपरिमित आत्म-बल था, जिसके सहारे विपदाओ, बाधाओ और अडचनो का सामना करते हुए वे चल पड़े, जीवन-शुद्धि के विशुद्ध राजपथ पर। आत्म-जागृति मे अपने को प्राणपण से जोड देनेवाले मनस्वी बाधाओ से भला कव घवडाते हैं?

उन्होने भगवान् महावीर के आदर्शों पर अपना जीवन ढाला, औरो को उस ओर प्रेरित किया, जैन-दर्शन के स्वरूप को जन-जन के समक्ष रखा। वे धर्म-ज्योत्स्ना के महान् प्रसारक थे।

साधना उनके जीवन में बोलती थी, उनकी वाणी में बोलती थी। जो भी साधना को आगे रखते हुए करते, जो भी वे कहते अध्यात्म-तत्त्व को दृष्टि में रख कर कहते। उनका जीवन अध्यात्म की उज्ज्वल ज्योति से ज्योतिर्मय था। धर्म की आभा से उल्लसित था।

वे धर्म-सघ के महान् प्रणेता थे। धर्म-शासन की सुव्यवस्था के लिए उन्होने बहुत कुछ किया। सगठन की सुदृढ नीव डाली, जो अध्यात्म जगत् के लिए आज भी एक अनुपम देन है, प्रेरणा-स्रोत है।

ऐसे महापुरुष के जीवन से लोग धर्म के प्रति सक्रिय निष्ठा, तत्त्वो के प्रति सजग मननशीलता, साधना पथ पर आनेवाले कष्टो के प्रति उपेक्षा आदि अनेको सद्गुणो को सीख सकते हैं। सबको चाहिए, वे आज के दिन उस दिवंगत आत्मा के जीवन से आत्म-शुद्धि की सत्प्रेरणा लें। अपने को उस ओर प्रवृत्त करे।

सरदारशहर
१७ सितम्वर '५६

८६ : जीवन-सुधार का सच्चा मार्ग

आज स्थिति ऐसी है कि लोग दूसरो की बाते बहुत करते है पर अपनी भूल जाते है। अपना जीवन किस ओर जा रहा है, इस ओर उनका ध्यान तक नही, यह व्यक्ति की सबसे बडी कमी है, जीवन का सबसे बडा दोष है। प्रत्येक व्यक्ति का पहला कर्त्तव्य है—वह अपने आपको देखे, अपना स्वय आत्म-निरीक्षण करे। आगम की भाषा मे वह सच्चा मेधावी है, वह दुखो को तरता है। ऐसा व्यक्ति सत्य से अनुशासित होता है। सत्यानुशासित के लिए कही भी भय नही, शोक नही, विषाद नही। वह सच्चा स्वतत्र जीवन भोगता है। जीवन मे सत्य का अनुशासन होने पर वहाँ बहुमुखता होने के बावजूद वह सयत आचरण रखता है। संयमित जीवनचर्या की साधना के लिए सम्यक् चिन्तन के साथ-साथ सम्यक् श्रद्धा और क्रियाशीलता की अपेक्षा है। अणुव्रत-आन्दोलन मानव जीवन को सत्-निष्ठा और सत्-क्रिया से सजोना चाहता है ताकि आज विपथगामी मानव सुपथगामी बने। अनीति के अनवरत आघातो से जर्जरित जीवन मे नीति और न्याय प्रतिष्ठित हो। उसको चारित्र्य का सत्पोषण मिले।

अपनी महाराष्ट्र यात्रा के बीच मैने देखा, कानूनन वहाँ शराबबन्दी है, पर लोगो को इसका भान तक नही, वे खुले आम शराब पीते है। मैने उन्हे समझाया, शराब के जीवनघाती अवगुण बताए। उनका अन्तरतम आन्दोलित हुआ। उन्होने स्वेच्छा से जीवन भर के लिए शराब का परित्याग कर दिया। कानून जहाँ उनके मन को छूता तक नही था, हृदय-परिवर्तन ने उनके जीवन का पथ मोड दिया। यही कारण है, मै अक्सर कहा करता हूँ—हृदय-परिवर्तन जीवन-सुधार का सच्चा मार्ग है। अणुव्रत-आन्दोलन हृदय-परिवर्तन का आन्दोलन है। वह बुराई, असद्वृत्ति और अनैतिकता के प्रति घृणा पैदा कर भलाई, सद्वृत्ति और नैतिकता के लिए मन में एक स्थान पैदा करना चाहता है, ताकि व्यक्ति स्वय बुराइयो की ओर से मुडे, मुख मोडे, तथा भलाइयो की ओर अधिकाधिक उन्मुख हो सके।

सरदारशहर
२३ सितम्बर '५६

६० : चरित्र का मापदण्ड

प्रत्येक व्यक्ति अणुबम की विस्फोट-भूमि है। चरित्र-हीनता के धूमिल वातावरण मे घुट-घुट कर जीनेवाला मनुष्य स्वस्थ रहा ही कब? अणुबमो के थोडे परीक्षण या विस्फोट हुए होगे। सारा विश्व चिल्ला रहा है पर उसके पीछे ठोस आधार कहाँ है? आखिर अणुबम बनते ही क्यो है? इसीलिए तो मनुष्य-समाज का चरित्र अभी भी शैशवावस्था में है। शस्त्रीकरण और नि शस्त्रीकरण की बात चरित्र के साथ सर्वथा जुडी हुई है। चरित्र के स्तर का मापदण्ड अहिंसा है। शस्त्र मे निष्ठा रखनेवाला चरित्रनिष्ठ नही हो सकता। चरित्र मे जिसकी निष्ठा नही होती, वही शस्त्रनिष्ठ होता है। भयकरता शस्त्र में नही, व्यक्ति के चरित्र मे होती है। शस्त्र तो उसका प्रतिबिम्ब मात्र होता है। सही अर्थ मे मनुष्य ही शस्त्र है और वही अणुबम है। वह विस्फोट करता आया है और आज भी उसके चरण उसी पथ पर बढ रहे हैं। नि शस्त्रीकरण की प्रयोग-भूमि भी मनुष्य ही है। चरित्र ऊर्ध्वगामी होता है तब शस्त्र-निष्ठा टूट जाती है। अणुबम और अणुव्रत दोनो एक साथ नही टिक सकते। अणुबम पराजय, भय और कायरता का प्रतीक है। अणुव्रत विजय, अभय और वीर-वृत्ति का सन्देश है। जब मनुष्य मौत या अपहरण के भय से कायर बना तब उसने शस्त्र बनाने की बात सोची और उसके विकास में वह अणु-शस्त्र के युग तक या पराजय की चोटी तक पहुँच गया। थके-माँदे मनुष्य ने मदिरा और पी ली है, वह नशे में पागल बन दूसरो को मार भी रहा है, दूसरो के अधिकारो को निर्ममता से कुचल रहा है। पराजय से घोर पराजय की ओर प्रगति हो रही । चरित्र का मापदण्ड केवल व्यवहार की सच्चाई ही नही है। व्यवहार मे छलना व अप्रामाणिकता नही, यह अच्छी बात है किन्तु चरित्र के विकास को इससे और आगे ले जाना है।

अणुव्रतो द्वारा चरित्र के स्थूल दोष मिटते हैं, सूक्ष्म बुराइयो को पकडने वाले व्रत महान् होते है। मोटी बुराइयाँ छोडी जाती हैं, तब व्रत अणु होता है। अल्प-शक्ति वालो के लिए यही मध्यम-मार्ग है। यह अव्रत और महाव्रत के बीच व्रत का मार्ग है। यह दानवता और देवत्व के बीच मानवता का मार्ग है।

६१ : अणुव्रतों की महत्ता

अणुव्रत का कार्य बहुत वर्षो से चल रहा है। बहुत से अणुव्रती बने हैं, अणुव्रतो का पालन भी वे करते हैं पर अणुव्रतो की क्या महत्ता है, उसकी क्या भूमिका है, देश को क्या आवश्यकता है—इन बातों को बहुत कम समझ पाये हैं। इसी का परिणाम है—उनका जीवन अब तक उसके अनुसार नही ढल पाया है। जब तक युवक भाई-बहनें इस भावना को नही समझेंगे तब तक वह शीघ्र गति से आगे नही बढेगा। इसी अणुव्रत भावना को समझने के लिए अणुव्रती भाइयो ने इस अणुव्रत-विचार-शिविर का आयोजन रखा है। वैसे शिविर दो तरह के होते हैं। एक तो जिसमे एक साथ खाना, पीना, रहना, कार्य करना होता है। पर यह शिविर विचार-शिविर है। इसमे अणुव्रत की क्या भावना है, क्या लक्ष्य है, इन बातो को समझना है। इसी उद्देश्य से जो शिविर आरम्भ हुआ है। इसमें अधिक से अधिक भाई-बहन भाग ले तथा कुछ कार्यकर्त्ता इसमे लगातार कार्य करें तो उन्हें एक नयी दिशा मिलेगी।

सरदारशहर
(अणुव्रत-विचार-शिविर)
२ अक्टूबर '५६

६२ : सम्यक्करण का महत्व

जिसकी चाह नही है उसकी राह सामने है और जिसमें चाह है उसकी राह नही है। आज का मनुष्य विपर्यय की दुनिया मे जी रहा है।

चाह सुख की है, कार्य दु ख के हो रहे हैं। चाह शान्ति की है, और प्रयोग अणुअस्त्र के चल रहे है।

भगवान् महावीर ने कहा—"दु ख हिंसा प्रसूत है, दु ख आरम्भ प्रसूत है।" इन शब्दो में वर्तमान की कठिनाइयो का संग्रह है।। हिंसा का पहला प्रसव है—वैर-विरोध, दूसरा भय और तीसरा दु ख।

आरम्भ का पहला प्रसव है—सग्रह, दूसरा वैषम्य और तीसरा दु ख।

किन्ही को अतिभाव सता रहा है और किन्ही को अभाव। अतिभाव के पीछे सरक्षण का रौद्र भाव है और अभाव के पीछे प्राप्ति की आर्तवेदना।

सुख का हेतु अभाव भी नही है, अतिभाव भी नही है, सुख का हेतु

स्वभाव है। मनुष्य अपने स्वभाव से जितना दूर रहता है उतना ही अति-भाव—पदार्थ का अधिक सग्रह करने लगता है। पदार्थ से दूर हटने का मतलब है स्वभाव की ओर गति। स्वयंकृत अभाव में स्वभाव का दर्शन निकट से होता है। अभाव विवशता से होता है। वह दुःख देता है। पदार्थ का अभाव हो—यह कोई कैसे चाहेगा ? अतिभाव की चाह होती है पर वह करनी नही चाहिए। यथाभाव की क्षमता समाज-व्यवस्था मे है। जो नही होना चाहिए उसके निवारण की क्षमता त्याग या व्रत में है। अणुव्रत का सन्देश यही है—जो नही होना चाहिए उससे दूर रहो। यह व्यवस्थाओ की स्वय स्फूर्त व्यवस्था है। सुख का हेतु अहिंसा या मैत्री है। उसका आधार अनपहरण है। जो व्यक्ति दूसरो के हक का कभी हरण नही करता वह सभी का मित्र है। सुख की दृष्टि बाहरी पदार्थों से बँधी हुई है। यह भूल है। इससे मानसिक असमाधि बढती है। भगवान् महावीर ने कहा—महा आरम्भ नरक का हेतु है। नरक कोई माने या न माने, वह आगे की बात है। किन्तु इससे दुर्गति होती है, इसमें कोई सन्देह नही। महा आरम्भ का उद्देश्य महापरिग्रह है। महापरिग्रह का उद्देश्य है—महाभोग या महाविलास। क्रम यो हुआ—महाविलास के लिए महा परिग्रह और महापरिग्रह के लिए महाआरम्भ। जिसका मूल दुर्गति है, उसके उस पत्र-पुष्प में सुरभि कहाँ से होगी ? महा आरम्भ को आज की भाषा मे बड़ा उद्योग या बडा व्यापार कहा जा सकता है।

राष्ट्रीय दृष्टि से बडे-बडे उद्योगो और व्यापारियो को महत्त्व मिलता होगा। प्रोत्साहन भी मिलता होगा मुझे पता नही। मैं चरित्र-शुद्धि की दृष्टि से कहता हूँ। सुख और शान्ति की दृष्टि से महाआरम्भ और महापरिग्रह आदरणीय नही है—यह ऋषिवाणी है। निष्ठापूर्वक आरम्भ और परिग्रह के अल्पीकरण से सुख-शान्ति का विकास होता है। यह अनुभवगम्य भी है।

जिस मार्ग में जो स्वय स्पष्ट होता है वही उसकी प्रेरणा देने का अधिकारी है। दिये से दिया जलता है। दृष्टि से दृष्टि मिलती है। भारतवर्ष मे दृष्टि के सम्यक्करण का बहुत बडा महत्त्व रहा है। यह आत्मदर्शी ऋषियो की पुरानी परम्परा है। आरम्भ, परिग्रह और भोग से दूर रहकर उन्होने जो सत्य पाया, समाधान पाया, सुख और शान्ति का अनुभव पाया, वही उन्होंने शब्दो मे गूंथा। उसका सार है—**"तप और संयमी जीवन ही उत्तम जीवन है।"**

भोग-प्रधान जीवन में पदार्थो से समृद्ध जीवन ही उच्च जीवन है। त्याग-प्रधान परम्परा इस मानदण्ड को स्वीकार नही करती। सादगी और

सरलता निर्धनता की पराकाष्ठा नही है, किन्तु त्याग की महिमा है। धन से मन को समाधान नही मिलता। मानसिक समाधि के विना शान्ति नही। हमारा सूत्र शान्ति है—द्वन्द्व का उपरस। भोग प्रधान मे द्वन्द्व ही परम पुरुषार्थ है।

जी चाहता है मन की सारी अनुभूति सब के गले उतार दूं। कुछ बनता भी है, नही भी बनता है। नही से अच्छा ही है कि कुछ बनता है। नव-निर्माण सरल नही होता। जीवन के मूल्य बदलने है, मूल्याकन की दृष्टियाँ बदलनी है। वे नही बदल रही है। जो नही बदलनेवाली है वे बदल रही है। अनुशासन की कमी, विनय की परम्परा का उन्मूलन, त्याग के प्रति अश्रद्धा, स्वार्थ की प्रचुरता ये नही बढने चाहिये। वे बढ रहे हैं। उद्दण्डता बढ रही है, पुलिस की गोली चलने का क्रम बढ रहा है, शासन का नियन्त्रण बढ रहा है। स्व-नियमन कम हो रहा है। यही क्रम चला तो एक दिन सभी स्वयं को खतरे में पाएगे।

स्व-नियमन की कमी दीखती है तब सभी को दुःख होता है। शासक भी पछताते है और अन्य भी। किन्तु सिर्फ पछताने से क्या होगा ? स्व-नियमन की परम्परा को छोड कर दूर भागने का क्रम तोडना होगा। राजनीतिक चेतना के बहाव मे सारी बाते गौण हो रही है। यह सबसे बडा सकट है।

राजनीतिक प्रभुत्व अतिमात्र बढ गया है। जीवन का प्रत्येक क्षेत्र उससे आक्रान्त है। स्व-नियमन पर यह आघात है। पूंजी, सत्ता और आधार के केन्द्रीकरण से सन्तुलन मिट जाता है।

अणुव्रत का आदर्श यही है कि व्यक्ति-व्यक्ति स्व-नियमन के द्वारा पूंजी, सत्ता और अधिकार का सग्रह छोडे, अपने को भार मुक्त बना दूसरो को परितुष्ट करने का मार्ग दिखाए। अनुकरण की दुनिया मे अगली पक्तिवालो को सम्हलने की अधिक आवश्यकता है।

सरदारशहर
(सप्तम अधिवेशन अणुव्रत)
१२ नवम्बर '५६

९३ : आत्मानुशासन

मानव मात्र का स्वभाव है कि वह अन्धकार की परिधि से बाहर निकल कर प्रकाश की ओर बढने का अभिलाषी होता है। व्रत-ग्रहण में भी

यही तथ्य निहित है। मानव समाज में व्याप्त विषमता, अनैतिकता एवं बेईमानी जब व्यक्ति को दृष्टिगोचर होती हो तो उसके अन्तर में एक प्रश्न उठता है, एक चीख निकलती है—"यह क्या हो रहा है?" वैमनस्य, शोषण एव अनाचार को दूर करने, प्रकाश की झलक देखने तथा सन्मार्ग अपनाने के लिए व्यथित मानव की आत्मा उद्वेलित हो उठती है और वह त्याग की भावना से प्रेरित होकर व्रतो की ओर आकर्षित होता है।

मनुष्य सर्वप्रथम व्रतो को सुनता है, उनकी महानता व महत्त्व को अपने ज्ञान रूपी तराजू पर तौलता है, उसका विवेक जागृत होता है और फिर वह अपने जीवन को सुधारने के लिए व्रत-ग्रहण करता है।

व्रतो मे जो सबसे बडी बात होती है वह है **"आत्मानुशासन"**। यह मानी हुई बात है कि सद्कार्य की सफलता में अनेक विघ्न और बाधाए उपस्थित होती है, व्रती को अपनी सकल्प-साधना से हटाने के लिए मोह रूपी चाण्डाल निरन्तर प्रयास करता रहता है। किन्तु वही विचलित होना नही जानता जिसने कि अपनी आत्मा पर अनुशासन स्थापित कर लिया है। कहने का तात्पर्य यह है कि व्रत-साधना से डिगायमान न होने के लिए मोहरूपी चाण्डाल पर विजय पाना आवश्यक है। व्रती को चाहिए कि वह अपनी आत्मा पर अकुश रखे और किसी भी परिस्थिति में अपने व्रत से विचलित न हो। आत्मानुशासन के बिना कोई भी कार्य सफल नही हो सकता।

हृदय-परिवर्तन के द्वारा ही व्रतो की ओर मनुष्य का आकर्षण होता है, अत प्रेरणा प्राप्त होने पर व्यक्ति को चाहिए कि वह केवल व्रतो के शब्दो को नही पकडे, बल्कि उसकी व्यापक भूमिका को पकडे। व्रत-ग्रहण से अपने मे जिस महान् शक्ति का बीजारोपण हो चुका है उसे वह फलती-फूलती अनुभव करे, और अपने साथियो को इसका अनुभव कराए, किन्तु एक बात का ध्यान अवश्य रखा जाए कि व्रतो के पालने मे किसी प्रकार का दबाव या एहसान नही होना चाहिए। जैन-धर्म में हृदय-परिवर्तन ही सच्चा धर्म बतलाया है, व्रत-पालन में स्व-नियमन व हृदय-परिवर्तन जितना सहायक होगा उतना दूसरा नही।

जो अणुव्रती बने हैं उन्हे पर-निर्भरता से बचना चाहिए। पर-निर्भरता से व्रत डिगते रहते है, अत स्व-निर्भरता की आवश्यकता है।

हमे व्रतियों की सख्या पर ध्यान न देकर जो अणुव्रती है उनके आदर्शो को देखना चाहिए। हमे तो सच्चे मानवो की आवश्यकता है, दानवो की नही।

आप अणुव्रतो को आगे रख कर आगे बढते जाइए। आप को कोई

डर, भय नही है। अशान्त संसार में आपको कितनी शान्ति और आनन्द का अनुभव होता है, यह तभी ज्ञात होगा। आपका लक्ष्य यही रहे कि "संयम ही जीवन है" जीवन में एक नई स्फूर्ति, नई चेतना का संचार होगा। इसी मे व्यक्ति, समाज और संसार का कल्याण है।

सरदारशहर

६४ : व्रत और अनुशासन

व्रती-समाज की कल्पना जितनी दुरूह है उतनी ही सुखद भी है। व्रती केवल व्रत ही नही लेता, पहले वह विवेक को जगाता है, श्रद्धा और सकल्प को दृढ करता है, कठिनाइयां झेलने की क्षमता पैदा करता है, प्रवाह के प्रतिकूल चलने का साहस लाता है, फिर वह व्रत लेता है।

सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो बाहर का अनुशासन विजातीय अनुशासन है। व्रती आत्मानुशासन की परिधि में आ जाता है। आज अनुशासन की शृंखला छिन्न-भिन्न हो रही है। स्वतन्त्रता का सही मूल्य नही आंका गया। नियमानुवर्तिता और मर्यादा के विना स्वतन्त्रता नही आती। अणुव्रत-आन्दोलन स्वतन्त्रता की यथार्थ अनुभूति के लिये आत्मानुशासन का वातावरण पैदा करना चाहता है। विधिवत् कोई अणुव्रती वने या न वने यह उसकी अपनी इच्छा है किन्तु आत्मानुशासन को विकसित किये विना कोई न रहे, यह इसकी पृष्ठभूमि है, जो मैत्रीपूर्वक समझाने-बुझाने से हृदय-परिवर्तन के द्वारा ही प्रशस्त हो सकती है।

दवाव डालने की प्रक्रिया हमारे पास नही है। वह भय का रास्ता है। अभय के विना स्वतन्त्र भावना विकसित नही होती। अणुव्रती जो वने है, उन्हें पर-निर्भरता की ओर मुंह किये नही चलना चाहिए। वह व्रतो को तोडने का मार्ग है। विलास, भोग, वडप्पन और ऐश व आराम व्रतो के शत्रु है। व्रतो का पालन शाब्दिक वृत्ति से नही होना चाहिए। उनकी आत्मा का विकास होना चाहिए।

हमारा विश्वास सख्या में नही मात्रा मे है। तेज मात्रा से निखरता है, सख्या से नही।

आत्मानुशासन का आलोक जनसाधारण तक पहुँचना चाहिए · अणुव्रतियो का एक विशेष दायित्व है कि वे केवल प्रचार द्वारा ही नही, किन्तु अपने सयत आचरण द्वारा, अनुभूतियो द्वारा, अपने आसपास के वातावरण को आत्मानुशासन के लिये उत्कठित वनाएं।

अनैतिकता से अभिभूत लोग शान्त नही है। वे उससे दूर होना भी चाहते है, पर बहुतो को मार्ग नही मिलता। कुछ लोग आग्रही भी हो सकते है। शान्तिपूर्वक समझाया जाए तो वे भी बदल सकते है। हमें मनुष्य की योग्यता में पूरा विश्वास है।

वातावरण स्व-नियमन से प्रभावित हो जाए तो बढती हुई उच्छृङ्खलता की रीढ टूट सकती है। मै प्रसन्न हूँ कि लोग व्रतो का अधिकाधिक मूल्य आँकने लगे है। घोर असयम के युग मे संयम की रेखा चमकती रहे, वह भी कम बात नही है। वह और अधिक स्पष्ट बने यह तो और भी खुशी की बात है। मैं आशावान् हूँ। आप सब लोग आशाशील बनें और चरित्र-उन्नयन का कार्य आगे बढाएँ।

सरदारशहर

९५ : संगठन और आचारके सूत्रधार आचार्य भिक्षु

तेरापथ शासन के पूर्वज बहुत दूरदर्शी थे। उन्होने अन्दर से साधुओ को आत्म-स्वतन्त्रता दी और ऊपर से उन्हे मर्यादाओ में बाँधा। बाँधने का मतलब थोपना नही, किन्तु, सघीय अनुशासन का सहर्ष स्वीकार करना है। सघीय अनुशासन जहाँ शिथिल पडता है वहाँ पतन की सम्भावनाए हो जाती है। अत साधु जीवन के दो मुख्य आधार बने—आत्म-विकास या आत्म-स्वातन्त्र्य की भावना और सघीय अनुशासन। सगठन और सघीय अनुशासन के लिए उस समय की वर्तमान स्थितियो को देखते हुए आचार्य भिक्षु को सम्भवत उतनी मर्यादाओ की आवश्यकता नही पडती, किन्तु सर्वाङ्ग सुन्दर भविष्य के लिए उन्होने अन्य मर्यादाओं का भी निर्माण किया। अतीत से अनुभव लिया, वर्तमान को देखा और भविष्य की सुन्दरता के लिए वे मर्यादावलियाँ बनाते चले। निर्मीयमाण भविष्य को सुन्दरतम बनाने के प्रयास मे उन्होने कोई कोर कसर नही उठा रखी होगी। भविष्य के लिये उन्होने सुदढ नीव तैयार की जिस नीव की उपयोगिता आज बढ चली है। शासन के लिए अनेक कसौटी के अवसर आए है किन्तु उस सुदृढ नीव ने शासन को अक्षुण्ण और अविचल रखा है। लोग सगठन-सगठन चिल्लाते हैं, उसके लिए प्रयास करते है पर आज हजारो दिमाग लग कर भी संगठन के लिए वैसा विधान नही बना पाते जैसा उस एक दिमाग ने बना डाला। कारण एक ही है—सगठन चाहने वाले अनुशासन नही चाहते और अनुशासन के अभाव मे सगठन टिकता नही है। जो आधार संगठन का है वह मजबूत होना चाहिए।

बालू की नीव पर कोई महल खडा करे तो महल को निश्चित खतरा पहुँचेगा। अतः आचार्य भिक्षु ने संगठन के लिए अनुशासन पर बहुत बडा बल दिया है और उनकी लेखनी ने अनुशासन-हीनता पर जबरदस्त प्रहार की है।

श्री जयाचार्य : एक महान् भाष्यकार

स्वामी जी और श्री जयाचार्य का आपस में अनन्य सम्बंध है। यदि स्वामी जी सूत्रकार थे तो श्री जयाचार्य उनके सूत्रों के भाष्यकार थे। स्वामी जी काव्यकार थे तो जयाचार्य उनके काव्यों के टीकाकार। अगर हम स्वामी जी के विचारो के मूल को समझना चाहे तो हमें श्री जयाचार्य कृत भाष्यो और टीकाओ पर भी दृष्टि डालनी होगी। श्री जयाचार्य एक अधिकारी विद्वान् और टीकाकार थे। स्वामीजीने जनता के समक्ष जो गूढ सूत्र वाक्य प्रस्तुत किये, श्री जयाचार्य ने स्पष्टीकरण कर उनका अर्थ सुगम बना दिया। स्वामी जी ने जाने कितनी चौपाइयो (ग्रन्थो) का निर्माण किया, श्री जयाचार्य ने उन चौपाइयो के गूढ भावो को खोज-खोज कर उन्हें सिद्धान्तसार के रूप में हमारे सामने रखा। यह खेद की बात है कि आजकल उनके अध्ययन का क्रम कुछ कम पड गया है किन्तु उस विशाल साहित्य में जो अगाध ज्ञान-राशि छिपी पड़ी है उसका अन्वेषण किया जाय तो बहुत से गूढ सत्य सामने आ सकते है। हमे उस ओर प्रयास करने की आवश्यकता है। इतिहास की और साहित्य की जब तक नवीन रूप में पुनरावृत्ति नही होती तब तक वह जन-रुचिकर और भावी पीढी के लिये उपयोगी नही बनता। श्री तुलसीकृत रामायण को आजकल के लोग कम पसन्द करेंगे पर अगर उसका अनुवाद उनके सामने रखा जाता है तो वे उसे पसन्द करते है। कारण यही कि मूल न बदलने पर भी उसका रूप बदलता है और वह रूप जन-रुचिकर बनता है। हमारा भी कर्त्तव्य है कि हम स्वामी जी के विचारो को, उनकी ज्ञान-रश्मियो को आधुनिक रूप मे जनता में प्रसारित करे। मुझे यह कहते खुशी है कि स्वामी जी के गहन-विचार जहाँ भी गए है और जिन्होने उन्हे समझने की कोशिश की है, उन्होने स्वामी जी के विचारो की कद्र की है और उनकी मौलिकता को सहर्ष स्वीकार किया है। अभी हम धुलिया (महाराष्ट्र) में श्री शिवाजी भावेसे मिले। हमने स्वामी जी के विचारो को सूत्र रूप में उनके सामने रखा जिन्हें सुनकर उन्होने कहा कि मै स्वयं उनकी सूक्ष्म अन्वेषण-बुद्धि पर मुग्ध हूँ जिन्होने इतने गहन-विचारो को भी कितने सरल और सूत्र रूप मे जनता के सामने रखा है। इसी तरह बम्बई म्युनिसिपल कॉरपोरेशन की स्टैण्डिग कमेटी की अध्यक्षा श्रीमती सुलोचना मोदी

ने स्वामी जी के विचारो को सुनकर कहा था कि उनके इन मौलिक विचारों का बम्बई की जनता में प्रसार होना चाहिये। स्वामी जी की प्रतिभा और सूक्ष्म विचारशक्ति ने जो विचार हमारे सामने रखे उनके अध्ययन और मनन की आवश्यकता है। यह हुआ तो हम बहुत कुछ ज्ञान-राशियां उनसे और पा सकेंगे।

दो महत्त्वपूर्ण देन

उन्होने अपने जीवन-काल में दो महत्त्वपूर्ण कार्य किये—आचार की विशुद्धि और सघ-संगठन। सघ सगठन और आचार की उज्ज्वलता के वे एक जाने-माने कार्यवाहक थे। उनकी सगठन की एकसूत्रता को देख कर आज भी जन-जन उनका आभारी हुए बिना नही रहेगा। आचार शिथिलता को समेटने के लिए उन्होने तीखे और कड़े शब्दो का प्रयोग किया और साधु के वेष में शिथिलाचारी होनेवालो को वहुत फटकारा। लोगों ने उन्हें बुरा-भला भी कहा, गालियाँ भी दी पर उनकी अडिगता ने उनका पथ प्रशस्त कर दिया। संघ के सुव्यवस्थित सगठन के लिए उन्होने सारे संघ में एक आचार्य, एक समाचारी एक प्ररूपणा का विधान किया। सघ का सारा उत्तरदायित्व एक आचार्य को सौपा। शिष्य-प्रथा और शिष्यो के मोह को जड-मूल से उखाड फेंका। साधुओं की स्वेच्छाचारिता की जगह गुरु के आदेश को ही उन्होने प्रमुखता दी। वास्तव में ही आत्म-स्वतन्त्रता से अधिक जहाँ स्वतन्त्रता आती है वहाँ सगठन की दीवारे खोखली होने लगती है। मूल चीज आचार-दृढता है। आचार मजबूत है तो सगठन भी मजबूत बनता चला जायेगा। सगठन के लिये आवश्यक जान वर्तमान में उन्होने सातो पदो (आचार्य, गणी, गणावच्छेदक, उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्तक और प्रवर्तनी) का कार्य भार आचार्य में ही केन्द्रित कर दिया। लोग आलोचना करने लगे—भीखण जी ने सातो पदो को उठा कर यह अकल्प्य कार्य कैसे किया? स्वामीजी सहर्ष कहते—संगठन की मजबूती और पदलोलुपता को खत्म करने के लिए सातो पदो का कार्य मैंने एक आचार्य को ही सम्हला दिया है। आचार्य ही सारे पदो का कार्य कर लेता है। पद तो कही भी नही गए, आचार्य उनका केन्द्र हो गया। दूसरे मन्त्रियो के अभाव में एक मन्त्री सारा कार्य चलाता ही है। आज स्वामी जी की उन सूझो और मर्यादाओ को देख कर जन-जन को महसूस होता है कि वे एक महान् क्रान्तिकारी प्रवर्तक थे। उन्होने मर्यादाएं बना-बनाकर शासन को एकाकार वना डाला और उन मर्यादाओ से सजा हुआ यह तेरापथ साधु

समुदाय आचार दृढता और सघीय संगठन तथा अनुशासन का एक जीता जागता निदर्शन है।

बीदासर

६६ : विश्व-मैत्री का मार्ग

चेतना के जगत् मे हिंसा और अहिंसा का झमेला नही है। वहाँ अन्तर और बाहर का द्वन्द्व नही है। स्वभाव ही सव कुछ है। वहाँ पहुँचने पर बाहर का आकर्षण मिट जाता है।

पौद्गलिक जगत् में चेतन और अचेतन का द्वन्द्व है, इसलिए वहाँ हिंसा भी है और अहिंसा भी। बाहरी आकर्षण हिंसा को लाता है। उसकी मात्रा बढती है तब उसका निषेध होता है, वह अहिंसा है।

अहिंसा का अर्थ है बाहरी आकर्षण से मुक्ति। बाहरी पदार्थों के प्रति खिचाव होता है, इसीलिए मनुष्य सग्रह करता है। सग्रह के लिए शोषण और युद्ध करता है।

अहिंसा या अध्यात्म को अव्यवहारिक मानने वाले वे ही लोग है, जो बाहर से अधिक घुले मिले है। उनकी दृष्टि मे जीवन के स्थूल पहलू ही अधिक मूल्यवान होते है।

बाहरी आकर्षण हिंसा है। बाहर से आशक्ति, परिग्रह और उसके समर्थन का आग्रह एकान्तवाद। कठिनाइयो के मूल ये तीन है और सारे दोष इन्ही के पत्र-पुष्प है।

आज का विश्व विपदाओ की कगार पर खडा है। उसे अशान्ति से उबारने में "अनेकान्त-दृष्टि" माध्यम बन सकती है। बाहरी पदार्थों के बिना जीवन नही चल सकता। गृहस्थ जीवन में उनकी पूर्ण उपेक्षा नही की जा सकती, पूरा निषेध नही किया जा सकता, यह एक तथ्य है। किन्तु उनके प्रति जो अत्यधिक झुकाव है, वही सारी दुविधाएँ पैदा करता है।

अहिंसा आकर्षण की दूरी से नापी जाती है। वह केवल भोग्य वस्तुओ से नही नापी जा सकती। मूर्च्छा या ममत्व स्वय परिग्रह है, वस्तु का सग्रह हो या न हो। ममत्व से जुड़ी हुई वस्तुएँ ही परिग्रह है।

भगवान् महावीर ने कहा—**"हिंसा और परिग्रह ये दोनों सत्य की उपलब्धि में बाधाएं हैं। इन्हें नहीं त्यागनेवाला धार्मिक नहीं बन सकता। दुःख के बाहरी उपचार से दुःख के मूल का विनाश नहीं होता।"** भगवान् ने कहा—**"धीर! तुम दुःख के अग्र और मूल दोनो को उखाड़ फेंको।"**

असुख और अशान्ति ये दोनों महाभय के कारण हैं। इनका प्रवाह कर्म में है। कर्म का प्रवाह मोह में है। प्रिय और अप्रिय पदार्थों में मूढ बनने वाला शान्ति नही पा सकता और सुख भी नही। सुख इन्द्रिय और मन की अनुभूति है। वह प्रियता की कोटि का तत्त्व है। शान्ति आत्मा की समवृत्ति है। सुख-दु ख, लाभ-अलाभ, जीवन-मृत्यु, उत्कर्ष-अपकर्ष आदि उतरती-चढती सभी अवस्थाओ में वृत्तियो की जो समता है वह शान्ति है।

अप्रिय और प्रतिकूल संयोगो में भी विचार तरंगो की अप्रकम्पना जो है वह शान्ति है। आत्म-निर्भरता और स्वावलम्बन जो है वह शान्ति है। श्रमण सस्कृति का अर्थ है, शान्ति की संस्कृति। वह सम, शम और श्रम-स्वावलम्बन या वैयक्तिकता के आधार पर टिकी हुई है। भगवान् ने कहा—
"श्रामण्य का सार उपशम है। उपशम जो है वही श्रामण्य है।"

सम्यक्-दृष्टि, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य की आराधना जो है वही जैन धर्म है। अनेकान्त, अनाग्रह और अध्यात्म का विचार जो है वही जैन-दर्शन है। अहिंसा, अपरिग्रह और अभय की साधना जो है, वही जैन दर्शन का मुक्ति-मार्ग है।

विश्व मैत्री का मार्ग यही है। वैयक्तिक दुर्बलताओ को जीते विना विजय नही। विजय के बिना शान्ति और अखण्ड आनन्द की उपलब्धि नही—जैन धर्म का यही धर्म है। कहा भी है—

"स्याद्वादो विद्यते यस्मिन् पक्षपातो न विद्यते। नास्त्यन्य पीडनं किञ्चित,
जैनधर्मं स उच्यते॥

आश्रवो भय-हेतुः स्यात्, संवरो मोक्ष कारणम्। हतीय मार्हती दृष्टिः,
सर्व मन्यत् प्रपञ्चनम्"॥

दिल्ली
(सप्रू हाऊस)
३० नवम्बर '५६

९७ : एक दिशासूचक यंत्र

जो प्रमादी है, उसे सब तरह से भय होता है, उसके चारों तरफ आफत के वादल मँडराते रहते हैं। जो अप्रमत्त है, अप्रमादी है, उसे भय नहीं होता। चाहे उसके सामने भयंकर से भयकर शक्ति भी क्यों न हो, वह हर समय उसका सामना करने के लिए तत्पर रहता है।

आज आपलोगो को और खास तौर से पूजीपतियो को वहुत डर है। वे सोचते हैं कि आनेवाले युग में हमारे धन, एश्वर्य और प्रभाव कैसे रह सकेंगे? उन्हें

धन कमाने की उतनी चिन्ता नही जितनी कि उसकी रक्षा की है। इसी भय के कारण से चुनाव लडते हैं या अपनी ओर से चुनाव लडवाते हैं जिससे कि सरकार उनके हाथो मे आ जाये और ये धन-दौलत तथा बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ ज्यो-की-त्यो सुरक्षित रह जाए। पर आखिर आप को भी समाज के अन्दर रहना है। समाज के बिना किसी का काम नही चलता। आप को व्यक्तिगत चिन्ता न कर सामूहिक चिन्ता करनी चाहिए। मैं आपसे पुरजोर शब्दो में कहूँगा कि क्यो आप गरीबो का खून चूसते हैं, क्यो मानवता को कलकित करते हैं? आखिर आपको खाने के लिए रोटी, पहनने के लिए कपडा और रहने के लिए मकान चाहिए, न? ये तो पशु-पक्षियो को भी मिलते हैं। अब वह जमाना चला गया जबकि आपके गोदाम अन्न से भरे रहते और गरीब भूखो मरते थे, आपकी तिजोरियाँ धन मे भरी रहती और गरीब पैसे-पैसे के लिए तडपते थे।

जिस प्रकार समुद्र और आकाश में चलने वाले जहाज के लिए दिशासूचक यत्र की आवश्यकता रहती है, उसके होने पर कितनी भी भयकर आँधियाँ और तूफान क्यो न आये, जहाज गुमराह नही हो सकता, उसी प्रकार इस बेढगी दुनिया मे—जहाँ चारो ओर बेईमानी और बेइन्सानियत के बादल मँडरा रहे हैं—एक नैतिक दिशासूचक यत्र की आवश्यकता रहती है, वही दिशासूचक यत्र अणुव्रत-आन्दोलन है।

नेहरू जी की विदेश-नीति पर आज सारा विश्व एक नजर से देख रहा है और कधे से कधा मिला कर चलना चाहता है। पर यहाँ उन्ही के देशवासी आपसी झगडे और साम्प्रदायिकता को उभारने मे लगे रहे, यह कितनी बुरी बात है। यही बात आज अणुव्रत-आन्दोलन की हो रही है। जहाँ अणुव्रत-आन्दोलन को समझने और फैलाने के लिए जैनेतर लोगों और विदेशी लोगो ने इतना प्रयास किया, वहाँ जैनो ने इसे समझा तक नही!

अन्त मे मैं आपलोगो से कहूँगा कि अणुव्रत-आन्दोलन आपसे और कुछ नही चाहता। वह तो केवल आपकी दृष्टि मे परिवर्तन लाना चाहता है, जीवन की दिशा में एक नया मोड देखना चाहता है। जैन-दृष्टि के अनुसार कहूँ तो वह मिथ्यादृष्टि से सम्यक् दृष्टि बनाना चाहता है। अगर आपकी दृष्टि में परिवर्तन हुआ तो बुरे कार्यो से मन में ग्लानि होगी और ग्लानि से वह कार्य भी छूट जायेगा। अणुव्रत-आन्दोलन यही करना चाहता है।

मैं आपसे कहूँगा कि आप इसके विश्वजनीन विचारो, उद्देश्यो और नियमो आदि को देखे, सोचें और उनपर मनन करे और उससे प्रेरणा पा अपने जीवन को ज्यादा से ज्यादा सादा और सरल बनाएँ।

सरदारशहर

९८ : आत्म-शक्ति को जगाइए

अणुव्रती कितने होते हैं ? उनकी संख्या कितनी बढ़ी जा रही है ? ये समाचार मेरी खुशी के कारण नही हैं। मैं खुश इस बात से हूँ कि जनता मे संयम का एक वातावरण बन रहा है। उनकी संख्या को भी मैं प्रदर्शन की दृष्टि से नही सुनता हूँ। पर मैं समझता हूँ कि इससे दूसरे लोगो के उत्साह मे भी वृद्धि होती है। पिछले वर्ष जो अणुव्रती बने, अगर उनमे कोई कमजोरी आ गई है तो वे अपने आप मे फिर से नया उल्लास भर सकें, जो कमजोर हैं वे अपनी कमजोरी को मिटा सकें और जो अभी तक अनुत्साहशील हैं उनमें नया स्पन्दन हो, नया उत्साह आये, यही अधिवेशन और अणुव्रतियो के नाम और जगह-जगह के उत्साहशील समाचार सुनाने का उद्देश्य रहता है।

इस अवसर पर मैं आप लोगो से यह भी कहना चाहूँगा कि यदि आपको अपनी आत्मा की उन्नति करनी है, अपने जीवन को ऊँचा उठाना है, तो आपको दर-दर भटकने की आवश्यकता नही है। आप की उन्नति करनेवाला कोई नही है। उन्नति आपके अन्त करण मे सोई पडी है उसे जगाइए। उन्नति बाहर से आनेवाली नही है। हाँ, यह अवश्य है कि आपको प्रेरणा बाहर से अवश्य मिल सकती है। आप महाव्रतियो से प्रेरणा लीजिए, अणुव्रतियों से प्रेरणा लीजिये, अणुव्रत-सहयोगियो से प्रेरणा लीजिये और अपनी सोई हुई आत्म-शक्ति को जगाइए। आपकी उन्नति अपने आप हो जायेगी।

एक जमाना था जब सारे ससार में भारत की प्रतिष्ठा थी। अब वह प्रतिष्ठा उतनी नही रही है। इसे देखकर किसके हृदय मे टीस नही उठती। महावीर और बुद्ध के देश में, जहाँ पुण्य चरित्र की लौ एक-सी प्रज्वलित थी, उन्ही के देशवासी आज चरित्र के लिए दूसरे देश के लोगो से माँग करे, क्या सचमुच यह दु ख की बात नही है ? इसीसे मेरे दिल मे दर्द हुआ और उसी के फलस्वरूप मैंने इस आन्दोलन की शुरुआत की। केवल आन्दोलन खडा कर देने मात्र से क्या काम बन जाता है ? काम तो तब ही बनेगा जब देशवासी कुछ काम करेंगे। अपने चरित्र को सुधारने की ओर आगे बढ़ेंगे।

भला चोरी करने के लिए आन्दोलन की क्या आवश्यकता है ? चोरी नही करने मे मनुष्य को क्या कष्ट सहना पडता है ? कष्ट तो तब सहना पडता है जब मनुष्य चोरी करे। चोरी करनेवाले को चोरी करने के पहले और पीछे

अपने बचाव के लिए अनेक कल्पनाएँ करनी पडती हैं, उनसे दुःख होता है। पर जो चोरी नही करता उसकी नीद मे कौन बाधक बन सकता है। वह व्यापारी जो चोरबाजारी नही करता, वह स्वप्न मे भी इन्क्वायरी से बेचैन नही होगा। इन्क्वायरी की फिक्र तो उसको है जो ब्लैकमार्केट करता है। अत मुझे आश्चर्य होता है कि लोग फिर भी अणुव्रतो को स्वीकार क्यो नही कर लेते ! अणुव्रत उनके संकटो का मोचन करनेवाला है, उनके जीवन में सुख भरनेवाला है। फिर भी लोग उससे डरते क्यो हैं।

६६ : शांति भोग में नहीं त्याग में है

बहुत से लोग मुझसे कहते हैं—महाराज ! अणुव्रती होने पर हमारा काम नही चलता। मुझे यह सुनकर आश्चर्य होता है। भला अणुव्रत ऐसी क्या बला है, जिससे उनका जीवन-कार्य सुचारु रूप से नही चल सकता। मैं सोचता हूँ—अणुव्रतो से उनका काम नही चलता हो, यह बात नही है। पर बात है कि इससे उनका ऐशो-आराम नही चल सकता। ऐश व आराम छोड़े बिना अणुव्रत पालन करना मुश्किल है। वे ऐश व आराम छोडना नही चाहते। इसीलिए वे कहते हैं कि इन अणुव्रतो से हमारा काम नही चल सकता। अगर अणुव्रतो से काम नहीं चलता तो उन अनेक लोगो का, जिन्होंने अन्यायपूर्ण तरीको से अर्जन करना छोड दिया है, काम कैसे चलता होगा ? अत मैं आपसे कहूँगा कि आप अपने जीवन का दृष्टिकोण बदले अणुव्रत-आन्दोलन के द्वारा मैं आपके दृष्टिकोण को ही बदलना चाहता हूँ। आपलोगो का दृष्टिकोण मुझ से भिन्न है। आप भोगो में जीवन की सार्थकता मानते हैं, मैं त्याग की बात करता हूँ। इसका अर्थ यह नही कि आप मेरी दृष्टि को ही अपनायें, मैं जो कुछ कहता हूँ वही करे पर कम से कम आप सही दृष्टिकोण से तो देखे। सही दृष्टिकोण पर आकर हम और आप एक हो जाएँगे। आप सच मानिये, शान्ति भोग मे नही त्याग मे है।

मैं देखता हूँ, बहुत से पूँजीपति, जिनका काम अच्छी तरह से चल सकता है, फिर भी वे रात-दिन धन की फिराक में दौडते रहते हैं। उन्हें देखकर मुझे दिल्ली के बादशाह की बात याद आ जाती है। एकबार दिल्ली के एक बादशाह को धन-सग्रह की बडी लालसा पैदा हुई। उसने अपनी प्रजा पर अनेको कर लगा दिये, और अनेक प्रकार से उन्हे उत्पीडित करने लगा। प्रजा ने वजीर के पास अपनी आवाज पहुँचाई। वजीर ने सोचा—बादशाह यो तो मेरी बात मानेगा नही। मुझे एक तरकीब निकालनी चाहिए। ऐसे सोचते सोचते उसने एक तरकीब निकाली। एक दिन वह राजा-सभा मे देर से

का आनन्द क्षणिक है और त्याग का आनन्द स्थायी है। अणुव्रतो की भावना आपको यही तत्त्व बतलाती है कि जीवन के मूल्य को बदलो। जब तक मनुष्य को पूँजी से तोला जायेगा तब तक सयम का विकास नही होगा। इसी मे अणुव्रत-आन्दोलन की सफलता है। यदि आपने अपने दृष्टिकोण को नही बदला तो इसका मतलब यह नही होगा कि अणुव्रत-आन्दोलन असफल हो जायेगा। वह तो अपने आप मे सफल है ही। पर इतना अवश्य है कि आपका उसमे सहयोग नही रहेगा और इसमे बहुत बडी हानि आपको ही उठानी पडेगी। अत. मै आप से कहना चाहता हूँ कि आप समय रहते चेत जाएँ और अपने जीवन को सयम की ओर गतिमान करे। यदि आपलोगो का व्यवहार-आचरण सुन्दर होगा तो दूसरे हमारे पास आनेवाले लोग भी हमारा सही अन्दाज लगाएँगे। हालाकि मै दूसरा किसी को मानता ही नही, पर तो भी आप जो हमेशा हमारे पास रहते है, इस दृष्टि से मै आपको अपना कहता हूँ। हमारे इर्द-गिर्द का वातावरण शुद्ध रहना चाहिये।

अत· आप अगर यह चाहते है कि हमारी और धर्म की उन्नति हो तो आपको अपने आपमें भी वहुत कुछ परिवर्तन करना पडेगा। यह देश की आध्यात्मिक सेवा है जो हम करते आ रहे है और करना चाहते है।

१०० : भारतीय संस्कृति का प्रतीक

हम बाते करते है कि पशु को मनुष्य बनाएँ पर आज तो मानव भी मानव नही रहा। न जाने उसकी मानवता कहाँ चली गई है। केवल मानव का चोगा पहनने मात्र से कोई मानव नही बनता। हमारा काम यही है कि हम मानव की खोई हुई मानवता वापिस लाएँ। वे क्या मानव वनाएँगे जो स्वय चरित्र भ्रष्ट है, जिनके जीवन में सयम का नाम भी नहीं है और वे समाज-सुधार की रट लगाते रहते है। अणुव्रत-आन्दोलन तो चरित्र, संयम और त्याग पर टिका हुआ है। वह आज के मशीन युग मे मानव को सही मानव वनाने की मशीन है। जो अणुव्रत के सही ढाँचे मे ढल जाता है, वह तो सही मानव वन जाता है।

कई लोग कहते है कि अणुव्रत-आन्दोलन तो देश व समाज को शक्तिशाली वनाने का आन्दोलन है। पर हमारी कामना तो इससे भी आगे है। हमारा लक्ष्य समाज को शक्तिशाली वनाना नही, व्यक्ति-व्यक्ति की आत्मा को शक्तिशाली वनाने का है, समाज तो अपने आप शक्तिशाली वनेगा।

आजकल कुछ लोग कहते है कि आपलोगो को तो जगली लोगो को उपदेश देना चाहिए। वात विल्कुल ठीक है। पर मै कहूँगा कि जगलीपन जंगल में

रहने मात्र से नही होता। वह तो आज जंगलो से ज्यादा शहरो में पाया जाता है। हजारों मनुष्यों का बिना किसी अपराध के सहार कर देना क्या जगलीपन नही है? अणुबम जिसप्रकार मनुष्यों का विध्वस कर रहा है उसप्रकार ही अणुव्रत-आन्दोलन मानव का निर्माण कर रहा है।

आज सारा ससार युद्ध के नाम मात्र से भयत्रस्त है। युद्ध का नाम सुनते ही सारा ससार कांपता है। मिश्र पर ब्रिटेन और फ्रास के युद्ध का नाम सुनते ही ससार मे आतक छा गया। चारो तरफ से शान्ति की आवाजे आने लगी। लोग कहते है कि रूस की धमकी से विश्वयुद्ध दब गया। पर मै तो ऐसा नही मानता। वहाँ हिंसा की ताकत कमजोर हो गई थी। हिंसा में एक बार उफान आया था, वह ठडा पड गया। आखिर विजय अहिंसा की हुई।

अणुव्रत-आन्दोलन एक नैतिक आन्दोलन है। यह शुद्ध भारतीय संस्कृति का प्रतीक है। यह समाज सुधर की अपेक्षा व्यक्ति सुधार पर अधिक बल देता है। आप इसके विश्वजनीन उद्देश्यो को देखे और जीवन मे उतारने का प्रयास करे। चरित्र के क्षेत्र मे अपने आप को आगे बढाएँ।

१०१ : भारतीय संस्कृति की आत्मा

"सत्य लोक में सारभूत है, जीवन की सच्ची प्रतिष्ठा है।" गाधीजी कहा करते थे—सत्य ईश्वर है। भगवान् महावीर की वाणी में भी हम देखेंगे **"सच्चं भयवं"** सत्य भगवान् है। जैसा कि कहा है—सहूसमा ने एकमत सभी तत्त्व है। लोगो का अभिमत एक जैसा होता है। भगवान् महावीर और गाँधीजी की वाणी मे कितनी समानता आप पाते है! हम चाहते है, लोक-मानस मे सत्य के प्रति अटल निष्ठा और लगन पैदा हो। अणुव्रत आन्दोलन इसी का प्रतीक है। वह नीतिमत्ता और प्रामाणिकता का उज्ज्वल वातावरण पैदा करना चाहता है। हमारे कार्यक्रम में हजारो रोडे आएँ, हमें उनसे घबराना नही है। रोडो और बाधाओ से क्या कभी प्रगति रुक सकती है? मुझे स्मरण आता है—पजाब में प्राकृतिक सकट पैदा हुए लोग बेहाल हो गए। दीनहीन वाणी में चारो ओर से यही चीख और पुकार आती थी कि हम तबाह हो गए क्या करे? प० नेहरू ने उस वक्त अत्यन्त जोश और दृढता के साथ कहा था—**"यह दुर्बलता है। यदि राष्ट्र में पुरुषार्थ और ताकत है तो उसे ईश्वरीय प्रकोप भी तबाह नहीं कर सकता, मिटा नहीं सकता।"** इतनी-सी चीजो से देश तबाह हो जाता है, खेद है, लोग कितनी कमजोरियो की बातें करते है? अस्तु। मेरा कहना है—रोडे

का आनन्द क्षणिक है और त्याग का आनन्द स्थायी है। अणुव्रतो की भावना आपको यही तत्त्व बतलाती है कि जीवन के मूल्य को बदलो। जब तक मनुष्य को पूंजी से तोला जायेगा तब तक सयम का विकास नही होगा। इसी में अणुव्रत-आन्दोलन की सफलता है। यदि आपने अपने दृष्टिकोण को नही बदला तो इसका मतलब यह नही होगा कि अणुव्रत-आन्दोलन असफल हो जायेगा। वह तो अपने आप मे सफल है ही। पर इतना अवश्य है कि आपका उसमे सहयोग नही रहेगा और इसमें बहुत बडी हानि आपको ही उठानी पडेगी। अत मैं आप से कहना चाहता हूँ कि आप समय रहते चेत जाएँ और अपने जीवन को सयम की ओर गतिमान करे। यदि आपलोगो का व्यवहार-आचरण सुन्दर होगा तो दूसरे हमारे पास आनेवाले लोग भी हमारा सही अन्दाज लगाएँगे। हालाकि मैं दूसरा किसी को मानता ही नही, पर तो भी आप जो हमेशा हमारे पास रहते है, इस दृष्टि से मै आपको अपना कहता हूँ। हमारे इर्द-गिर्द का वातावरण शुद्ध रहना चाहिये।

अत. आप अगर यह चाहते है कि हमारी और धर्म की उन्नति हो तो आपको अपने आपमें भी बहुत कुछ परिवर्तन करना पडेगा। यह देश की आध्यात्मिक सेवा है जो हम करते आ रहे है और करना चाहते हैं।

१०० : भारतीय संस्कृति का प्रतीक

हम बाते करते है कि पशु को मनुष्य बनाएँ पर आज तो मानव भी मानव नही रहा। न जाने उसकी मानवता कहाँ चली गई है। केवल मानव का चोगा पहनने मात्र से कोई मानव नही बनता। हमारा काम यही है कि हम मानव की खोई हुई मानवता वापिस लाएँ। वे क्या मानव बनाएँगे जो स्वय चरित्र भ्रष्ट है, जिनके जीवन में सयम का नाम भी नहीं है और वे समाज-सुधार की रट लगाते रहते है। अणुव्रत-आन्दोलन तो चरित्र, सयम और त्याग पर टिका हुआ है। वह आज के मशीन युग मे मानव को सही मानव बनाने की मशीन है। जो अणुव्रत के सही ढाँचे में ढल जाता है, वह तो सही मानव बन जाता है।

कई लोग कहते हैं कि अणुव्रत-आन्दोलन तो देश व समाज को शक्तिशाली बनाने का आन्दोलन है। पर हमारी कामना तो इससे भी आगे है। हमारा लक्ष्य समाज को शक्तिशाली बनाना नही, व्यक्ति-व्यक्ति की आत्मा को शक्तिशाली बनाने का है, समाज तो अपने आप शक्तिशाली बनेगा।

आजकल कुछ लोग कहते है कि आपलोगो को तो जंगली लोगो को उपदेश देना चाहिए। बात बिल्कुल ठीक है। पर मैं कहूँगा कि जगलीपन जंगल में

रहने मात्र से नही होता। वह तो आज जगलों से ज्यादा शहरों में पाया जाता है। हजारों मनुष्यो का विना किसी अपराध के सहार कर देना क्या जगलीपन नही है? अणुबम जिसप्रकार मनुष्यो का विध्वस कर रहा है उसप्रकार ही अणुव्रत-आन्दोलन मानव का निर्माण कर रहा है।

आज सारा संसार युद्ध के नाम मात्र से भयत्रस्त है। युद्ध का नाम सुनते ही सारा ससार काँपता है। मिश्र पर ब्रिटेन और फ्रास के युद्ध का नाम सुनते ही ससार मे आतक छा गया। चारो तरफ से शान्ति की आवाजे आने लगी। लोग कहते हैं कि रूस की धमकी से विश्वयुद्ध दव गया। पर मै तो ऐसा नही मानता। वहाँ हिंसा की ताकत कमजोर हो गई थी। हिंसा में एक वार उफान आया था, वह ठंडा पड गया। आखिर विजय अहिंसा की हुई।

अणुव्रत-आन्दोलन एक नैतिक आन्दोलन है। यह शुद्ध भारतीय सस्कृति का प्रतीक है। यह समाज सुधर की अपेक्षा व्यक्ति सुधार पर अधिक वल देता है। आप इसके विश्वजनीन उद्देश्यो को देखें और जीवन में उतारने का प्रयास करे। चरित्र के क्षेत्र मे अपने आप को आगे वढाएँ।

१०१ : भारतीय संस्कृति की आत्मा

"**सत्य लोक में सारभूत है, जीवन की सच्ची प्रतिष्ठा है।**" गाधीजी कहा करते थे—सत्य ईश्वर है। भगवान् महावीर की वाणी में भी हम देखेंगे "**सच्चं भयवं**" सत्य भगवान् है। जैसा कि कहा है—सहूसमा ने एकमत सभी तत्त्व है। लोगो का अभिमत एक जैसा होता है। भगवान् महावीर और गाँधीजी की वाणी मे कितनी समानता आप पाते हैं! हम चाहते हैं, लोक-मानस मे सत्य के प्रति अटल निष्ठा और लगन पैदा हो। अणुव्रत आन्दोलन इसी का प्रतीक है। वह नीतिमत्ता और प्रामाणिकता का उज्ज्वल वातावरण पैदा करना चाहता है। हमारे कार्यक्रम मे हजारो रोडे आएँ, हमें उनसे घवराना नही है। रोडो और वाधाओं से क्या कभी प्रगति रुक सकती है? मुझे स्मरण आता है—पजाव मे प्राकृतिक सकट पैदा हुए लोग वेहाल हो गए। दीनहीन वाणी मे चारो ओर से यही चीख और पुकार आती थी कि हम तवाह हो गए क्या करे? प० नेहरू ने उस वक्त अत्यन्त जोश और दृढता के साथ कहा था—"**यह दुर्वलता है। यदि राष्ट्र में पुरुषार्थ और ताकत है तो उसे ईश्वरीय प्रकोप भी तबाह नहीं कर सकता, मिटा नहीं सकता।**" इतनी-सी चीजो से देश तवाह हो जाता है, खेद है, लोग कितनी कमजोरियो की वाते करते हैं? अस्तु। मेरा कहना है—रोडे

आते हैं पर कार्यार्थी, मनस्वी उनसे कब डरते हैं ? वे तो सत्य का सम्बल लिए अपने मार्ग पर बढते रहते हैं। यदि सत्य का आधार साथ है तो डर किस बात का ? क्योकि जीवन का सही स्वरूप सत्य है। जीवन में उसका अभाव है तो वहाँ केवल अस्थि चर्ममय शरीर है, यथार्थत: जीवन नही।

आज घोर कलियुग है। लोक-जीवन असत्य से घुटता जा रहा है, ऐसे समय में ही तो सत्य की आवश्यकता है। उसपर अडिग रूप में डटे रहने की अपेक्षा है। मेरा विश्वास है, इस तत्त्व को समझते हुए लोग इसपर आरूढ रहेंगे।

फलत. असत्य से जर्जरित आज के युग में हम ऐसे सत्यनिष्ठ हरिश्चन्द्रों को खड़ा कर सकेंगे जो अपने जीवन की सत्यमयी ज्योति से एक अभिनव आलोक प्रस्फुटित कर देंगे।

अहिंसा, दया और दान भारतीय संस्कृति की आत्मा है, प्राण है। ये भारत के कण-कण में व्याप्त हैं। यदि इन्हें निकाल दिया जाय तो संस्कृति के कंकाल के सिवा क्या बचा रहेगा ? आज इस विषय के अनुशीलन और परिमार्जन की सच्ची अपेक्षा है। सच्चा दान और सच्ची दया वह है जो अहिंसा से ओतप्रोत हो और वे ही मोक्ष मार्ग के प्रतीक हैं। हिंसा-मिश्रित दया-दान भी चलते हैं और चलते आए हैं पर वे अध्यात्म दान तथा अध्यात्म दान की तरह मोक्षार्थ नही हो सकते। दया का आवास हृदय है। किसी को न मारूँ, न सताऊँ, ऐसी करुणा का निर्मल स्रोत ही दया का प्रतिरूप है। इसी तरह दान की सार्थकता है—सयम की पुष्टि में। इनका निषेध करने वाला धर्म, धर्म नही कहला सकता।

आप समाज मे रहते हैं, समाज के साथ आपको चलना होता है। अनेकानेक समाजोपयोगी कार्य आप करते हैं। यह आप का सामाजिक कर्त्तव्य है, नागरिक उत्तरदायित्व है। उसे मोक्ष मार्ग से जोड देने से क्या प्रयोजन ? लोगो ने इस तत्त्व की उपेक्षा की। फलत दाता-ग्रहीता के बीच ऊँच-नीच का भाव पनपा। सामाजिक जीवन मे विशृङ्खलता आई। वर्गीय सघर्षो का सूत्रपात हुआ। इन सब का समाधान एक यही है कि सामाजिक कर्त्तव्य और अध्यात्म मार्ग का पार्थक्य स्पष्ट समझा जाए। ऐसा समझने से अहभाव न रहकर सामाजिक कर्त्तव्य-भाव रह जायगा जो वैषम्य-जनक नही होगा।

मैं स्पष्ट शब्दो में कहना चाहूँगा कि आज जिस दया और दान का आडम्बर रचा जा रहा है, दुनिया उसकी भूखी नही है। शोषण, अन्याय और अनैतिक प्रवृत्तियों द्वारा करोडो का सग्रह कर उसमें से कुछ यश-पूर्ति के कार्यों में खर्च कर देना और अपने आपको महान् दयाशील और धर्मात्मा

मान बैठना उस पाप को छिपाने का प्रयास है। यह तो 'एहरन की चोरी और सुई के दान' जैसा है। मैं दया और दान का हृदय से समर्थन करता हूँ पर उसकी ओट मे शोषण और भ्रष्टाचार नही होने चाहिए। ध्यान रहे, संसार आपके दान का भूखा नही है, उसे तो आपके शोषण पर रोष है, असंतोष है। अस्तु। हम सभी सात्विक दया-दान को अपनाएँ।

१०२ : अहिंसा क्या है?

अहिंसा क्या है? जो हिंसा नही वही है या और कुछ भी? 'मत करो' यही अहिंसा है या 'कुछ करो' यह भी? 'मत मारो' यही अहिंसा है या 'बचाओ' यह भी? प्रश्न थोड़े में है, उत्तर कुछ अधिक मे होगा। स्वाभाविक भी है। हिंसा नही वही अहिंसा है, यह निश्चित व्याप्ति है। इसमें और विकल्प होने का अवकाश ही नही। हिंसा से मेरा अभिप्राय केवल प्राण-वियोजन से नही, किन्तु दुष्प्रवृत्ति या दुष्प्रवृत्तिपूर्वक प्राण-वियोजन से है। जितनी बुरी प्रवृत्ति है, राग, द्वेष और स्वार्थमयी प्रवृत्ति है, वह सब हिंसा है। वह सूक्ष्म हो या स्थूल, टालने योग्य या अनिवार्य, आवश्यक हो या अनावश्यक, समाज राजतत्र और अर्थनीति से सम्मत हो या असम्मत. आखिर हिंसा है। धर्म-मर्यादा में हिंसा अनुमोदित है ही नही। समाज-शास्त्र में हिंसा के भी दो रूप बन जाते है—नैतिक और अनैतिक। आवश्यक हिंसा जो समाज में व्यापक होती है या अपरिहार्य होती है, उसे नैतिक रूप दिया है समाजशास्त्रियों ने। अनैतिक हिंसा तो साफ बुराई है, वह समाज को विश्रृङ्खलित करती है, इसलिए उसके बारे में विशेष कहने की बात नही रहती। कहने के लिए स्थान है समाज द्वारा स्वीकृत नैतिक हिंसा के विषय में। गहराई मे उतरे तो हिंसा नैतिक हो ही नही सकती। और यह भी सच है कि जीवन चलाने में न्यूनाधिक-मात्रा में हिंसा होती ही है। हिंसा जीवन का नियम नही फिर भी अहिंसा की चरम कोटि तक पहुँचे बिना जैसे-तैसे रूप मे होती ही है। जीवन का लक्ष्य यह होना चाहिए कि हिंसा कम से कम होती चली जाए—आगे जाकर मिट जाए। जीवन चलाने के लिए आवश्यक हिंसा होती है, उसे भगवान् महावीर ने **'आरम्भजा हिंसा'** कहा है। यह एक प्रकार से अपरिहार्य है। फिर भी है हिंसा ही। अपरिहार्य होने के कारण हिंसा अहिंसा नही बनती। अहिंसा का पालन करना दूसरी भूमिका है। इससे पहली भूमिका है हिंसा को हिंसा और अहिंसा को अहिंसा समझना। **आवश्यक परिस्थिति में की गई हिंसा अहिंसा बन जाती है, यदि यह न हो तो देश, धर्म और संस्कृति की रक्षा**

कैसे की जाए ? विपत्तिकाल मे की गई हिंसा धर्म है, ऐसा धम-शास्त्रो का विधान है। यह भ्रान्ति जनसाधारण के मस्तिष्क में घर कर गई है। इस विषय में बहुत कुछ सोचने समझनेकी जरूरत है। पहले तो आवश्यक परिस्थिति बिना हिंसा करने वाला ढूँढने पर भी न मिलेगा। स्वभाव की दुर्बलता या और कुछ भी माना जाए, मनुष्य सफाई के बयान देने में कुशल होता है। अपना दोष दूसरे के सिर मँढने की आदत होती है। चोर अपनी चोरी को परिस्थिति की विवशता कह कर स्वय दोष मुक्त होना कब नही चाहता ? समाज की दुर्व्यवस्था है, एक करोडपति सुख से जीता है, एक को पेट भर रोटी नही मिलती। समाज को चाहिए कि ठीक व्यवस्था करे, यदि न करे तो उस स्थिति मे चोरी करना क्या दोष है ? इसी तर्क पर कम्युनिस्ट हिंसा, लूटपाट और हिंसात्मक कार्यवाहियाँ करते हैं। मनुस्मृति में भी कहा है "नाततायिबधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन" अर्थात् आततायी को मार डालने मे मारने वाले को कुछ भी दोष नही होता। यह समाज-शास्त्र की दण्डविधि का समर्थन है, सभी समय की सब देशो की दण्डविधि द्वारा आततायी की हिंसा का समर्थन किया गया है। किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि दण्ड-विधि का मूल उद्देश्य समाज की रक्षा करना है, धर्मों का उपदेश देना नही। इसलिए आततायी की हिंसा का विधान करनेवाला शास्त्र या शास्त्र का निर्दिष्ट अश समाज-शास्त्र हो सकता है, धर्म-शास्त्र नही। धर्म-शास्त्र किसी भी परिस्थिति में हिंसा का विधान नही कर सकता। हिंसा और अहिंसा की भेद-रेखा परिस्थिति रहे, तब तो अहिंसा बच्चो का खिलौना होगा। थोडी विपत्ति आई और हिंसको की खूब बनी। साम्प्रदायिक कलह को इससे प्रोत्साहन नही मिलता क्या ? मुसलमान हिन्दू को काफिर कहे, यह अप्रिय लगता है पर क्यों लगे ? उनकी नीति शायद यह हो कि इससे उनके धर्म पर प्रहार करने वालो के प्रति घृणा बढ़ती है और ऐसा होने से उनका धर्म अधिक सुरक्षित रहता है। हम यदि आक्रान्ता को मारने में अहिंसा-धर्म बताएँ, क्या यह कुछ भी अखरने जैसा नही है ? इसे दण्डविधि कहें यहाँ तक उचित तथा क्षम्य हो सकता है किन्तु विपत्तिकाल की ओट में हिंसा को अहिसा कहना प्रत्येक अहिंसक के लिए अस्वीकार्य है। अहिंसक साधनो से रक्षा करना बहुत कठिन है, सभव है उस क्रम में भौतिक लाभ से कुछ हाथ भी धोना पड़े, इतनी क्षमता नही इसलिए समाज-शास्त्र ने दण्डविधि अपनाई। ईंट का जवाब पत्थर से देना उसका विधान है। इसलिए यह विधि से अहिंसा नही, विरोधी हिंसा यानी आक्रान्ता के प्रति होनेवाली हिंसा है। ऐसे व्यक्ति भी कम नही जो निरुद्देश्य हिंसा करते हैं। जीवन की और मानस की विभिन्न भूमिकाओ को

समझने के लिए की गई हिंसा के ये कई प्रकार हैं। इनके द्वारा "हिंसा नही, वही अहिंसा है" इस व्याप्ति का समर्थन होता है।

अहिंसा निषेधक ही नही, विधायक भी है। 'मत करो' यही अहिंसा का सिद्धान्त नही, हिंसा का सिद्धान्त है।—असत् कार्य मत करो—राग-द्वेष, मोह-स्वार्थमय प्रवृत्ति मत करो। 'सत्प्रवृत्ति करो, यह अहिंसा का दूसरा पहलू उतना ही बलवान है, जितना कि पहला। 'कुछ भी मत करो' यह अहिंसा का सिद्धान्त है सही किन्तु साधना की चरमकोटि का है। साधना के आरम्भ में यह दशा प्राप्त नही होती।

हमें आगे चलने के लिए अहिंसा के इन विविध रूपो पर फिर एक वार दृष्टि डालनी होगी—असत्प्रवृत्ति मत करो, सत्प्रवृत्ति करो, कुछ भी मत करो। खाना, पीना, जीवन चलाना हिंसा है, एकान्तरूप से नही; ये अहिंसात्मक कार्य हैं। असयम जीवन में खाना हिंसा है, वही सयम जीवन में अहिंसा है। हिंसा अहिंसा खाद्य पदार्थ में नही, वह रहती है खाद्य पदार्थ से जुड़ी हुई भोक्ता की वृत्ति में—जीवन-भूमिका मे। वहुत से प्रसगो में ऐसी सूक्ष्म हिंसा होती है, जिसके समझने में भी कठिनाई पडती है। हिंसा किसी भी रूप में हो, वह मनुष्य की दुर्वलता है। साधक का लक्ष्य होता है सव प्रकार से सव प्रकार की हिंसाओ को छोड़ना। प्रश्न हो सकता है—सव साधक हो गये तो दुनिया का क्या होगा—संसार कैसे चलेगा, क्योकि हिंसा के विना वह चलता नही ? प्रश्न प्रश्न के लिए है, इसके विषय में अधिक कहना जरूरी नही, इतना ही प्रर्याप्त होगा कि सभी साधक नही वनते, यदि वन जायें तो वहुत अच्छा, फिर ससार चलाने का मोह क्यो और किसे हो ? साधक-दशा में तो यह मोह होता नही। दूसरी वात दुनिया में हिंसा होती जरूर है पर वह उस पर टिकी हुई नही है। यदि यह हो तो आज वह खत्म हो जाय। दुनिया से अहिंसा मिट जाय। हिंसा ही हिंसा रहे तो वह एक क्षण भी आगे नही चल सकती। सुन्द-उपसुन्द की तरह सव आपस मे जूझ कर पूरे हो जायें। अहिंसा की अन्तरग प्रेरणा ही विश्व का मूल आधार है। यह वात हुई सामान्य हिंसा और सामान्य अहिंसा की। चर्चा अधिक विशेष की होती है। हिंसा मत करो, यह उपदेश वाक्य है। इसका अर्थ होता है किसी को मत मारो, मत सताओ, दास मत वनाओ, अधिकार मत कुचलो। आप पूछें कि 'किसी को मत मारो' यह उपदेश करना कैसे ठीक होगा ? हम गृहस्थ हैं। हमें तो रोटी के लिए भी अग्नि, हवा, वनस्पति, जल आदि के जीवों की हिंसा करनी पड़ती है, अन्यथा कोई चारा नही। देश की रक्षा के लिए शत्रु से लडना पडता है अन्यथा हम अपना अस्तित्व नहीं रख सकते। उत्तर यही है कि आप सासारिक हैं

इसलिए संसार की बात सोचते हैं। हिंसा को आप भी अच्छी नही समझते, फिर भी कमजोरी मान कर करते चले जाते हैं। यदि कमजोरी मिट जाय तो आप शत्रु के साथ भी लड़ने की बात नही सोच सकते। यहाँ तक कि आपकी दृष्टि मे कोई शत्रु ही नही रहता। अहिंसक अपनी मर्यादा की बात करता है। वह आपको अहिंसा पालने के लिए ही कहेगा। आप चाहे मानें या न माने। न मानने जैसी बात तो अहिंसक करे ही कैसे? व्यवहार की भी सर्वथा उपेक्षा नही हो सकती। असम्भव बात कहने से तात्पर्य ही क्या, जिससे कोई तात्पर्य न सधे। जीवन-व्यवहार में हिंसा के अनेक प्रसग हैं किन्तु 'इनको छोड दो' यह सब के साथ नहीं जुडता। 'लडना-झगडना छोड दो', यह ठीक है। 'खाना-पीना छोड दो' यह एक निश्चित-परिधि मे ही ठीक हो सकता है, तपस्या-उपवास की दशा में ही यह ठीक हो सकता है। 'समूचे ससार को सदा के लिए दुराचार और बुराइयाँ छोड देनी चाहिए', यह उपदेश नही अखरता। कोई यह कहे कि 'समूचे संसार को सदा के लिए खाना-पीना छोड देना चाहिए', यह अखरे विना नही रहता। अहिंसक का उपदेश साधक की योग्यता के अनुसार ही होता है। असम्भव बात के लिए कहना, कहने के सिवा कोई अर्थ नहीं रखता। अहिंसक यही चाहेगा कि ससार मे हिंसा नाम की वस्तु ही न रहे पर क्या वह हिसा को मिटाने के लिए हिंसा का सहारा ले? क्या असम्भव बातें कह कर अपना समय निकम्मा गवाँएँ? जो बात अपने खाने-पीने के सम्बन्ध में कही गई है, वही बात दूसरो को खिलाने-पिलाने के सम्बन्ध में है। जैसे जीने के लिए खाना पडता है, वैसे समाज में जीने के लिए खिलाना भी पड़ता है। यही समाज-बन्धन का मूल है, अथवा यो कहिये कि इसी मे उसका उपयोग है। गाय का आपके लिए उपयोग है तो वह आपका उपयोग लेगी। दूध आर्थिक और शारीरिक सेवाओ से निकलता है। ऐसे और भी अगणित पारस्परिक सम्बन्ध हैं। इस प्रकार सम्बन्ध से सम्बन्ध चलता है।

अहिंसा का बीज वीतरागता है। उसके विधि और निषेध ये दोनों रूप हैं। 'मत मारो या बचाओ' यह मानवीय विषय है। हिंसा मारने वाले की वृत्तियों मे है या मरनेवाले के प्राणो में? प्राण चले गये, यह हिंसा है या मारनेवाले की बुरी प्रवृत्ति? प्राणो के चले जाने मात्र को जो वास्तविक हिंसा मानते है, वे उनके बच जाने मात्र को भी वास्तविक अहिंसा मान सकते हैं। किन्तु जो व्यक्ति हिंसक की वृत्तियो के विगाड और सुधार को ही वास्तविक हिंसा या अहिंसा मानते हैं, उनकी अन्तर्मुखी दृष्टि में प्राणों की प्रमुखता नही रहती। प्राणो का मोह भी तो आखिर मोह है। विशुद्ध अहिंसा की भूमिका सर्वथा निर्मोह है। आप जानते ही है कि आध्या-

त्मिक दृष्टि का निर्णय व्यावहारिक दृष्टि के सर्वथा अनुकूल नही होता। इसीलिए वहुत से वहिर्मुखी दृष्टिवाले व्यक्ति इस सिद्धान्त को तोड-मरोड कर जनता के सामने रखते है। इसपर यह आरोप भी लगाया जाता है कि ये जीवो को वचाने का निषेध करते है। यह सर्वथा मिथ्या है। कोई किसे वचा रहा है, उसे दूसरा कोई मना करे, उसको हम हिंसक मानते है। किसी की सुख-सुविधाओ मे अन्तराय करना अहिंसा-धर्म के प्रतिकूल है। धर्म वल-प्रयोग से नही पनपता, उसके लिए हृदय-शुद्धि की आवश्यकता है। विशुद्ध अहिंसा है—दुष्प्रवृत्ति से वचना और वचाना। वचना या न वचना व्यक्तियो की इच्छा पर निर्भर है। हमे सिर्फ समझने का अधिकार है ताडने का नही। मुझे आशा है, लोग सिद्धान्त की गहराई तक पहुँचेगे।

१०३ : भारतीय संस्कृति की एक विशाल धारा

सस्कृति एक प्रवाह है। वह चलता रहे तवतक ठीक है। गति रुकने का अर्थ है उसकी मृत्यु। फिर दुर्गन्ध के अतिरिक्त और कुछ मिलने का नही। प्रवाह में अनेक तत्त्व घुले-मिले होते है, एक रस हो वढते चले जाते है। भारतीय संस्कृति की यही आत्म-कथा है। वह अनेक धाराओं में प्रवाहित हुई है। कितने ही धर्म और दर्शन प्रसगो से अनुप्राणित भारत का सास्कृतिक जीवन अपने आप मे अखण्ड वना हुआ है। किसकी क्या देन है, इसका निर्वाचन आज सुलभ नही, फिर भी सूक्ष्मदृष्टा हम कुछ एक तथ्यो को न पकड सके, ऐसी वात नही। सयममूलक जैन-विचारधारा का भारतीय जीवन पर स्पष्ट प्रतिविम्ब पडा है। व्यावहारिक जीवन वैदिक विचारधारा से प्रवाहित है तो अन्तरग जीवन जैन-विचारो से। शताब्दियो पूर्व रचे गये एक श्लोक से इसकी पुष्टि होती है—

"वैदिको व्यवहर्तव्य कर्त्तव्य पुनरार्हत."

जैन-विचारो का उत्स ज्ञान और क्रिया का संगम है। जानने और करने में किसी एक की ही उपेक्षा या अपेक्षा नही। ज्ञान का क्षेत्र खुला है। कर्म का सूत्र यह नही कि सब कुछ करो। सावना प्रेम है तो पूर्ण सयम करो। गृहस्थी में रहना है तो सीमा करो। इच्छा के दास मत बनो, आवश्यकताओ के पीछे मत पड़ो। आवश्यकताओ को कम करो, वृत्तियो को सीमित करो—एक शब्द में आवश्यकता-पूर्ति के लिए भी सव कुछ मत करो। भारतीय जीवन पर यह जैन-विचारो की अमिट छाप है। हिंसा के विना जीवन नही चलता, फिर भी, यथासंभव हिंसा से बचना, जीवन के दैनिक व्यवहार खान-पान से लेकर वड़े-से-बड़े कार्य

तक हिंसा-अहिंसा का विवेक रखना भारतीय सस्कृति का एक महान् पहलू है, जो जैन-प्रणाली का आभारी है। परिग्रह भी गृहस्थ-जीवन का एक आवश्यक अंग वना हुआ है। फिर भी चर्चा अपरिग्रह की चलती है। भगवान् महावीर ने परिग्रह पर जो प्रहार किया वह आज भी उनकी वाणी में व्यक्त है। उनके जीवन-काल एव उत्तरवर्ती काल मे उनकी अहिंसा और अपरिग्रह सम्बन्धी विचार-धारा भारतीय सस्कारो मे इतनी घुल-मिल गई कि अब उसके मूल स्रोत तक पहुँचने मे कठिनाई का अनुभव होता है। सामन्तशाही और इच्छाशासित युग में दी हुई भगवान् महावीर की अमूल्य-निधि आज के जनतन्त्र-युग में और अधिक मूल्यवान् बन गई। एकतन्त्र में एक या कुछ एक व्यक्तियो पर नियन्त्रण की आवश्यकता रहती है तो जनतन्त्र में सब व्यक्तियो पर। एक के लिए जो आवश्यक है, वह जनता के शासन में सबके लिए। एक के शासन मे फिर भी डडे का शासन चल सकता है, किन्तु जनता के शासन में उसके लिए कोई स्थान नही। ऐसी स्थिति में जनता की और अधिक सुसस्कृत होने की आवश्यकता होती है। भारत अपनी शासन-प्रणाली को जनतान्त्रिक घोषित कर चुका है। इससे जनता के कन्धो पर महान् उत्तरदायित्व आ गया, चाहे वह इसे अनुभव करे या न करे। आखिर एक दिन इसका अनुभव करना ही होगा, अन्यथा जनतन्त्र टिकेगा कैसे? अब प्रश्न यह है कि भारत के भावी सास्कृतिक विकास में जैन क्या योग दे सकते हैं। पूर्वजो की कृतियो का गौरवमात्र पर्याप्त नही होता। वर्तमान को परखनेवाले ही कुछ कर सकते हैं। जैन संख्या में भले ही कम हो, साहित्य, शिक्षा आदि क्षेत्रो में समृद्ध हैं। वे अवसर का सभल कर उपयोग करे तो भारत के लिए वरदान बन सकते हैं। आज सस्कृति का प्रश्न भी विचित्र है। उसके लिए भी जगह-जगह संघर्ष छिडे हुए हैं। सब अपनी-अपनी सस्कृति को सर्वोत्तम बतलाते और दूसरो पर उसे लादने की चेष्टा करते हैं। यह ठीक नही। भगवान् महावीर ने कहा है—

"सच्चं लोगम्मि सारभूयं।"

सत्य ही लोक में सारभूत है। जो सत्य है, वही श्रेष्ठ है चाहे किसी के भी पास हो। सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह इस त्रिवेणी से उत्पन्न होनेवाली संस्कृति ही सर्वश्रेष्ठ हो सकती है। जैन न केवल सिद्धान्त अपितु कार्य रूप से भी इस त्रिवेणी के निष्णात रहे हैं और अब भी हैं। समय-परिवर्तन के साथ-साथ कुछ गतिरोध हुआ है। पुन गति पाने की अपेक्षा है। वैसा होते ही जीवन-धारा सजीव हो उठेगी। जैनों की सयम प्रधान परम्परा भारत के लिए ही नही, समूचे संसार के लिए सजीवनी का

काम कर सकती है। आज विशेष प्रश्न भारत का है। उसका नव-निर्माण हो रहा है। उसमे जैन किस स्तर पर रहे, विचारणीय प्रश्न यह है। क्या वे भारत के सास्कृतिक विकास मे सहयोगी वने या रोडे? दूसरा विकल्प प्रत्यक्ष किसी को भी स्वीकार नही होता। किन्तु प्रश्न स्वीकार या अस्वीकार का नही, उसकी कसौटी है कार्यकलना। जैन पुर्नविचार करें कि वे आज किस स्तर पर है? अपनी सस्कृति के आसपास है या उससे दूर। वे त्यागमय भावना की परिक्रमा कर रहे है या स्वार्थ-विन्दु की। वास्तव में ही उक्त त्रिवेणी जैनो की सर्वोत्तम निधि है। किन्तु जव तक वह सैद्धान्तिक है तवतक उन्ही की विचार-सामग्री रहेगी, सामूहिक लाभ की वस्तु नही वन सकती। सिर्फ बताकर दूसरो को समझाया जा सकता है, कुछ करवाया नही जा सकता। जैन अपने बोल-चाल, रहन-सहन, रीति-रिवाज सब मे सयम को प्रधानता दे। सामाजिक आडम्बरो से जीवन बोझिल न बनाये। न आक्रान्त बनें और न शोषक। वृत्तियो का सकोच करे। इतना पा लिया तो मै समझता हूँ कि वहुत कुछ पा लिया, अगर अधिक गहराई में न उतरे तो। यह सोचना भी कोई अर्थ नही रखता कि थोडे से जैन वहुतो पर क्या प्रभाव डाल सकते है। उन्हे प्रभाव डालना भी तो नही है। उनकी सहज वृत्तियाँ अपने आप दूसरो को आकृष्ट करेगी। आज की अर्थप्रधान सस्कृति मे क्या कोई समाज सयम-प्रधान सस्कृति को लेकर जीवित रह सकता या प्रतिष्ठा पा सकता है, यह विचार भी भूल से परे नही हैं। कठिन है, किन्तु न रह सकें, यह बात नही, इसका परिणाम सुन्दर और सुखद होता है। समृद्धिशाली पच्चीस लाख जैनो की सयमपूर्ण वृत्तियो का दूसरो पर असर न हो, यह सम्भव नही। कदाचित् न भी हो किन्तु जीवन-कल्याण तो निश्चित है। मेरा विश्वास तो ऐसा है कि भगवान् महावीर ने जिस अल्पारम्भी, अल्पपरिग्रही समाज का ढाचा जनता के सामने रखा, वह अल्पसख्या में रहकर भी दुनिया का पथ-प्रदर्शन कर सकता है। हिंसा और अर्थप्रधान सस्कृति के कडुए फल ससार भोग चुका है। हममें कुछ समझ है तो अब उसके पैर पकडे रहने की कोई जरूरत नही। सही अर्थ मे खानपान एव रहन-सहन का विकास सास्कृतिक विकास है ही नही। उनमें संयम का, थोड़ा आगे वढे तो मानवता का विकास ही सास्कृतिक विकास है। क्योकि शोषण और हिंसाविहीन समाज ही सवके लिए शिवकर हो सकता है। जैन अपनी परम्परागत सम्पत्ति का उपयोग करना चाहें तो कठिनाइयों के वावजूद सयम-प्रधान सस्कृति को अपनायें, दूसरो तक उसे पहुँचाये। भारत को इसकी पूर्ण अपेक्षा है। यदि ऐसा हुआ तो भारत के इतिहास में उनका सुचिर अभिनन्दन होगा।

१०४ : अणुव्रत-आन्दोलन की योजनाएँ

आज का जन-जीवन समस्याओ से आक्रान्त है। अमीरी और गरीबी की समस्या है, शोषक और शोषितो की समस्या है। उस पर भी विश्व-क्षितिज पर आज अणु-अस्त्रो की विभीषिकाएँ मँडरा रही हैं। विभिन्न राष्ट्रो के पारस्परिक तनाव बढते जा रहे हैं। यह महा समस्या है। अणु-अस्त्र के निर्माण और उनके प्रयोगो ने समग्र विश्व को एक साथ मौत के मुँह पर खडा कर दिया है। यह सब क्यो ? यह इसलिए कि आज का विश्व भौतिक विकास के शिखर पर चढा है। आज उसके जीवन का भौतिक पक्ष परम पुष्ट है, परन्तु, आध्यात्मिक और नैतिक विकास के अभाव में पक्षाघात से प्रभावित-सा होता जा रहा है। मानवता मरती जा रही है और दानवता पुष्ट होती जा रही है। जीवन के वरदान भी अभिशाप सिद्ध होते जा रहे हैं। भारतीय चिन्तको ने अध्यात्म और नैतिक सामर्थ्य को बढावा दिया है, परिणामस्वरूप विश्व को दैवी सम्पदा मिली। पाश्चात्य-वासियो ने विशेषत वैज्ञानिको ने भूतवाद को बढावा दिया, उसके परिणाम हैं—अणुबम और उद्‌जनबम। आज की सारी समस्याओ और विभीषिकाओ का समाधान मानव के नैतिक उदय मे ही अन्तर्निहित है। अणुव्रत-आन्दोलन नैतिक जागरण का एक क्रान्तिकारी कदम है व विश्व मे सुसुप्त नैतिकता को पुनर्जीवित करना चाहता है। यदि ऐसा हुआ तो उद्योगपति मजदूरो का शोषण नही करेंगे, भूमिपति किसानो पर बेरहम नही होंगे, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर बम बरसाने की बात नही सोचेगा। और उस नैतिक उदय के नव प्रभात में "आत्मवत् सर्व भूतेषु"—प्राणी मात्र को अपने जैसा समझो, "वित्तेण ताण न लभे पमत्ते"—धन सग्रह से मनुष्य को त्राण नही मिल सकता—ये भावनाएँ घट-घट में घर कर जायेंगी।

अणुव्रत-आन्दोलन विकासोन्मुख

अणुव्रत-आन्दोलन को प्रारम्भ हुए लगभग ७ वर्ष हो गये। आरम्भ में वह लोगो को स्फुलिंग मात्र लगता था। किन्तु अब उसमे एक ज्योतिपुञ्ज होने का विश्वास जगने लगा है। आन्दोलन का प्रथम वार्षिक अधिवेशन ७ वर्ष पूर्व देहली मे हुआ था। ६२१ व्यक्तियो ने चोर बाजारी न करना, रिश्वत न लेना, मिलावट न करना, झूठा तोल-माप न करना आदि आन्दोलन की समग्र प्रतिज्ञाएँ ली थी। पत्रकार-जगत् ने कलियुग में सतयुग का अवतरण कह कर उस सवाद को अपने मुख पृष्ठ पर स्थान दिया पर साथ-

साथ यह भी व्यक्त किया गया कि किसी सतयुग का मूल्याकन तभी होगा जब वह अपना स्थायित्व बना लेगा। आज मुझे आप पत्रकारो के बीच यह बताते हुए प्रसन्नता होती है कि अणुव्रत-आन्दोलन तव से आज तक विकासोन्मुख ही रहा है। आज समग्र भारतवर्ष में मेरे सहित मेरे लगभग ६५० शिष्य साधुजन, सैकडो कार्यकर्त्ता व अनेको सस्थाएँ नैतिक जागरण की पुनीत भावनाओ को आगे बढाने मे दत्तचित्त हैं। आये दिन नये-नये उन्मेष इस दिशा में होते जा रहे हैं। समग्र नियम लेनेवाले अणुव्रतियो की सख्या चार हजार है, और प्रारम्भिक नियम लेनेवाले सदस्यो की सख्या एक लाख से भी अधिक हो चुकी है। विगत दो वर्षो मे मैंने विद्यार्थी वर्ग के चरित्र-निर्माण की ओर विशेष ध्यान दिया। लगभग २ लाख विद्यार्थियो ने साक्षात् सम्पर्क में आकर नैतिक प्रेरणा ली है। सहस्रो विद्यार्थियो ने निर्धारित प्रतिज्ञाएँ भी ली हैं। इसी प्रकार हमारा यह वर्गीय कार्यक्रम मजदूरो, व्यापारियो, कर्मचारियो, कैदियो, पुलिसो आदि विभिन्न वर्गों मे सफलता से चल रहा है। आन्दोलन के तथा इस प्रकार के और भी विभिन्न कार्यक्रम हैं।

नैतिक-निर्यात के लिए अणुव्रत-सेमिनार

अभी मैं कुछ विशेष लक्ष्यो से ही देहली पहुँच रहा हूँ। भारतवर्ष सदा से ही नैतिक व आध्यात्मिक ज्योति का प्रसारक रहा है। भगवान् महावीर और बुद्ध का शिक्षा-आलोक दूर-दूर तक समुद्रो पार पहुँचा। अभी देहली में नया अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन है। यह बहुत सुन्दर होगा कि बाहर से आनेवाले लोग भारतवर्ष के नैतिक सन्देशो को विदेशो में ले जायें। यह निर्माण सब के लिए हितकर होगा। लगता है—भारतवर्ष में नैतिक उपदेशो की बहुलता होने के कारण उनका भाव कुछ मद-मंद-सा होता जा रहा है। अन्य पदार्थों के निर्यात से जैसे भावो मे तेजी आ जाती है, मैं सोचता हूँ इस नैतिक-निर्यात से देश में भी उसका मूल्य बढेगा। इस हेतु ता० २-३-४ दिसम्बर को यहाँ अणुव्रत-सेमिनार का आयोजन किया गया है। आशा है, भारतवर्ष का यह देशव्यापी आन्दोलन विदेश में भी गति पायेगा, जो कि समस्त मानव जाति के लिए हितकर होगा।

नयी दिल्ली
प्रेस कांफरेन्स
१ दिसम्बर '५६

१०५ : नीति का प्रतिष्ठापन परम अपेक्षित

अणुव्रत-आन्दोलन का एक ही लक्ष्य है, मानवता विहीन मानव में मानवता का प्रतिष्ठापन हो। हमें ताज्जुब हो रहा है और आज उन बातो का प्रसार करना पड रहा है जो कि मानव मे सहज ही आ जानी चाहिये थी। आज के मानव मे नीति का प्रतिष्ठापन हो यह परम अपेक्षित है।

स्वार्थ वृत्ति की दृष्टि से स्वीकृत नीति में स्थिरता नही रहती, उसके लिए अध्यात्म की भूमिका चाहिये। धर्म के रूप मे स्वीकृत नीति आत्मसात् हो जाती है। फिर उसमे परिवर्तन नही होता। इसी तरह व्यवहार-शुद्धि के लिए आत्म-शुद्धि होनी चाहिए। सिर्फ व्यवहार-शुद्धि के आन्दोलन से दोष दब जाते हैं। उसकी जड नही मिटती। रोग के मूल को नष्ट किये बिना रोग मिटेगा नही। अवसर पाकर वह फिर प्रगट हो जायेगा। शताब्दियो से जमते-जमते दोषो की जड बहुत गहरी जम चुकी है और उसे नेस्तनाबूद करने के लिए निरन्तर प्रयास करते रहने की आवश्यकता है। बहुत से लोग कह देते हैं कि आखिर अहिंसा से क्या होना जाना है? मैं समझता हूँ यह प्रश्न ठीक नही है। प्रश्न यह होना चाहिए था—हिंसा से क्या हुआ? जिसके पीछे इतनी बडी भौतिक और सहारक शक्तियाँ हैं। अहिंसक शक्ति यदि थोडी भी संगठित हो पाती तो उसका नतीजा कुछ और ही होता। पर पता नही कहाँ दोष रह जाता है। जहाँ चोर, डाकुओ और बदमाशो मे परस्पर गठबन्धन हो जाता है, वहाँ अहिंसक शक्तियाँ मिलकर क्यो नही काम कर पाती है? आज इस बात की आवश्यकता है कि अहिंसक शक्तियाँ सगठित होकर कुछ सद्प्रयास करे—वरना हिंसा ससार को निगल जायेगी।

नई दिल्ली
संसद्सदस्यों के बीच
१ दिसंबर '५६

१०६ : श्रमण संस्कृति

मै राजस्थान से ११ दिन में प्राय २०० मील की लम्बी यात्रा कर इसलिये यहाँ आया हूँ कि भारत की राजधानी दिल्ली मे आये हुए अनेक सास्कृतिक एव दार्शनिक विद्वानो के समक्ष अपने उद्गार रखूं, उनके साथ विचार-विमर्ष कर सकूं। आज यहाँ ठीक पहुँचते ही विश्व के विभिन्न देशो के

बौद्ध-प्रतिनिधियो के बीच अपने विचार रखते हुए मुझे प्रसन्नता हो रही है।

भारतवर्ष में एक सस्कृति प्रवाहित हुई जिसका नाम है श्रमण सस्कृति। जैन और बौद्ध दोनो उसी श्रमण सस्कृति की शृंखला है। श्रमण का मतलब है जिनका जीवन आध्यात्मिक श्रम पर चलता हो। श्रमण सस्कृति की दो महान् धारायें—जैन और बौद्ध मे मैं काफी समन्वय देखता हूँ। अहिंसा का जहाँ भी सवाल आयेगा, भगवान् महावीर और बुद्ध का नाम सहसा याद हो आयेगा। जातिवाद पर दोनो को विश्वास नही, पुरुषार्थ और कर्मवाद पर दोनो की श्रद्धा है। इसी तरह समन्वय काफी मिल सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि दृष्टिकोण समन्वय का हो। मुझे इस बात की खुशी है कि जहाँ जैन धर्म भारतवर्ष मे नाना बाधाओ के बावजूद टिका रहा वहाँ बौद्ध भिक्षुओ ने पुरुषार्थ और कर्मवाद का प्रसार दुनिया मे बड़े पैमाने पर किया।

सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान स्व० डॉ० जेकोबी के शिष्य प्रोफेसर ग्लेसनो ने कहा—"मुझे इस बात की खुशी है कि मेरे गुरु ने आचार्यजी के गुरु के दर्शन किये थे और आज मैं आचार्यश्री के दर्शन कर रहा हूँ। मेरे गुरु (डॉ० हरमन जेकोबी) ने मुझे आदेश दिया था कि मैं जैन-दर्शन का अध्ययन करूँ, और इसके लिए मैंने भारत का भ्रमण भी किया। मै जयपुर गया, माउण्ट आबू गया और दक्षिण भारत भी।" वहाँ मैंने जैन-मूर्त्तियाँ देखी और भी तत्सम्बन्धी सामग्रियाँ देखने को मिली। पर जैन मुनियो और आचार्यों का जीवन उनसे कही अधिक प्रभाव डालने वाला होता है। जैन श्रमणो की तरह यदि सब का जीवन सादा और सदाचारपूर्ण बन जाये तो दुनिया का तनाव अपने आप शान्त हो जायेगा।"

नई दिल्ली
बौद्ध-प्रतिनिधियों के बीच
१ दिसंबर '५६

१०७ : सबसे मूल्यवान वस्तु संयम

अणुव्रत सग्रह का मर्यादाकरण है। अधिकार और इच्छाएं सिमट कर अपने क्षेत्र मे आ जाते हैं। अभय का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। अणुबमो को हतवीर्य करने का यही सरल मार्ग है। "अणुव्रतो के द्वारा अणुबमों की भयकरता का विनाश हो", "अभय के द्वारा भय का विनाश हो", "त्याग के द्वारा सग्रह का ह्रास हो" ये प्रण्योद्घोष उच्चतम सभ्यता, सस्कृति और कला के

प्रतीक बने और इस कार्य मे सब का सहयोग जुडे तो जीवन की दिशा बदल सकती है। अपनी शान्ति के लिए अणुव्रत अपनाइये। अपनी शान्ति के लिए अभय बनिये, अपनी शान्ति के लिए सग्रह को कम करिये। आपके अणुव्रतो की आभा दूसरो को भी आलोक देगी। आपका अभय भाव शत्रु को भी मित्र बनायेगा। आपका सग्रह का अल्पीकरण अणु-आयुधो को अपनी मौत मरने की स्थिति पैदा करेगा।"

विश्व के विशिष्ट चिन्तको, लेखको, कलाकारो मे जो अपने राष्ट्र की सजीव भावना के प्रतीक बनकर यहाँ आये है, मै हृदय की गहरी सवेदना के साथ कहना चाहूँगा कि वे अपने में "व्रतो के प्रयोग" की दिशा को व्यापक बनाने मे लगे। हमारे सयम से हमारा हित होगा, दूसरो को प्रेरणा मिलेगी। थोडा बहुत दृष्टिकोण बदला तो व्यापक हित होगा। अहिंसा, शान्ति और मैत्री के लिये यत्नशील व्यक्ति और सगठनो के सारे निरवद्य प्रयत्न शृङ्खलित हो—यह मै चाहता हूँ। राजनैतिक दल-बन्दी से दूर रहकर विशुद्ध मानवता व भाईचारे की दृष्टि से कुछ अन्तर्राष्ट्रीय दिवस मनाये जाये। जैसे—(१) अहिंसा-दिवस—नि शस्त्रीकरण का प्रयोग किया जाये। (२) क्षमा-दिवस—अपनी भूलो के लिए क्षमा माँगी जाये और दूसरो को उनकी भूलो के लिए क्षमा दी जाय। ये प्रेरणा के स्रोत बन सकते है और बिखरे प्रयत्नो को सामूहिक रूप दे सकते हैं। मैं मेरी भावना और सहयोगियो की सद्भावना के लिए कृतार्थ और कृतज्ञ हूँ। अहिंसा के प्रयत्नो की सफलता चाहता हूँ।

मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि भारत के राष्ट्रपति अध्यात्म भावनाके प्रति अभिरुचिशील हैं। भारत अध्यात्म-प्रधान देश है। यहाँ जो अध्यात्म भावनाये फैली—पनपी वे बढती जायँ, ऐसा मै चाहता हूँ। उसमे साधु-सन्तो का सहयोग तो है ही; राष्ट्र नेताओ का भी सहयोग रहे तो भारतीय अन्तर-चेतना अधिकाधिक विकास पा सके।

जैसा कि भारतीय महर्षियो ने बताया कि जीवन में सबसे ऊँची मूल्यवान कोई वस्तु है तो वह संयम है। सयम और त्याग के समक्ष सत्ता, वैभव और साम्राज्य का मस्तक सदा झुका है। ऐसी हमारी भारतीय परम्परा है। अणुव्रत-आन्दोलन सयम का आन्दोलन है। यह जाति, वर्ण और वर्ग-भेद से दूर मानवता का आन्दोलन है, नैतिक जागृति का आन्दोलन है।

दिल्ली
वाई० एम० सी० गाऊण्ड
२ दिसंबर '५६

१०८ : शिक्षा का ध्येय

जीवन मे ज्ञान का बहुत बडा महत्त्व है। अज्ञानी को अन्धे की उपमा दी गई है पर साथ-ही-साथ यह भी हमे नही भूल जाना है कि भारतीय सस्कृति में ज्ञान, ज्ञान के लिए नहीं ज्ञान प्रत्याख्यान के लिए है। प्रत्याख्यान का मतलब है—हेय और उपादेय को समझ कर हेय को छोड़ना, उपादेय को जीवन में ढालना। जहाँ ज्ञान इस ध्येय से परे है, वहाँ उसकी सार्थकता नही।

ज्ञान और शिक्षा में मैं भेद करता हूँ। ज्ञान का अर्थ है जानना, पर शिक्षा का दायरा उससे बड़ा है। उसका अर्थ है अनुभूति और सक्रिय रूप मे सत्य-तत्त्व को जानना, उसमे अपने को ढालना। शिक्षा कहनी और करनी की भेद-रेखा को तोड़ती है। जहाँ यह रेखा नही टूटी, करना कुछ, कहना कुछ, ऐसा रहा वहाँ शिक्षा का ध्येय पूरा नही हुआ।

दिल्ली
२ दिसम्बर '५६

१०६ : अर्हम्

मनुष्य का जीवन सरस भी है, नीरस भी है, सुख भी है, दुःख भी है, सब-कुछ भी है, कुछ भी नही है।

जीवन कला है।

नीरस को सरस, दुःख को सुख, कुछ भी नही को सब-कुछ बनानेवाला कलाकार है।

मनुष्य कलाकार है।

कला गूढ की अभिव्यक्ति है।

गूढ को अभिव्यक्त करनेवाला कलाकार है। वह गूढ से भी गूढ है।

अति गूढ को समझने के लिए पूर्व-तैयारी अधिक चाहिए। अति स्पष्ट से अभिलषित विकास नही होता। इन दोनो से परे का मार्ग है, वह 'व्रत' है। वह जीवन की कला है। असयम के घोर अन्धकार में संयम की अर्द्ध-रेखाएँ भी पथ निश्चित बना देती हैं।

घोर-हिंसा और सूक्ष्म-अहिंसा के बीच का जो मार्ग है वही बहुतो के लिए शक्य है।

अपरिमित सग्रह और अपरिग्रह के बीच का जो मार्ग है—वही बहुतो के लिए शक्य है।

युद्ध और आकर्षण की दुनिया मे जीनेवाले अहिंसा और अपरिग्रह की लौ को न जला सके—ऐसी बात नही है।

अहिंसक होना अगले सिरे का वीर्य है।

हिंसक बने रहना पहले दर्जे की कमजोरी है।

भय-से-भय बढता है, घृणा-से-घृणा।

क्रूरता का प्रतिफल क्रूरता और विरोध का प्रतिफल विरोध है।

हिंसा के प्रति हिंसा का सिद्धान्त फलित हो रहा है।

भयाकुल मनुष्य उन्मुक्त आकाश मे विचर नही सकता।

किवाडो से बन्द आश्रय मे सोकर भी सुख से नीद नही ले सकता।

शान्ति का प्रकाश अभय के सान्निध्य में फैलता है।

मन और आत्मा को बेचकर शरीर की परिचर्या करनेवाले लोग सुख के सामने शान्ति को आँखो से ओझल कर देते हैं। सुख शारीरिक-स्रोतो से उत्पन्न होनेवाली अनुभूति है। शान्ति का प्रतिष्ठान मन और आत्मा है।

साधारण लोग शान्ति के लिए सुख को नही ठुकरा सकते, किन्तु अशान्ति पैदा करनेवाले सुख से बच तो सकते हैं।

अशान्ति दुख का कारण है, फिर भी, सुख के लिए अशान्ति को मोल लेने में मनुष्य नहीं सकुचाता।

परिणाम दुख ही होता है।

शान्ति के बिना सुख के साधन भी सुख पैदा नही करते। शान्ति का मूल्य सुख से बहुत अधिक है। यह सही समझ है। इसमे बाहरी विकास की उपेक्षा भी नही है। आन्तरिक विकास के अभाव मे पनपनेवाली बाहरी विकास की भयंकरता या निरकुशता भी नही है। सुख के साधन पदार्थ, उनका सग्रह और उनका भोग है। शान्ति का साधन सयम या त्याग है।

संग्रह और अशान्ति का उद्गम बिन्दु एक है। सामान्य स्थिति मे वह अभिव्यक्त नही होता। सग्रह के बिन्दु इधर रेखा बनाते चलते है तो उधर अशान्ति भी सम-रेखा पर बढती जाती है।

सग्रह की भूख सबको है, अशान्ति को कोई नही चाहता।

मन को दावानल में डाले, और वह जले भी नही यह कैसे होगा?

कार्य-कारण का सही विवेक किए बिना भटकना नही मिटेगा।

दो सौ वर्ष पहले की बात है—आचार्य भिक्षु ने कहा—"**परिग्रह से धर्म नहीं होता।**" तब यह बहुत अटपटा लगा।

युद्ध परिग्रह के लिए होते हैं, अणुबम भी उसी के लिए बनते हैं।

अधिकारो के उपार्जन मे क्रूरता बरतनी पडती है।

उनकी सुरक्षा के लिए और भी अधिक।

अधिकार-दान या धन-दान क्रूरता का आवरण है।

शोषण का पोषण करनेवाले दानियो की अपेक्षा अदानी बहुत श्रेष्ठ है।

शोषण न करनेवाला स्वय धन्य है, चाहे वह एक कौडी भी न दे।

शोषण का द्वार खुला रखकर दान करनेवाला, हजारो को लूट कुछेक को देनेवाला कभी धन्य नही हो सकता।

अशान्ति की जड परिग्रह-विस्तार या अधिकार-विस्तार की भावना है। दुःख की जड़ अशान्ति है। इसीलिए तो सुख-संवर्धन के हजारो वैज्ञानिक उपकरणो के सुलभ होने पर भी सुख दुर्लभ होता जा रहा है। अभय और सन्तोष किनारा कसते जा रहे है।

मै अधिक गहराई मे नही जाऊँगा। थोड़ी गहराई मे गए विना गति भी नही होती। पेट को पकडे विना वाहरी उपचार से कुछ वनने का नही।

सुख के वाहरी उपादानो को वढाने की दिशा मे अणु-युग का प्रवर्त्तन हुआ है। इसमे भयकरता के दर्शन होने लगे है। अणु वुरा नही है, वह भयकर भी नही है। भयंकरता मनुष्य मे है। भय से भय आता है, अभय से अभय। अपने मन से भय निकाल दीजिये, अणु की भयकरता नष्ट हो जायगी। मन में भय वढता रहा तो अणु और अधिक भयकर वन चलेगा। अणुवाले, अणुवाले से नही घवडाते। जिनके पास अणु नही है—वे अणुवालो से घवडाते है। यह अणु और स्थूल की टक्कर है। समता के जमाने मे विषमता सफल नही हो सकती। इसीलिए भय वढ रहा है। अणु की टक्कर अणु से होने दीजिये। भय रहेगा ही नही।

स्थूल अस्त्रो से अणु-अस्त्रो का प्रतिकार नही हो सकता।

अणु-अस्त्र अणु-अस्त्रो के प्रतिकार मे लगेगे तो दोनो मिट जायँगे। प्रतिकार के ये दोनो मार्ग गलत है।

अणुव्रत-सग्रह का मर्यादा-कारण है। अधिकार और इच्छाएँ सिमिट कर अपने क्षेत्र में आ जाती है, अभय का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। अणुवमो को हतवीर्य करने का यही सरल मार्ग है।

"अणुव्रतो के द्वारा अणुवमो की भयकरता का विनाश हो।
अभय के द्वारा भय का विनाश हो।
त्याग के द्वारा सग्रह का ह्रास हो।"

ये महोद्घोष उच्चतम सभ्यता, सस्कृति और कला के प्रतीक बनें और इस कार्य में सवका सहयोग जुडे तो जीवन की दिशा वदल सकती है।

अपनी शान्ति के लिए अणुव्रत अपनाइए।

अपनी शान्ति के लिए अभय बनिये।

अपनी शान्ति के लिए सग्रह को कम करिए।

आपके अणुव्रतो की आभा दूसरो को भी आलोक देगी।

आपका अभय-भाव शत्रु को भी मित्र बनायेगा।

आपका सग्रह का अल्पीकरण अणु-आयुधो को अपनी मौत मरने की स्थिति पैदा करेगा।

विश्व के विशिष्ट चिन्तको, लेखको, कलाकारो से, जो अपने-अपने राष्ट्र की सजीव भावनाओ के प्रतीक बन यहाँ आये हैं, मैं हृदय की गहरी सवेदना के साथ कहना चाहूँगा कि वे जीवन में 'व्रतो के प्रयोग' की दिशा को व्यापक बनाने में लगे। हमारे सयम से हमारा हित होगा, दूसरो को प्रेरणा मिलेगी। थोडा-बहुत दृष्टिकोण बदला तो व्यापक हित होगा।

अहिंसा, शान्ति और मैत्री के लिए यत्नशील व्यक्ति और सगठनो के सारे निरवद्य प्रयत्न शृङ्खलित हो—यह मैं चाहता हूँ।

राजनीतिक दलबन्दी से दूर रहकर विशुद्ध मानवता व भाईचारे की दृष्टि से कुछ अन्तर्राष्ट्रीय दिवस मनाये जायँ। जैसे—

(१) अहिंसा-दिवस—नि शस्त्रीकरण का प्रयोग किया जाए।

(२) क्षमा-दिवस—अपनी भूलो के लिए क्षमा माँगी जाय और दूसरो को उनकी भूलों के लिए क्षमा दी जाय।

ये प्रेरणा के स्रोत बन सकते हैं और बिखरे प्रयत्नो को सामूहिक रूप दे सकते हैं।

मैं मेरी भावना और सहयोगियो की सद्भावना के लिए कृतार्थ और कृतज्ञ हूँ। अहिंसा के प्रयत्नों की सफलता चाहता हूँ।

दिल्ली
अणुव्रत-सेमिनार
२ दिसंबर '५६

११० : अहिंसा विश्वशान्तिदायिन् है

जब तक जीवन-व्यवहार मे दम्भ रहेगा, क्षोभ रहेगा, हिंस्य-वृत्तियाँ रहेंगी, तबतक यह कम सम्भव है कि जीवन में शान्ति का समावेश हो सके। शान्ति अहिंसा और संयम पर आधारित है। जिसने मन का सयम किया, हाथ और पैरो का संयम किया, उसे अनायास शान्ति प्राप्त होगी। सयम और अहिंसा का आदर्श वैयक्तिक जीवन को तो माजते ही हैं, उससे

आगे बढ वे सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन मे भी शान्ति का स्रोत बहा देते है। विश्व-शान्ति इसीसे फलित होगी। अणुबम जैसे खूंख्वार अजगर के मुह मे हाथ डाल कोई अमृत प्राप्त करना चाहे तो क्या यह सम्भव है? कदापि नही। वहाँ तो एकमात्र गरल ही मिलेगा जिसका फल है विनाश और मृत्यु। यदि ससार शान्ति चाहता है तो उसे अहिंसा के राजपथ पर आना होगा।"

दिल्ली
अणुव्रत-सेमिनार
४ दिसम्बर '५६

१११ : विद्यार्थी एवं अभिभावक आत्मोन्मुखी बनें

वह ज्ञान अज्ञान है जो जीवन के अन्तरतम को छूता नही। वह विद्या अविद्या है जो अन्तर-वृत्तियो मे परिशुद्धि नही लाती। ये वाक्य हमारे भारतीय महर्षियो के है, जिनमे प्रेरणा भरी है, ओज भरा है। मै बहुधा कहा करती हूँ कि विद्याध्ययन का लक्ष्य जीवनोपार्जन नही है। ऋषियो के शब्दो में—"**सा विद्या या विमुक्तये।**" उसका लक्ष्य है—विमुक्ति, बुराइयो से 'छुटकारा', अपने शुद्ध स्वरूप मे अवस्थान। पर बडे खेद का विषय है—जीवन का यह महान् लक्ष्य आज आँखो से ओझल होता जा रहा है। तभी तो किताबी पढाई के लिहाज से शिक्षा का अधिक प्रचार होने के बावजूद अन्तर-चेतना की दृष्टि से उसने विकास नही किया है।

हम आये दिन सुनते हैं, अमुक स्थान पर विद्यार्थियों ने उद्दण्डता की, उच्छृङ्खलता की, अनुशासनहीनता बरती। यह सब क्यो? सारा वायु-मण्डल ही कुछ ऐसा बना हुआ है। क्या घर मे, क्या परिवार के इर्द-गिर्द वे ऐसा ही पाते हैं। आज वातावरण मे एक नया आलोक भरा होगा। विद्यार्थियो को अपने जीवन का सही मूल्य समझना होगा। अभि-भावको और अध्यापको को भी यह समझना होगा कि विद्यार्थी राष्ट्र की सबसे बडी सम्पत्ति है। उन्हे अभ्युत्थान और जागृति की ओर ले जाना सब का काम है उसके लिये स्वय उन्हें अति जागरूक होना होगा।

आज भौतिकवाद सर्वत्र प्रसार पाता जा रहा है। हिसा से व्याकुलता और आतुरता आदि अशान्तिकारी प्रवृत्तियाँ पनप रही है। यही कारण है कि जीवन का महत्त्व आज बाहरी दिखावे मे समाता जा रहा है। यदि

अन्तर-जीवन का सच्चा सरक्षण हम चाहते हैं तो इसे रोकना होगा। इसका सबसे अधिक उपयोगी एक ही उपाय है कि बालकों को शुरू से ही अध्यात्म की शिक्षा दी जाय। फलत वे बहिर्दृष्टि नही बनेंगे। बहिर्दृष्टि बनने का अर्थ है—आत्मोन्मुख बनना। जहाँ आत्मोन्मुखता है, वहाँ बुराइयाँ नही आती, कालुष्य नही पनपता। जीवनवृत्ति परिमार्जित हो, इसके लिए मैं विद्यार्थियो और साथ-साथ अध्यापको और अभिभावको से कहना चाहूँगा कि वे अणुव्रत-आन्दोलन के नियमो को देखें, उन्हें आत्मसात् करे।'

दिल्ली
मॉडर्न हायर सेकण्डरी स्कूल
५ दिसंबर '५६

११२ : जीवन का स्तर ऊँचा करें

आज की मानव-दशा बडी शोचनीय हो गई है। बहुत कुछ पाने के बाद भी मानव खोया-खोया-सा हो रहा है। रहने के लिए बगला उसके पास है, चढने के लिये मोटरे हैं। मनोविनोद के लिये रेडियो है और भी बहुत प्रकार के साधन उसने ईजाद किये हैं, पाये हैं। पर यह सब होते हुए भी उसका जीवन अशान्ति की आग मे झुलसा जा रहा है। कारण स्पष्ट है। उसने अपने जीने का स्तर बढाया पर जीवन का स्तर नही बढाया। जीवन का स्तर भौतिक अभिसिद्धियो से ऊँचा नही बनता, वैभव और सम्पदा से नही बढता, वह तो सत्य, प्रामाणिकता, नैतिकता, न्याय, और सदाचार से ऊँचा उठता है। ये वे मानवोचित् सद्गुण हैं, जिनके अभाव में मानव केवल कहने भर को मानव है। सच्ची मानवता उसमे नही होती। यही मानव-धर्म का सच्चा स्वरूप है। मै आपको बताता हूँ—अणुव्रत-आन्दोलन इन्ही विश्व-जनीन आदर्शों को लेकर मानव-जीवन में एक नई प्रेरणा और जागृति लाना चाहता है।

मुझे आश्चर्य होता है, धन, सत्ता, अधिकार और जीवन का गर्व इन्सान कितना करता है। वह यह भूल जाता है कि जिन्हें शाश्वत मान जिनके बल पर वह इतराते नही सकुचाता, उनको मिटते क्षण भर भी देर नही लगती। तीन रोज पूर्व की एक घटना है। किसी भाई से मुझे यह मालूम हुआ कि डॉ० अम्बेडकर जैन-तत्त्व के सम्बन्ध में जिज्ञासा के लिये मेरे पास आने वाले हैं और जैन तत्त्वों की गहरी जानकारी वे चाहते हैं। पर, थोड़ी देर बाद एक दूसरे भाई से मैंने सुना—डॉ० अम्बेडकर इस ससार में

नही रहे। यह है जीवन की क्षणभगुरता की जीती-जागती मिसाल। संस्कृत के पुराने कवि ने ठीक ही कहा है—आयु हवा के वेग से हिलती पानी की लहर के समान है। इस अशाश्वतपन को देखते प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह जीवन को एकमात्र वहिरगता मे न डुबो उसकी वास्तविकता को समझे। परिग्रह और लोभ के चगुल से अपने को छुडा सयम और सतोप मे अपने को मोडे। यही शान्ति और सुख का सच्चा मार्ग है, यही मानव का वास्तविक धर्म है।

दिल्ली
पहाड़गञ्ज
७ दिसंबर '५६

११३ : राष्ट्र के व्यक्ति-व्यक्ति का चरित्र ऊँचा हो

कहा जाता है आज अणु-युग है, परमाणु-युग है, पर मैं कहूँगा साथ ही साथ आज आलोचना का युग है, असहनशीलता का युग है, अकर्मण्यता का युग है। विद्यार्थी अध्यापको को कोसते पाये जाते है, अध्यापक विद्यार्थियो की आलोचना करते मिलते है। सरकार जनता को कोसती है, जनता सरकार को बुरा-भला कहती है। असहिष्णुता इस हद तक वढ गई कि उसने मानव के विवेक को अन्धा कर डाला। प्रान्तीय संकीर्ण मनोवृत्ति का कटु रूप हमने देखा। विद्यार्थियो की ओर से समय-समय पर चलनेवाली ध्वसात्मक कार्यवाहियाँ सव देखते सुनते हैं। यह सब क्यो होता है? कारण साफ है—व्यक्ति का चरित्र वल घटता जा रहा है। यह अत्यन्त आवश्यक है कि राष्ट्र के व्यक्ति-व्यक्ति का चरित्र ऊँचा हो, उसकी सकीर्ण भावना मिटे। यह केवल व्यक्ति तक ही सीमित न रहे वैसा काम वह छोडे। फलत. अति राष्ट्रीय वृत्ति उन्हे छोडनी होगी। क्योकि यह अति राष्ट्रीयता की भावना कही-कही सकीर्ण प्रान्तीयता को जन्म दे देती है।

एक समय था—भारत ने विश्व का आध्यात्मिक और राजनीतिक नेतृत्व किया। तभी तो भारतीय ऋषि ने गाया—इस देश में उत्पन्न होनेवाले त्यागी और आत्मनिष्ठ साधक से पृथ्वी के सब लोग चरित्र की शिक्षा लें। भारतीयो को आज इससे प्रेरणा लेनी है। आज विश्व की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे शान्ति का सवाल आता है वहाँ भारतीय शान्तिदूतो को याद किया जाता है। भारत को इससे गौरव है। भारत की अहिंसा प्रधान

संस्कृति इससे गौरवान्वित है। भारतीयो से मै कहूँगा, देश के प्रत्येक नागरिक को चरित्र-शुद्धि के मार्ग पर आना है। अणुव्रत-आन्दोलन चरित्र-शुद्धि का आन्दोलन है। यह कोई एकमात्र जैनो का आन्दोलन नही है। जहाँ जैन-दर्शन मे पच महाव्रत है वहाँ साख्य, बौद्ध और योगदर्शन आदि मे मे इनका विविध नामो से निरूपण है। यह वह चीज है जो सम्प्रदाय, लिंग, रंग और जाति भेद से अछूती है। क्योकि मैने सोचा—कम से कम एक प्लेटफार्म तो ऐसा हो जहाँ सब लोग समन्वय के साथ आ सके।

अणुव्रत-आन्दोलन अति त्याग और भोग के बीच का कार्यक्रम है, जो जन साधारण के जीवन को ऊँचा उठाने की प्रेरणा देता है। यह अहिंसा, सचाई, सहनशीलता के मार्ग पर सब को ले जाना चाहता है। सात वर्षों के अब तक के काम मे यह देश-विदेश के अनेक लोगो तक पहुँचा है, अनेको ने इसे निकट से देखा है। विचारो की विभिन्नता के वावजूद दुनिया के लोग आपस में निकट आ सकें, मैत्री और सद्भाव से रह सके, इसके लिये मै चाहूँगा—परस्पर मे क्षमा-भावना की वृद्धि हो। अपने प्रति दूसरे के द्वारा किये गये प्रतिकूल व्यवहार को एक व्यक्ति, राष्ट्र अपनी ओर से भुला दें, दूसरे भी वैसा करे। अग्रेजी में जिसे "फारगेट एण्ड फारगिभ" कहते है वह भावना जागे। यह भावना अन्तर्राष्ट्रीय रूप पाये तो विश्व के लिए कितना अच्छा हो। पण्डितजी विदेश जा रहे है, इसे और भी वे सोचे।

नई दिल्ली
सप्र हाउस
१३ दिसंबर '५६

प्रवचन-डायरी, १९५७

(आचार्य श्री तुलसी के जनवरी '५७ से दिसम्बर '५७ तक के प्रवचनो का संग्रह)

१ : विद्यार्थी और जीवन-संयम

शरीर की स्वच्छता के लिए जैसे पानी और साबुन की जरूरत होती है, उसी तरह जीवन की स्वच्छता के लिए, अन्तरतम के परिमार्जन के लिए धर्म की आवश्यकता है। उस धर्म का सत्य-स्वरूप बाहरी प्रदर्शन और दिखावे मे नही है। वह तो जीवन में सत्य, शौच, शील, विनय, सद्भावना और मैत्री जैसे सद्गुणो के सकलन मे है। यही वे आदर्श हैं जो आज के विशृङ्खल, अस्त-व्यस्त और मूर्च्छित लोक-जीवन मे एक शृङ्खला, स्थिरता और चेतना पैदा कर सकते है। बालको में ये सुसस्कार बचपन से ही भरे जाने चाहिए ताकि आगे चलकर उनके जीवन में ये दृढता से जम जाएँ।

भगवान् महावीर से शिष्य ने पूछा—"भगवन्! मै कैसे चलूं? कैसे बैठूं? कैसे सोऊँ? कैसे बोलूं? कैसे खाऊँ? जिससे मेरा जीवन पतन की ओर न जाये?" भगवान् महावीर बोले, "यत्ना—सयतता—जागरूकता से चलो, स्थिर रहो, बैठो, सोओ, बोलो, खाओ, इससे तुम्हारा जीवन पतन की ओर नही जायेगा।" इन थोडे से वाक्यो मे जीवन की दिशा है, गन्तव्य पथ है। भगवान् महावीर की भाषा में विद्यार्थियों से कहना चाहूँगा कि उन्हें अपनी जीवन-वृत्तियाँ अधिकाधिक सयमित और अनुशासित करनी है।

पिलानी,
१७ जनवरी, '५७

२ : सा विद्या या विमुक्तये

प्रत्येक आत्मा अपरिमित ओज और अनन्त शक्तियो का केन्द्र है। उसमें परमात्मपन छिपा पड़ा है। पर वह प्रकट कब हो? जब कि उन आवरणो को दूर किया जाय, जिन्होने उसके मौलिक गुणो को आच्छन्न कर रखा है। यह एक सत्य है, जिसे सदा से हमारे देश के ऋषि-महर्षि गाते आये हैं, पर आज लोग इसे भूलते जा रहे हैं, उनकी निष्ठा डगमगा उठी है। आज के तथाकथित-भौतिक विकास के युग में इसे सबसे बडा ह्रास और अध.पतन मानता हूँ। सत्य के प्रति अविश्वासी और निष्ठाहीन बनना ही तो नास्तिकता है। जन्मते ही अपनी माँ से बिछुडे और बकरियों के झुण्ड में पले-पोसे उस शेर के बच्चे की सी हालत आज मानव की हो

गई है जो अपनी अदम्य शक्ति और दुधर्ष शौर्य्य को भूल दूसरे शेर की दहाड सुन बकरी के बच्चे की तरह थर्रा उठा था पर ज्योंही उसे अपना भान हुआ, उसका शौर्य्य निखर उठा। यह समझकर मानव को अपने ऊपर हावी होने जा रहे इस नास्तिकता के भीषण प्रवाह का अवरोध करना है। विद्यार्थियो को इससे शुरू से ही बचाया जाय, इसकी सबसे बडी आवश्यकता है।

विद्यार्थियो एवं शिक्षा-प्रेमियो के बीच रहते मुझे स्वर्गीय आनन्द की अनुभूति होती है। यही कारण है कि पिलानी जैसे विशाल विद्या-क्षेत्र में आने का पिछले लम्बे समय से मेरा विचार था पर आना बन नही सका। मैं आपसे स्पष्ट कहना चाहूँगा—मैं स्वयं अपने को विद्यार्थी समझता हूँ। वस्तुत मनुष्य जीवन भर विद्यार्थी है, अनन्त ज्ञान-राशि जो सीखने को उसके सामने है। मैं आपको कोई नयी बात नही बताने आया हूँ। मैं तो उन्ही सत्य, अहिंसा और सयम-मूलक शाश्वत आदर्शों की चर्चा आपके समक्ष करूँगा, जो युग-युग से विश्व के महापुरुष हमें देते रहे हैं।

विद्यार्जन का लक्ष्य केवल उदरपूर्त्ति और परिवार-पोषण नही है। यदि ऐसा होता तो कीट-पतगे और पशु-पक्षी, जो येन-केन-प्रकारेण अपना पेट भर लेते है, मनुष्य के समकक्ष माने जाते। पर बात कुछ दूसरी है। मनुष्य चिन्तनशील प्राणी है। अन्तर-मन्थन और अन्तर-गवेषणा की क्षमता उसमें है। इसलिए उसने यह निष्कर्ष पाया कि विद्या का सही लक्ष्य है—अपने आपको सुसस्कृत बनाना, शान्ति और अन्त तुष्टि के सच्चे मार्ग को पाना और उस पर चलने की योग्यता हासिल करना। ऋषिवाणी में प्राप्त होने वाला—"सा विद्या या विमुक्तये" का सुमधुर घोष यही तो हमें बताता है कि जिससे जीवन बन्धन से मुक्ति पाये, कठिनाइयो को पार करने की शक्ति अर्जित करे, सत् लक्ष्य तक पहुँचने की क्षमता हासिल करे, वह विद्या है। खेद है कि आज के विद्यार्थी का मानस इस आदर्श से परे होता जा रहा है। भौतिकवाद की भूलभुलैया में वह इस तरह ग्रस्त हुआ जा रहा है कि उसे आत्मत्व का भान तक नही रहा है। मैं इस सुषुप्ति से उसे जगाना चाहता हूँ। इसलिए मैं जहाँ भी जाता हूँ, विद्यार्थियो से कहता हूँ 'वे अपने जीवन की इन अमूल्य घडियो को सद्ज्ञान और उसके अनुरूप सत्-क्रिया अर्थात् विनय, अनुशासन, शील, सौजन्य और सद्गुणो के अर्जन में लगायें।'

विद्यार्थी का जीवन एक साधक का जीवन है। उसे हर समस्या को सुलझाने के लिए विवेक से काम लेना है। जब संसार की बडी-से-बडी समस्याओं को सुलझाने में आपसी विचार-विमर्श और समझौते की नीति से

काम चल सकता है तो क्या वे अपनी समस्याएँ इस प्रकार नही सुलझा सकते ? इसलिये मैं कहना चाहूँगा विद्यार्थी तोड-फोड-मूलक ध्वंसात्मक कार्रवाइयो में कभी न उलझे। उन्हें अपने जीवन का निर्माण करना है। वे जीवन-शुद्धि-मूलक रचनात्मक कामों में अपने को जोडे।

इन बालिकाओ का यह खिला हुआ जीवन उस नन्हे से वट-बीज जैसा है, जो आगे चलकर विशाल वृक्ष के रूप में प्रस्फुटित हो जाता है। पर उस बीज को यथेष्ट वायु, जल, खाद, आदि न मिले तो वह मुरझा जाता है, यही बात बालक-बालिकाओ के लिए है। यदि इस गौरवमयी सम्पत्ति के सरक्षण, सवर्द्धन और विकास की उपयुक्त व्यवस्था नही होती तो ये खिले हुए फूल विकास पाने के बदले मुरझा जाते है। अध्यापक तथा अध्यापिकाओं का यह सबसे पहला और आवश्यक कर्त्तव्य है कि वे बालक-बालिकाओ के जीवन में अनुशासन, शील, मैत्री और आत्म-विश्वास आदि सुसंस्कार भरने को सतत जागरूक रहें। इसके लिए उनके अपने जीवन की सुसस्कारिता सबसे पहले आवश्यक है। उनका जीवन छात्र-छात्राओ के लिए एक खुली किताब होना चाहिए, जिससे वे उनसे जीवन-निर्माण की मूर्त एवं सक्रिय प्रेरणा ले सकें।

लोग अनैतिक और अशुद्ध वृत्तियो की ओर धडाधड बढते जा रहे हैं, इसकी मुझे इतनी चिन्ता नही जितनी कि लोगो की यह निष्ठा और आस्था मिटती जा रही है कि नैतिकता, सच्चाई और अहिंसा से व्यावहारिक-जीवन में काम नही चल सकता—इस बात की है। यह नास्तिकता है। जीवन-तत्त्व की विस्मृति है। बालिकाओ में ऐसी भावनाएँ न जमने पाएँ, ऐसा प्रयास अध्यापिकाओ को करना है। बहनो से मैं कहना चाहूँगा कि वे अपने को पुरुषो से हीन न समझे। अपने को हीन समझना आत्म-शक्ति को कुण्ठित करना है। वास्तव में उनमें यह अदम्य उत्साह और अपरिमित शक्ति है, जो विकास के पथ पर आगे बढने में उन्हे बडी प्रेरणा दे सकती है।

कहते बडा खेद होता है कि आज राष्ट्र में नैतिकता का दुर्भिक्ष आता जा रहा है। ईमानदारी, विश्वास और मैत्री की अनेक परम्पराएँ टूटती जा रही है। इस नैतिक दिवालियापन से जन-जीवन आज खोखला हुआ जा रहा है। यदि अनीति और अनाचार के इस चालू प्रवाह को रोका नही गया तो कही ऐसा न हो कि अनैतिकता का यह भयावह दानव मानवता को निगल जाये। इन टूटती हुई नैतिक और चारित्रिक शृङ्खलाओ को सहारा मिले, लोकजीवन में सत्य, निष्ठा और ईमानदारी का समावेश हो, इसके लिए अणुव्रत-आन्दोलन के रूप में चारित्रिक उद्बोधना का काम हम

चला रहे है। प्राध्यापक, लेखक, शिक्षाशास्त्री, जैसे बौद्धिक क्षेत्र के लोग राष्ट्र के मस्तिष्क है। राष्ट्र के जीवन को तथाकथित वितथ विकास के वदले सही विकास और अभ्युत्थान के मार्ग पर ले जाने का बहुत बडा उत्तरदायित्व उनपर है। इसलिए मैं चाहूँगा कि चारित्रिक जागृति के लक्ष्य को लेकर चल रहे अणुव्रत-आन्दोलन के बहुमुखी कार्यों में वे सहयोगी बने। दूसरे लोगो तक पहुँचाया जाये, इससे पहले यह आवश्यक होता है कि व्यक्ति स्वयं अपने जीवन को उन आदर्शों के अनुकूल बनाये। अध्यापकों से मैं कहना चाहूँगा कि वे सत्यनिष्ठा, प्रामाणिकता और निर्भयता—इन तीनो बातो को अपने जीवन में उतारें। यदि ऐसा वे कर पाये तो उनका स्वयं का जीवन तो सही माने मे प्रगतिशील बनेगा ही, राष्ट्र के सहस्रो नौनिहाल जिनके जीवन-निर्माण का कार्य उनके हाथो में सौंपा गया है, उन्हें भी वे उन्नतिपथ की ओर ले जा सकेगे। राष्ट्र के समक्ष वे मूर्त आदर्श उपस्थित कर सकेंगे।

"जैन-दर्शन-चिन्तन" अनेकान्तवाद पर आधारित है, जो विश्व की समस्त विचार-धाराओ के समन्वय और सामजस्य का समुचित पथ प्रस्तुत करता है। वह वताता है कि एक ही वस्तु को अनेक अपेक्षाओ अथवा दृष्टियो से परखा जा सकता है। क्योकि अनेक अपेक्षाओ को जब लेते हैं तो उसके निरूपण में भी आपेक्षिक अनेकविधता का आना सहज है। यह अनेक-विधता संशयोत्पादक नही है। यह तो वस्तु के बहुमुखी स्वरूप का निरूपक है। हाथी के विविध अग-प्रत्यंगो को लेकर अपने-अपने द्वारा अनुभूत अग-विशेष को हाथी कहकर लडनेवाले उन अन्धो की कहानी सुप्रसिद्ध है, जिनको किसी नेत्रवान् ने उसी हाथी के भिन्न-भिन्न अगो का अनुभव कराकर वताया था कि जिसे वे हाथी कह रहे हैं, वह तो उसका एक-एक अग है, हाथी तो उन सब अगो का समवाय है। जैन-दर्शन यही तो कहता है कि वस्तु के एक पहलू को लेकर दुराग्रही मत बनो, लडो नही, उसे एकान्तिक तथ्य मत समझो। दूसरी अपेक्षाओ से भी वह परखा जा सकता है। और उस परख से निकलनेवाला निष्कर्ष पहले से भिन्न भी हो सकता है क्योकि यह अपेक्षा या दृष्टि पहली से भिन्न है। जैसे एक व्यक्ति किसी का पिता है, पर साथ ही साथ वह किसी का पुत्र भी तो है, भाई भी तो है, पति भी तो है। कहने का तात्पर्य यह है कि उसमें पितृत्व, पुत्रत्व, भ्रातृत्व आदि अनेक धर्म है। यही जैन-दर्शन का स्याद्वाद है जो विश्व की सारी उलझी समस्याओ के हल का अन्यतम साधन है।

पिलानी,
१८ जनवरी, '५७

३ : संयमी गुरु

आज ससार की स्थिति विपम है। ससारी ससार मे इस तरह फँसे पडे हैं, मानो कोई अनुचित कार्य करनेवाला अभियोगी कारागार मे जकड़ दिया गया हो। आज के मानव की हालत मकडी के जाल मे फँसी मक्खी के जैसी हो रही है। ज्यो-ज्यो वह निकलने का प्रयत्न करता है, त्यो-त्यों अधिक फँसता जाता है। फँसने से पहले बचना सहज है, पर फँसने के बाद निकलना उसके हाथ की बात नही।

कही गहरा कीचड है। उसमें कोई बडा जानवर जैसे हाथी या भैंस फँस जाये, और निकलने की कोशिश करे तो निकल नही सकता उल्टे अधिक फँसता जाता है, और कोई निकालना भी चाहे तो ऐसा-वैसा व्यक्ति नही निकाल सकता। उसे तो बहुत मजबूत व्यक्ति ही निकाल सकते हैं। जिस प्रकार पानी में डूबते मनुष्य को बचाने के लिए अनजान व्यक्ति जाये तो बचाने से पहले वह खुद ही डूब जाता है। उसे निकालने के लिए तैराक मनुष्य की आवश्यकता होती है। "आप डूबतो पाडियो, ले डूब्यो जजमान"। उसी प्रकार घोर अनैतिकता मे फँसे मानव को निकालने के लिए भी ताकतवर, तपस्वी, सयमी गुरु की आवश्यकता है जो अपने तपोबल के आधार पर, त्याग के बल पर नीतिभ्रष्ट मानव को कीचड से निकाल सके। पर दुःख के साथ कहना पडता है कि आज गुरु, त्यागी गुरु, है कहाँ ? त्याग के दर्शन दुर्लभ हो गये। गुरु नाम धराने-वालो के यदि कारनामे देखे जायें, तो आँखो में पानी आ जायेगा। उसे सुनने के लिए कान बहरे हो जायेगे। जो गुरु त्याग का उपदेश करते थे, वे आज हाथ पसारते हैं। हाय! अगर बाड ही ककडी को खाने लग गयी तो उसकी रक्षा कौन करेगा ? त्यागी जब हाथ पसारने लगे तो क्या त्याग का उपदेश भोगी करेंगे ? उन सन्तो से कही अधिक दोषी मैं तो आपलोगो को मानता हूँ। आप जानते हैं कि वे ऐसे हैं, फिर भी उन्हें बढावा देते हैं, प्रोत्साहन देते है, सन्मान देते है।

मुझे तो ऐसा लगता है कि जो सन्त, गुरु "पैसा पाप का मूल है" एक तरफ तो ऐसा कहते हैं और दूसरी तरफ "पुण्य करो, धर्म करो"—यानी हमें दे दो कहते है वे असद् गुरु हैं। गृहस्थ धन का सग्रह करे, अर्जन करे तो करे क्योकि उसे अपना गार्हस्थ-जीवन चलाना है, अपने परिवार का पोपण करना है, पर साधु, गुरु, सर के ताज वे धन लेकर क्या करेंगे ? किसलिए चाहिए उन्हें पैसा ?

जो धन आवश्यकता-पूर्ति का साधन था, वही आज तो मनुष्य का प्राण बन गया है। न्याय-अन्याय, जायज-नाजायज़, हक-बेहक जैसे भी हो, जो कुछ भी करना पड़े, अपने शरीर की चमडी भी जाय, मानवता को तिलाञ्जलि दे देना सह्य है, अबलाओ की लाज चली जाय, पर उन्हें तो चाहिए पैसा। क्योंकि पैसा उनका प्राण है। वे पैसे के लाल इतना भी नही सोचते कि उस पैसे से आखिर होगा क्या? राजस्थानी में एक कहावत है "पूत सपूता क्यो धन सचै पूत कपूता क्यो धन सचै" यानी अगर पुत्र सुपुत्र है तो वह अपने आप अपने पैरों पर खडा हो जायेगा, तुझे उसके लिए क्या चिन्ता है। अगर वह कपूत है तो जोड़े-जुडाये धन पर पानी फेर देगा और बदनाम करेगा तुझको।

मैंने कई उदाहरण ऐसे देखे हैं कि घर मे धन का ढेर पडा है, पर खानेवाला कोई नही है। आखिर रहा दुख का दुख। इसी धन के लिए, जिसे आप अपना मानते हैं, पुत्र-पिता, भाई-भाई, पति-पत्नी अदालतो के दरवाजे खटखटाते हैं। इस धन के लिए प्रेमियो का प्रेम, स्नेहियो का स्नेह, सम्बन्धियो का सम्बन्ध, मित्रो की मित्रता सब समाप्त हो जाती है। एक तरफ पिता कहता है कि चाहे मुकदमे में लाख रुपये स्वाहा हो जायें पर बेटे को एक दमड़ी भी नही दूंगा। दूसरी तरफ पुत्र कहता है चाहे मेरे हाथ कुछ भी न लगे पर एक बार तो पिताजी को गहने (बेडियां) पहना कर ही छोडूंगा।

ऐसी परिस्थिति मे मनुष्य चारो ओर से झगडा, कलह, ईर्ष्या, द्वेष और मनोमालिन्य के दल-दल में अन्त तक गडा पडा है! वह निकलना भी चाहता है, पर निकले कैसे? उसे निकलने के लिए सहारा चाहिए। वह सहारा उनको अणुव्रत-आन्दोलन देगा। यही उनके जीवन को हल्का बनायेगा।

चूरू

४ : गणतंत्र दिवस का सन्देश

आज हम दो महीने की अल्पकालीन दिल्ली-यात्रा सम्पन्न कर सानन्द सरदारशहर आ रहे हैं। हम तो हर समय यात्रा करते ही रहते हैं। जिनका जीवन ही यात्रामय है, वे क्या तो यात्रा प्रारम्भ करें और क्या समाप्त? पर कोई विशेष लक्ष्य को लेकर जाते हैं, तब यात्रा शुरू मानी जाती है।

जब मै यहाँ से गया था, तब भी आप सब स्नातकों से मिल कर गया था और आज यात्रा सम्पन्न कर वापस आ रहा हूँ, तो वापस आपलोगों से मिल रहा हूँ, इसकी मुझे खुशी है। आप सबको देखकर पिलानी के विद्यापीठ की सहज याद हो आती है। वहाँ पर मैंने एक विशेष बात देखी। वह यह कि वहाँ के स्नातको, अध्यापको व प्रोफेसरो में एक नयी जिज्ञासा, स्फूर्ति व चेतना थी। हम वहाँ चार दिन रहे, पर इस अल्प समय में भी विद्यार्थियो ने बहुत कुछ सीखा पाया। दिल्ली में नेता लोग कहते थे कि आपलोगो को तरुणो में काम करना चाहिए। पिलानी में हमने वही कार्य किया।

आज २६ जनवरी है। आज सारे भारत के नागरिको में एक नया उत्साह, उमग व जोश है। यह क्यो? क्योकि आज के दिन भारत सैंकड़ो वर्षों की गुलामी की जजीरो को तोडकर आजाद हुआ, विदेशी हुकूमत उसपर नही रही। पर उसने तो केवल ऊपरी जंजीरों को तोडा है, अन्दर की जजीर जो कि क्रोध, मान, माया और लोभ से शृंखलित हो रही है उसको उसने अभी तक नही तोड़ा है, अब हमें उसी जजीर को तोड़ना है। आज देश का आध्यात्मिक-धरातल ऊँचा नही है और भौतिक दृष्टि से भी देखें तो वह अन्य देशो से पीछे ही है। आज देश को आध्यात्मिक व भौतिक दोनो तरह की दुविधाओ से मुकाबला करना है। पर हमें इन दुविधाओ से घबराना नही है। घबराना कायरता है, हिंसा है। हमें उन सब से लोहा लेना है।

गणतत्र-दिवस को मनाने का यही मतलब है कि व्यक्ति अपने जीवन को टटोले, जीवनमें पडी खाइयो को मिटाये। आज राष्ट्रो के आपसी तनाव बढ़ रहे है। हिंसा के काले बादल मँडरा रहे हैं। हिंसा मानव को निगल रही है। पर आखिर यह सब क्यो? इन सबका एक ही कारण है कि व्यक्ति ने दूसरो के सुखो को लूटने की कोशिश की और कुछ हद तक सफल भी हुआ। पर याद रखिये आप दूसरो के सुखो को लूटकर खुद सुखी नहीं बन सकेंगे। अगर आपको गणतत्र-दिवस सफल बनाना है तो उसकी भूमिका चरित्र पर आधारित करनी होगी।

सरदार शहर,
२६ जनवरी, '५७

५ : अणुव्रत-आन्दोलन क्यों ?

अणुव्रत-आन्दोलन लगभग ७ वर्षों के बाद देशव्यापी रूप में सामने आ रहा है और जनता ने इस बात को माना है कि अणुव्रत-आन्दोलन आज के इस युग के लिए खुराक है। हजारो दृश्य, चाहे वे कितने भी सुन्दर क्यों न हों, आपके सामने आ जायेंगे, पर क्या उनसे आपकी भूख मिट जायगी? भूख तो खाद्य-पदार्थ मिलने पर ही मिटेगी। इसी तरह आज देश में जो चरित्र और नैतिकता की भूख है, उस भूख को मिटाने के लिए सचमुच यह आन्दोलन खुराक का काम करता है। अभी जब मैं दिल्ली गया था, तब वहाँ के नेताओ व नागरिको ने इस बात को मंजूर किया था कि अगर देश में नैतिक कार्य करनेवाला कोई आन्दोलन है तो वह अणुव्रत-आन्दोलन है। यह आन्दोलन एक बहुत बडी दार्शनिक पृष्ठभूमि पर टिका हुआ है। जिस प्रकार एक विशाल भवन के लिए मजबूत नीव की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार अणुव्रत-आन्दोलन का प्रासाद सत्य और अहिंसा के विशाल और मजबूत खम्भो पर टिका हुआ है।

हमारे सामने प्रश्न होगा—अणुव्रत-आन्दोलन हमारे लिए क्यो आवश्यक है, किसलिए आवश्यक है? समाधान होगा—यह आस्तिको को बचाने का कार्य कर रहा है, आस्तिको को उनकी आस्तिकता पर टिकाये रखनेवाला है और नास्तिको को आस्तिक बनाता है। पर खेद का विषय है कि आज केवल आस्तिकवाद की चर्चा चलती है, उसकी प्रशंसा के पुल बाधे जाते है, पर वास्तविक आस्तिकता वहाँ कहाँ है? क्या नीति और चरित्र पुस्तको मे बन्द रहते है, दुकानो और बाजारो में बिकने के लिए है। अगर हमें आस्तिकता को और आस्तिको को अच्छी तरह समझना है, उसके वास्तविक रूप का दर्शन करना है, तो धर्म, जो कि आज पुस्तको, मदिरो और मठो मे बन्द है, उसे अपने जीवन मे लाना होगा, अपने जीवन में उनका साक्षात्कार करना होगा। बिना जीवन में उतारे केवल आस्तिकवाद की दुहाई देने से क्या होनेवाला है। आज दम्भी, चोर, बेईमान, जुआरी सभी यही कहते है कि सत्य बहुत अच्छा है, उसे अपने जीवन में लाना चाहिए, उसके लिए प्रशसा के पुल बाँधते है और उन्हें असत्य से चिढ-सी है। पर उनके जीवन में सत्य ने छुआ तक नही है। बड़े दु ख का विषय है कि आज सत्य के साथ खिलवाड हो रहा है। आज आस्तिक लोग भी वास्तविक आस्तिकता से परे है। अणुव्रत-आन्दोलन का पहला पक्ष यही है कि वह वास्तविक आस्तिकता का दिग्दर्शन कराता है।

आप सबसे पहले आत्म-द्रष्टा बनें, आत्म-निरीक्षण का पाठ सीखे। अपने आपको देखने के लिए उपदेश की आवश्यकता नही है। दूसरे की हज़ार गलतियाँ भी चुभती हैं और अपने मे लाख गलतियाँ भी नही के बराबर लगती हैं। आज की यह सबसे बड़ी कमी है। अणुव्रत-आन्दोलन का दूसरा पक्ष है कि वह व्यक्ति को आत्म-द्रष्टा बनाता है।

अणुव्रत-आन्दोलन की चर्चाएँ बहुत चली, सब जगह इसका एक वातावरण बना, पर कही "दिये तले अँधेरा" यह उक्ति चरितार्थ न हो जाये। यह बहुत बड़ी निराशा की चीज़ है। आज इसे धन-जन की आवश्यकता नही है। इसे आवश्यकता है आत्मबल और पुरुषार्थ की, इसके पीछे अपने जीवन झोक देनेवाले कार्यकर्त्ता चाहिए। पर यह कमी अभी भी है। अब आपलोगो को अपने आस-पास मे ऐसा सुन्दर वातावरण बनाना चाहिए कि कम-से-कम प्रत्येक व्यक्ति आन्दोलन के उद्देश्यो, नियमो व कार्यों से अच्छी तरह परिचित हो जाये। एक बहुत बडा कार्य होगा। आपको अपने जीवन में इस कार्य को प्रमुख स्थान देना होगा। अपने कार्यों की सूची में इसे भी मान लेना होगा। अगर आप ऐसा करेंगे तो आप स्वय कार्यकर्त्ता बन जायेंगे।

आज यह कहनेवाले बहुत से लोग मिलेंगे कि आपने अपनी इस यात्रा में बहुत कठिन परिश्रम किया। २०-२० मील का लम्बा विहार किया। पर केवल इन बातो के कहने मात्र से कुछ नही होनेवाला है। अगर आपको मेरे प्रति सहानुभूति है तो, मेरी जिम्मेवारी में, मेरे कार्यों मे हाथ बटाये।

बहनो को भी यह समझना है कि केवल प्रशसा की झडी लगा देने से कुछ नही होनेवाला है। उससे हम खुश होनेवाले नही हैं। अगर आपको कुछ करना है तो अणुव्रत-आन्दोलन के इस पथ को यथाशक्ति अपनायें।

अब मैं दो बातें कार्यकर्त्ताओ से भी कहूँगा—आपलोग अब मनन, चिन्तन और विचार को छोड साधना में लगें। कही विचार व मनन करते-करते विचार-कुठित न बन जाये। कार्यकर्त्ता वही बन सकता है जो अपने दिमाग को कम और पुरुषार्थ को ज्यादा खर्च करता है।

आज अपनी भूमि उर्वर हो गयी है। अब तो उसमे बीज बोनेवालो की आवश्यकता है। अणुव्रत-आन्दोलन के प्रसार में ही सत्य और अहिंसा का प्रसार है।

मैं आपसे यह नही कहता कि कार्यकर्त्ता सब कुछ छोड़कर इस कार्य में लगें। क्योकि आखिर आप गृहस्थ है। पर, कुछ समय अवश्य दें।

दूसरी बात मैं अणुव्रती-कार्यकर्त्ताओ से यह कहूँगा कि वे केवल प्रवाह

अच्छे और कल्याणकारी हो सकते है, पर हमारे लिए खतरा भी पैदा कर सकते है।

लोग कह देते हैं कि साधुओ को बडे-बडे नेताओ से मिलने की क्या आवश्यकता है? बात सही है, साधुओ के लिए क्या नेता और क्या साधारण व्यक्ति? पर क्या उनके नेता होने से वार्तालाप भी नही करना चाहिए। उनसे विचार-विनिमय करने का हमारा प्रमुख लक्ष्य यही रहता है कि अगर कोई, देश का नेता, जिसके हाथ में लाखो और करोडो व्यक्तियो की वागडोर है, जिस पर उनकी श्रद्धा है, हमारी वात को अच्छी तरह समझ जाये तो अन्य व्यक्तियो को समझाने में सहूलियत रहती है।

(४) भिक्षु को सोना और चाँदी नही रखना चाहिए क्योकि सोना-चाँदी परिग्रह है और भिक्षु परिग्रह का परित्याग करता है।

(५) जो गार्हस्थ्य योगो को छोड़कर रहता हो, वह न तो शादी कर सकता है, न व्यापार, और न अन्य कोई सावद्य कार्य।

भिक्षु को इन वातो का पालन करना चाहिये।

वहुत से आज के बुद्धिजीवी यह कहते है, कि साधु समाज पर भार स्वरूप है, उन्हें खेती आदि कार्य करने चाहिए। मगर मै उनसे यह कहूँगा कि यदि सारे के सारे व्यक्ति खेती करने लग जायेगे तो क्या अन्य कार्य ठप्प नही हो जायेंगे? भौतिक वस्तुओ की अपेक्षा आज देश को अधिक आध्यात्मिकता व नैतिकता की आवश्यकता है।

सरदार शहर,
७ फरवरी, '५७

७ : मर्यादा-महोत्सव

मर्यादा-महोत्सव के प्रस्तुत अधिवेशन के यहाँ होने का मुख्य श्रेय श्रीमन्त्री मुनि को है, जिनके लिए हम सभी यहाँ आये है। मर्यादा-महोत्सव सघीय कार्यक्रमो एव प्रयासो का एक वहुत वडा प्रेरक सूत्र है। तेरापन्थ के आद्य मस्तक परमाराध्य आचार्यश्री भिक्षु के द्वारा शासन-व्यवस्था, आचरण-नियमन एव ऐक्य परम्परा को उद्दिष्ट कर प्रर्वतित मर्यादाओ का यह एक मूर्तिमान रूप है।

तेरापन्थ भगवान् महावीर के पश्चाद्वर्त्ती सघो में अन्तिम संघ है। इसके वाद कोई दूसरा सघीय सगठन नही बना। इसकी अपनी विशेषताएँ है, जो आध्यात्मिक जीवन को परिपोषण देने के साथ-साथ व्यापक और उदार रूप

में लोगो को उधर अग्रसर होने की प्रेरणाएँ देती हैं। एक समय था—धार्मिक जगत् में निराशा का एक धूमिल वातावरण छाया था। लोगो में बडी बेचैनी थी। अध्यात्म की भूख को परितृप्त करने का सही साधन उन्हे नही मिल रहा था। आचार्य भिक्षु ने उन्हे दिशा दी, भगवान् महावीर के आदर्श जिन्हें लोग भूलते जा रहे थे, शुद्ध रूप में लोगो के समक्ष रखा। उन्हें आध्यात्मिक खुराक दी। जनता को परित्राण मिला। धर्म-साधना के पथ पर आगे बढ़ने का एक सम्बल उन्होने पाया।

महापुरुषों का आविर्भाव कोई सम्प्रदाय या पथ को चलाने के लिए नही होता। वे लडखडाते जीवन को एक सहारा देते हैं। उसे जागृत होने और विकासोन्मुख होने को प्रेरित करते हैं। एक पवित्र दिशा-दर्शन देते हैं। लोगो के लिए वह एक पंथ बन जाता है। तेरापथ का नामकरण भी आचार्यश्री भिक्षु का किया हुआ नही है। यह तो लोगों ने तेरह की संख्या देखकर दिया। जिसका आचार्यश्री भिक्षु ने पर्यायान्तर से व्यापक अर्थ करते हुए प्रगट किया कि हे प्रभो! यह तेरा—यानी आपका पथ है। अतः वस्तुस्थिति तो यह थी—आचार्य भिक्षु स्वय पथसृष्टा नही बल्कि एक महान् पथिक थे, जो अध्यात्म के पावन पथ पर अडिग और निश्चल भाव से चलते रहे तथा औरो को भी एकाग्र मत से उस पर चलने की प्रेरणा देते रहे।

जैसा कि आरम्भ में मैंने कहा—उस समय धार्मिक शृङ्खलाएँ टूटती जा रही थी। आचार-शैथिल्य और विचार-वैशृङ्खल्य का सर्वत्र दौर दौरा था। धर्म जो सयम और अध्यात्म की अराधना मे है, तपस्या और शुद्ध दिनचर्या में है, उसका लोग व्यावहारिक आवश्यकता पूर्ति और स्वार्थ साधन के साथ अनुचित ग्रन्थि बधन कर रहे थे। यह श्रेयस्कर नही था। व्यावहारिक जीवन, सामाजिक परम्परा—इनका अपना स्थान है, धर्म का अपना। धर्म इनमे परिष्कार और परिमार्जन ला सकता है। इसलिए धर्म का उन पर प्रभाव और व्याप्ति अवश्य रहे परन्तु दोनो को एक नहीं किया जा सकता। दोनो में मौलिक भेद है। दोनो को एक करने से दोनो ही अस्त-व्यस्त हो उठते है। धार्मिक जगत् में यह विषम परम्परा पनपी क्यो? इसपर भी हमें सोचना है। एक समय था—सामाजिक शृङ्खलाएँ टूटने लगी, सामाजिक स्तर और व्यवस्था छिन्न-भिन्न होने लगी। सामाजिक परम्पराओ को लोग भुलाने लगे। तब लोगो ने दूसरा उपाय न सोच अध्यात्म के साथ इनका अनुचित गठबंधन कर दिया। सामाजिक उत्तरदायित्व और कर्त्तव्य के साथ उन्होने धर्म का प्रलोभन जोड़ दिया। यह उचित नही हुआ। वहाँ दृष्टि-वैपरीत्य था। वस्तु-तत्त्व को यथावत् रखने के बदले सामयिक व्यवस्था

पूर्ति के लिए उठाया गया यह कदम आगे चलकर कितना विपरीत अर्थकारी सिद्ध हुआ, वह पहले बताई गई बातो से स्पष्ट है। आचार्यश्री भिक्षु ने अध्यात्म और व्यवहार, धार्मिक और लौकिक दोनो प्रकार के कार्यों का भेद स्पष्ट किया। उन्होने अध्यात्म को अध्यात्म और व्यवहार को व्यवहार समझने की सूझ दी। धर्म का त्याग-तपस्या तथा संयम-साधना मूलक मार्ग लोगों को बताया। क्योकि तथाकथित रूढिपरक धर्म पर उन्होने कठोर प्रहार किया, इसलिए उस तरफ के लोगो की कटु आलोचना और घोर विरोध का भी शिकार उन्हें होना पडा। पर साधना-पथ पर जिन्होने अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया था, वे महामनस्वी साधक इन विघ्न-बाधाओ से क्यो घबराते ? वे अपार मनोबल और आत्म-निष्ठा अपनाए अपने पथ पर आगे बढते रहे, अध्यात्म-पथ को अधिकाधिक विद्योतित करते रहे।

उनका यह कदम नि सन्देह बडा साहसपूर्ण था, जिसने धार्मिक जगत् मे एक उथल-पुथल और क्रान्ति मचा दी। इस पर विरोध करनेवालो ने उनपर—"वे दया के उत्थापक हैं, दान के विरोधी है, देने वालो को निषेध करते हैं," आदि-आदि भ्रान्त आक्षेप लगाये। पर आचार्य भिक्षु इन आक्षेपो और आरोपो से कब घबरानेवाले थे ? उन्होने उनका यथावत् समाधान किया। धार्मिक जीवन और सामाजिक जीवन की पृथकता स्पष्ट करते हुए दोनो के अपने-अपने दायरो के कार्यलापो का विवेचन किया। उन्होने बताया—व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है, वह स्वय भी समाज से, समाज के व्यक्तियो से परोक्ष-अपरोक्ष रूप मे बहुत कुछ लेता है, तब वह अपने सासारिक कर्त्तव्य के नाते उनके (समाज के व्यक्तियो के) लिए कुछ करता है तो उसे वह धर्म के साथ क्यो जोडता है ?

स्वामीजी ने जो तत्त्व प्रगट किया, आज के बौद्धिक जगत् में वह स्वय प्रसार पाता जा रहा है। जैसा कि पडित नेहरू ने किसी प्रसग पर कहा था कि सामाजिक कार्यों के लिए यह सेवा शब्द कहाँ से चल पड़ा। इसमें दभ है, अहं है, सेवा काहे की। इसे तो पारस्परिक सहयोग कहना चाहिए।

फिर स्वामीजी ने संघ-संगठन पर ध्यान दिया। सघ में पद-लोलुपता, यश-लोलुपता, अनुशासनहीनता न आये, इसके लिए उन्होने मर्यादाएँ कायम की। एक मर्यादा-लेख-पत्र लिखा।

सघ के चतुर्थ अधिनायक प्रात स्मरणीय श्री जयाचार्य ने इन मर्यादाओ को लेते हुए मर्यादा-महोत्सव का परिचालन किया जो प्रति वर्ष एक नई प्रेरणा, नया उल्लास और नया ओज लिए माघ शुक्ला सप्तमी को आता है।

तेरापथ का यह वह महत्त्वपूर्ण सास्कृतिक एव आध्यात्मिक पर्व है, जो संघीय जीवन मे अनुशासन. आचार एवं सद्व्यवस्था का समुचित सचार

करने में अपना अद्भुत स्थान रखता है। सघ के साधु-साध्वीगण अपने विगत कार्यों का व्यौरा प्रस्तुत कर, सघपति से अभिनव प्रेरणा एवं स्फुरणा पाकर, अपने भावी अभियान के लिए एक सम्बल जुटाते है। साधु-जीवन अध्यात्म-साधना का प्रतीक है, जहाँ अनुशासन, शुद्ध आचरण और पारस्परिक साम्य की बहुत बडी महत्ता है। यदि साधु जीवन इनसे रहित है तो वह निस्तेज और नि सार है।

ये वे मर्यादाएँ है, जो साधु-जीवन को अधिकाधिक अनुशासित, आचार-परायण तथा सुव्यवस्थित बनाये रखने में बड़ी सफल सिद्ध हुई है तथा होती रहेंगी। सघ और सघपति के प्रति सर्वात्म भाव से आत्म-समर्पण कर अपने जीवन को सघीय जीवन में एकाकार बना साधना-पथ पर आगे बढने का यह सफल प्रेरणा-स्रोत है। दलबदी, जिलाबदी, अलग-अलग शिष्य-परम्परा आदि सघीय विश्रृङ्खलतापरक प्रवृत्तियो का निरोध करते हुए समता और संगठन की स्फूर्तिशील भावना देने में ये मर्यादाएँ अप्रतिभ हैं। इनका अनुसरण करता हुआ हमारा सघ लगभग दो शताब्दियो से अत्यन्त सफल शुद्ध और सात्त्विक जीवन के लिए विकास और प्रगति करता आ रहा है। सघ के समस्त साधु-साध्वियो में समाचारी-पम्परा का ऐक्य, आचार का ऐक्य, वेशभूषा की समानता, कार्यक्रम की समानता, एक आचार्य का नेतृत्व—ये वे आदर्श है, जिन्हे मूर्त्त रूप देने में इन मर्यादाओ का महत्त्वपूर्ण हाथ है। मर्यादाओ की उपयोगिता को लेते हुए मै सब लोगो से कहना चाहूँगा—वे अपने जीवन को जहाँ तक बन सके, सयम और अनुशासन की मर्यादाओ मे बाँधें। यह बन्धन उनके जीवन के लिए बन्धन नही, उन्मुक्ति और विकास का हेतु सिद्ध होगा।

मर्यादा-महोत्सव वस्तुत एक नयी ताजगी और स्फूर्ति का स्रोत है। बहुत प्रकार के महोत्सव समारोह आप लोगो ने देखे-सुने होगे। पर इसकी अपनी विशेषताएँ है। आज संसार में मर्यादाहीनता का बोलबाला है। समय एव अनुशासनमूलक श्रृङ्खलाएँ टूटती जा रही है। फलत. जीवन विश्रृङ्खल और अव्यवस्थित बना जा रहा है। ऐसे समय में यह अनिवार्य रूप से अपेक्षित है कि जीवन मे मर्यादाओ का पुन. संस्थापन हो, ताकि वह आत्मानुशासन के धागे में बँध कर सही माने मे विकास-पथ पर अग्रसर हो सके। मर्यादा-महोत्सव इस ओर बहुत बडी प्रेरणा देता है। मर्यादित और अनुशासित जीवन लिए चलने की भावना रखनेवालो के लिए यह बहुत बडा सम्बल है। मैं बहुत बार सोचा करता हूँ तो लगता है कि यह हमारे बुजुर्गों की बहुत बड़ी देन है, जो हमारे सयत जीवन को आगे बढाने मे बड़ी स्फुरणा-प्रेरणा देती है।

इन अवसरो पर आगन्तुक विचारक भी निकटता से इन आध्यात्मिक परम्पराओ का अवलोकन करते हुए विचारो द्वारा सहयोग लेते व देते रहते हैं। आनेवालो को लेकर अनेक भ्रान्त बातें फैलायी जाती है। इसका निराकरण तो आनेवाले ही कर सकते है। हम क्या कहें। हम कभी नही चाहते कि हमारे प्रत्यक्ष और परोक्ष में वे प्रशसा की बाते करें। प्रशसा की भूख झूठी भूख है। हम चाहते हैं, सामने भी और बाहर भी सर्वत्र यथार्थवाद बरता जाये। यदि कुछ आलोचनीय लगे तो उसकी आलोचना भी सामने आनी चाहिए। उन्हें जो-जो वास्तव में काम की चीज लगे उसे वे हवा बनकर फैलाएँ। मेरा तो आगन्तुक भाइयो से यही कहना है कि वे वस्तु-स्थिति का विवेचन करें, जो वास्तविकता उन्हे दीखे, उसे ही वे आगे रखें।

सरदार शहर,

८ : समन्वय का मूल

झगडे का मूल 'मैं' "मैं जो कहता हूँ वही सत्य है और ससार जो कहता है वह झूठ" आज यही सबसे वडा झगडा है। "मैं अच्छा शेष बुरे" यह धारणा ही गलत है। जो लोग किसी एक पक्ष को लेकर लडते हैं, झगडते हैं, वहाँ वे क्यो भूल जाते हैं कि इसका कोई दूसरा पक्ष, दृष्टि-कोण भी हो सकता है। हर वस्तु के दो पक्ष होते हैं। नदी के दो किनारे होते हैं। एक जहाँ से वह निकलती है और दूसरा जहाँ समुद्र में मिलती है। एक किनारा पा लेने पर दूसरा किनारा है ही नही, ऐसा कहना कितनी बडी भूल है। एक रस्सी का एक छोर एक आदमी पकडता है और दूसरा छोर दूसरा आदमी। दोनो ओर से अब लगे खीचने। क्या हुआ? रस्सी टूटी, दोनो गिरे। एक खीचता है, दूसरा अगर छोड दे तो कौन गिरेगा? छोडनेवाला तो नही। पर ये बातें कह देना सहज है, पर करना बहुत मुश्किल है। जिद् आने के बाद कौन छोड़ने को तैयार होता है?

हाथी के पैर, पूंछ, कान, दांत आदि को ही हाथी मान बैठना और फिर आपस मे लडना कि मैं जो कहता हूँ वह ठीक है, अनुचित है। यह एकाकी दृष्टि है। मैं करता हूँ या कहता हूँ, इसलिये सत्य है या

करने में अपना अद्भुत स्थान रखता है। संघ के साधु-साध्वीगण अपने विगत कार्यों का व्यौरा प्रस्तुत कर, सघपति से अभिनव प्रेरणा एवं स्फुरणा पाकर, अपने भावी अभियान के लिए एक सम्बल जुटाते हैं। साधु-जीवन अध्यात्म-साधना का प्रतीक है, जहाँ अनुशासन, शुद्ध आचरण और पारस्परिक साम्य की वहुत बडी महत्ता है। यदि साधु जीवन इनसे रहित है तो वह निस्तेज और नि सार है।

ये वे मर्यादाएँ हैं, जो साधु-जीवन को अधिकाधिक अनुशासित, आचार-परायण तथा सुव्यवस्थित बनाये रखने में बडी सफल सिद्ध हुई है तथा होती रहेंगी। सघ और संघपति के प्रति सर्वात्म भाव से आत्म-समर्पण कर अपने जीवन को सघीय जीवन में एकाकार बना साधना-पथ पर आगे बढने का यह सफल प्रेरणा-स्रोत है। दलबदी, जिलाबदी, अलग-अलग शिष्य-परम्परा आदि सघीय विश्रृङ्खलतापरक प्रवृत्तियों का निरोध करते हुए समता और सगठन की स्फूर्तिशील भावना देने में ये मर्यादाएँ अप्रतिभ हैं। इनका अनुसरण करता हुआ हमारा सघ लगभग दो शताब्दियो से अत्यन्त सफल शुद्ध और सात्त्विक जीवन के लिए विकास और प्रगति करता आ रहा है। सघ के समस्त साधु-साध्वियों में समाचारी-पम्परा का ऐक्य, आचार का ऐक्य, वेशभूषा की समानता, कार्यक्रम की समानता, एक आचार्य का नेतृत्व—ये वे आदर्श है, जिन्हे मूर्त्त रूप देने मे इन मर्यादाओ का महत्त्वपूर्ण हाथ है। मर्यादाओ की उपयोगिता को लेते हुए मै सब लोगों से कहना चाहूँगा—वे अपने जीवन को जहाँ तक बन सकें, सयम और अनुशासन की मर्यादाओ में बाँधे। यह वन्धन उनके जीवन के लिए बन्धन नही, उन्मुक्ति और विकास का हेतु सिद्ध होगा।

मर्यादा-महोत्सव वस्तुत' एक नयी ताजगी और स्फूर्ति का स्रोत है। वहुत प्रकार के महोत्सव समारोह आप लोगो ने देखे-सुने होगे। पर इसकी अपनी विशेषताएँ हैं। आज संसार मे मर्यादाहीनता का वोलवाला है। समय एवं अनुशासनमूलक शृङ्खलाएँ टूटती जा रही हैं। फलत. जीवन विश्रृङ्खल और अव्यवस्थित बना जा रहा है। ऐसे समय में यह अनिवार्य रूप से अपेक्षित है कि जीवन में मर्यादाओ का पुन. संस्थापन हो, ताकि वह आत्मानुशासन के धागे में बँध कर सही माने में विकास-पथ पर अग्रसर हो सके। मर्यादा-महोत्सव इस ओर वहुत बडी प्रेरणा देता है। मर्यादित और अनुशासित जीवन लिए चलने की भावना रखनेवालो के लिए यह वहुत बडा सम्बल है। मैं वहुत बार सोचा करता हूँ तो लगता है कि यह हमारे वुजुर्गों की वहुत बडी देन है, जो हमारे सयत जीवन को आगे वढाने में बडी स्फुरणा-प्रेरणा देती है।

इन अवसरो पर आगन्तुक विचारक भी निकटता से इन आध्यात्मिक परम्पराओ का अवलोकन करते हुए विचारो द्वारा सहयोग लेते व देते रहते हैं। आनेवालो को लेकर अनेक भ्रान्त बातें फैलायी जाती हैं। इसका निराकरण तो आनेवाले ही कर सकते हैं। हम क्या कहे। हम कभी नही चाहते कि हमारे प्रत्यक्ष और परोक्ष मे वे प्रशसा की बातें करें। प्रशसा की भूख झूठी भूख है। हम चाहते हैं, सामने भी और बाहर भी सर्वत्र यथार्थवाद बरता जाये। यदि कुछ आलोचनीय लगे तो उसकी आलोचना भी सामने आनी चाहिए। उन्हें जो-जो वास्तव मे काम की चीज लगे उसे वे हवा बनकर फैलाएँ। मेरा तो आगन्तुक भाइयो से यही कहना है कि वे वस्तु-स्थिति का विवेचन करें, जो वास्तविकता उन्हें दीखे, उसे ही वे आगे रखें।

सरदार शहर,

८ : समन्वय का मूल

झगडे का मूल 'मैं'. "मैं जो कहता हूँ वही सत्य है और संसार जो कहता है वह झूठ" आज यही सबसे बडा झगडा है। "मैं अच्छा शेष बुरे" यह धारणा ही गलत है। जो लोग किसी एक पक्ष को लेकर लडते हैं, झगडते हैं, वहाँ वे क्यो भूल जाते हैं कि इसका कोई दूसरा पक्ष, दृष्टि-कोण भी हो सकता है। हर वस्तु के दो पक्ष होते हैं। नदी के दो किनारे होते हैं। एक जहाँ से वह निकलती है और दूसरा जहाँ समुद्र मे मिलती है। एक किनारा पा लेने पर दूसरा किनारा है ही नही, ऐसा कहना कितनी बडी भूल है। एक रस्सी का एक छोर एक आदमी पकडता है और दूसरा छोर दूसरा आदमी। दोनो ओर से अब लगे खीचने। क्या हुआ? रस्सी टूटी, दोनो गिरे। एक खीचता है, दूसरा अगर छोड दे तो कौन गिरेगा? छोडनेवाला तो नही। पर ये बातें कह देना सहज है, पर करना बहुत मुश्किल है। जिद्द आने के बाद कौन छोड़ने को तैयार होता है?

हाथी के पैर, पूंछ, कान, दाँत आदि को ही हाथी मान बैठना और फिर आपस में लडना कि मैं जो कहता हूँ वह ठीक है, अनुचित है। यह एकाकी दृष्टि है। मैं करता हूँ या कहता हूँ, इसलिये सत्य है या

वही सत्य है, यह कहना कितनी बड़ी मूर्खता है। आप ऐसा करनेवाले को अच्छा आदमी नही कहेंगे पर जब अपना काम पडता है तब मेरा मन्तव्य ही ठीक है, मेरा धर्म ही ठीक है, यह कहाँ का न्याय? एक वात को पकड कर लडना क्या धार्मिको को शोभा देता है?

सापेक्ष सत्य का रहस्य—सापेक्षवाद यह कहता है कि समन्वय करो, अपेक्षा को सोचो, कहने का अर्थ समझो, झगडो मत।

विद्वानो ने कहा—"सापेक्ष सत्य" यह कैसे? मैं बताऊँ—एक मनुष्य से पूछा जाय—ठडक है या गर्मी? वह कहेगा ठडक। गलत, क्योकि राजस्थान की अपेक्षा या शिमला, नैनीताल की अपेक्षा यह सर्दी कुछ नही है, वहाँ तो पानी जम जाता है। तो क्या गर्मी है? नही। ज्येष्ठ और आषाढ महीने को देखते गर्मी भी नही है। हाँ तो वहाँ सर्दी भी है और गर्मी भी। किसी दृष्टि से सर्दी नही है और किसी दृष्टि से गर्मी नही है। अधिक गर्मी की अपेक्षा सर्दी है और अधिक सर्दी की अपेक्षा गर्मी। पर जहाँ एकान्तिकता है, वहाँ झगडा है, द्वेष है, कलह है, चिनगारियाँ हैं। वह कहेगा, नही यह तो सर्दी ही है या यह गर्मी ही हैं। सम्प्रदायवादी इसी बात को लेकर झगड़ते हैं।

समन्वय का मूल 'ही' नहीं 'भी' है—समन्वय एक मेल-जोल वाला तत्व है। वह सबको एक बनाता है, मिलाता है। समन्वयवादी कहेगा—एक दृष्टि से तुम कहते हो, वह भी सही है। पर ऐसा मत कहो कि इससे आगे सत्य है ही नही।

समन्वय कहता है—एक वस्तु है भी नही भी। 'भी और 'ही' मे इतना अन्तर है कि जहाँ 'भी' है वहाँ ढील होती है और जहाँ 'ही' है वहाँ तनाव पैदा होता है, झगडे पैदा होते हैं। एव द्रव्य की अपेक्षा से वह है लेकिन पर द्रव्य की अपेक्षा से नही भी। जैसे एक घडा है। घड़ा है मिट्टी का, पर सोने का तो नही न? घडा सर्दी का बना हुआ है पर गर्मी का तो नही न? यही 'भी' और 'ही' में विभेद है। अपेक्षावाद का कहना है कि तोडो मत। कैंची नही, सूई बनो। कैंची जहाँ काटने का काम करती है वहाँ सूई जोडने का। कहनेवाले का आशय समझो। उसकी दृष्टि से (अपेक्षा से, विविक्षा से) वह ठीक है।

धर्म में यह भेद-रेखा क्यों?—आश्चर्य तो इस बात का है कि जब बड़ी बड़ी राजनीति के विरोधी से विरोधी विचार एक हो सकते है, चूहे और बिल्ली एक घाट पर पानी पी सकते है, रूस और अमेरिका जैसे विरोधी देश एक जगह मिलकर बात कर सकते है, समस्याओ का समाधान कर सकते हैं, विचार-विनिमय कर सकते हैं, वहाँ एक ही तत्व लेकर चलने

वाले, एक ही सिद्धान्त को माननेवाले, एक ही आराध्य को माननेवाले धार्मिक व्यक्ति इतनी दूर, उनमें इतना खिचाव, इतनी भेद-रेखा ! जिनका आपस मे मिलना तो दूर, आँखे तक नही मिलती।

ओ एकान्तवादी भाइयो ! जरा गहराई से सोचो, समझो। एक वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी। किसी अपेक्षा से एक वस्तु नित्य है और किसी अपेक्षा से अनित्य। एक वस्तु द्रव्य की दृष्टि से नित्य है और परिवर्तन की दृष्टि से अनित्य। इसीलिये तो अनेकान्तवाद के विशेपज्ञो ने कहा —"अनन्त धर्मात्मक मेव वस्तु।"

समन्वय का व्यावहारिक रूप—समन्वयवाद केवल बुद्धिगम्य नही, व्यावहारिक भी है। आप जीवन के प्रत्येक पहलू मे देखिये—खिचाव ही खिचाव, विरोध ही विरोध, झगड़े ही झगडे।

हाथ मे पाँच अँगुलियाँ होती है। कोई कह दे कि यह छोटी है या यह बडी है। यह कहना गलत होगा। कोई किसी की अपेक्षा से छोटी भी है तो किसी की अपेक्षा से बड़ी भी। एक पिता, पिता भी है और पुत्र भी। वह अपने पुत्र का पिता है और अपने पिता का पुत्र। इसी प्रकार एक गुरु, गुरु भी है और शिष्य भी। अगर कोई कहे कि मै तो गुरु ही हूँ या पिता ही हूँ तो यह कहना सर्वथा गलत होगा। हरएक वस्तु मे कई दृष्टियाँ लगती है। बात एक होती है, कहने के प्रकार अनेक है।

हरएक वस्तु को हम दोनो ओर से देख सकते है। क्योकि हर वस्तु में अनन्त स्वभाव है। बस इसी का नाम अनेकान्त है। अस्तु। एक वस्तु को दोनो तरफ से देखिए, दोनो पलडो पर तोलिए। आप अपने विरोधियो में भी बहुत सी बातो की समानता पा सकते है।

जैन-धर्म स्याद्वादी है। वह कहता है—सबका समन्वय करो, सबको समझो, उदार बनो, विशाल बनो—छोटे-छोटे मतभेदो को लेकर लडो मत, सहिष्णु बनो।

एक रचनात्मक रूप.—अणुव्रत-आन्दोलन इसी बात का एक रचनात्मक रूप है। वह स्याद्वाद व समन्वय को क्रियात्मक रूप से जीवन मे लाता है। वह कहता है—मानव-मानव भाई है। मनुष्य को अस्पृश्य मत मानो। उसके आचरण बुरे हो सकते है पर वह तो नही। घृणा करो बुराई से, बुरो से नही, पाप से बचो, पापी से नही। पारा बनो, चुम्बक बनो, सबको मिलाते चलो और अपनी ओर खीचते चलो।

इसी का नाम स्याद्वाद है, समन्वयवाद है, अनेकान्तवाद है और इसीका नाम अणुव्रत है।

६ : राष्ट्र की जड़

राष्ट्र की जड़ विद्यार्थी —पानी जड़ को सींचता है न कि फूल और पत्तो को। जड मे सीचा गया पानी फूलो और पत्तों तक अपने आप पहुँच जाता है। अस्तु।

विद्यार्थीगण ही राष्ट्र की जड हैं। अगर बाल-जीवन सच्चा, अच्छा, सुन्दर और धार्मिक हुआ तो राष्ट्र अपने आप ऊँचा, सच्चा और समृद्ध होगा।

आज के ये बालक ही देश के भावी जन-नेता, समाज-नेता, देश-नेता और राष्ट्र-नेता होगे। कौन जाने किसके भाग्य में क्या है, भविष्य के अन्तराल में न जाने क्या छिपा है? पानी का प्रवाह और बच्चो का भविष्य बताया नही जा सकता। हमारा काम होना चाहिए कि हम नस्ल को सुधारे, ठीक बनाये, बच्चो मे सस्कार भरे। अगर नस्ल ठीक हुई, बीज उत्तम हुआ, होनहार हुआ तो आगे चलकर वह वृक्ष लहराता वृक्ष बनेगा। उसकी छाया मे बैठनेवाले भी आनन्दित होगे। आज जो बच्चा दीखता है, वही कल का नेता है, अभिभावक है, अध्यापक है और संरक्षक है। अगर विद्यार्थी सस्कारी हुआ, विनम्र हुआ, सदाचारी और विशुद्ध-जीवी हुआ, तो राष्ट्र का भविष्य उज्ज्वल है। इसमें कोई सन्देह की गुञ्जाइश नही।

विद्यार्थियो! तुम देश के नैतिक-जागरण में, जीवन-सुधार में योगदान दो। आज देश के बडे-बड़े नेताओ की नजर तुम्हारे ऊपर है, उन्हे तुमसे बहुत सी आशाएँ हैं। वे तुम्हारी ओर देखते हैं, तुम्हें चाहते हैं। तुम उन्हे क्या सहयोग करोगे?

उत्थान और पतन जीवन से —मत सोचो कि बच्चा गरीब घर का है या धनी घर का। उत्थान अमीरी और गरीबी से नहीं, वह तो जीवन के व्यवहार से सम्बन्ध रखता है।

छोटे का प्रभाव —याद करो, आज तक के प्राय. जितने भी महापुरुष हुए है, वे छोटे से गाँव, छोटे से घर, छोटे से समाज में हुए हैं। प्रवाह छोटे रूप में शुरू होता है, आगे बढता है औरो को भी अपने साथ मिलाता जाता है और आगे चलकर विशाल नदी का रूप ले लेता है। इतना ही नही, वह अनेक छोटे-मोटे गाँव, शहर व खेतो को सीचता हुआ समुद्र में जा मिलता है। देखा आपने छोटे का प्रभाव?

हमें बच्चे की वेश-भूषा या फटे-चिटे कपडो को नही देखना है। हमें

तो देखना है कि उसका जीवन कैसा है। वह कितना सदाचारी है, वह कितना ईमानदार है।

शिक्षा जीवन है :—अक्सर लोग कह दिया करते है कि बच्चा पाठशाला में जाकर पढता है, पर यह धारणा ठीक नही। पाठशाला में बच्चा अक्षर-ज्ञान अवश्य सीखता है। पुस्तको में अक्षर-ज्ञान है पर शिक्षा नही। शिक्षा तो जीवन से मिलती है।

पहले स्वयं को सुधारें :—प्रत्येक बालक का स्वभाव अनुकरण-प्रधान होता है—दूसरो को जैसा वह करते देखता है, स्वय भी वैसा ही करने लगता है। अनुकरण एक खास वस्तु है। हम उसे मिटा दे, यह सम्भव नही। पर अच्छा हो, जिनका अनुकरण किया जाता है, हम उन्हे सुधारे। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है।

अध्यापको! अभिभावको! अगर आप बच्चो को सुधारना चाहते है, तो सबसे पहले अपने आपको सुधारो।

विद्यार्थी के जीवन-सुधार के लिए चार बाते आवश्यक है :

१—विनय—नम्रता, अनुशासनप्रियता।

२—सत्य-निष्ठा।

३—व्यसन-त्याग।

४—धर्म से प्रेम।

भारतीय संस्कृति का अधार : विनय—विद्यार्थी जितना नम्र होगा, उतना ही उसका जीवन बनेगा। विनयपूर्वक ली गई विद्या पनपेगी और फूलेगी। भक्ति और आदरपूर्वक ग्रहण की जानेवाली शिक्षा जल्दी असर दिखायेगी।

भारतीय सस्कृति के आधार पर तो विनय ही जीवन है। विनय में मौलिक धर्म है। पर विनय को हम गुलामी नही कह सकते। विनय और गुलामी में तो बहुत बडा अन्तर है। गुलामी लालच, स्वार्थ व आकाक्षा से की जानेवाली खुशामद है और विनय इससे सर्वथा विपरीत।

विनीत विद्या प्राप्त कर सकता है, अविनीत नही। जैसे नम्र या पोली जमीन पर बरसात का 'तप' (सील-सरसता) बैठता है और आगे चलकर उससे अनाज पकता है। लेकिन पथरीली जमीन पर बरसात काम नही करती। विनीत—नम्र जीवन में विद्या बरसात की तरह घुल जाती है। सजलता और सरसता रखती है। वहाँ बोया बीज मीठे-मीठे फल देता है। वह बढता है, फलता-फूलता है और सत् साक्षी होता है।

सत्य सब रोगों की एक दवा :—सत्यनिष्ठ होने का अर्थ है—विद्यार्थी सत्यमय बन जाये। असत्य उसके पास ही न रहे। वह झूठ न सोचे,

न विचारे, न लिखे, न बोले और न झूठे की सगति मे ही रहे। अक्सर बच्चे का जीवन सत्य का जीवन है। वह झूठ कब बोलता है जबकि वह समझने लगता है। छोटा बच्चा जो कुछ कर आयेगा वह उसे फिर भले ही वह कार्य अच्छा हो या बुरा, साफ-साफ यथावत् कहेगा। कुछ बडा हुआ, समझदारी आयी, तब वह कुछ बतायेगा, कुछ छिपायेगा, कुछ अतिशयोक्ति भी करेगा और कभी आँखो मे धूल झोकने का प्रयत्न भी। एक झूठ को छिपाने के लिए न जाने वह कितने हजार झूठ बोलेगा पर सत्य सब रोगो की एक दवा है। अगर पास में सत्य है तो हजार बुराइयाँ छूट सकती हैं।

पशु से आदमी—एक पिता अपने बच्चे की बुराई, शैतानी व हरकतो से हैरान था। खूब समझाया। पर बातो से नही समझा, लात, थप्पडो और डडो से भी नही समझा। हारकर एक दिन उसे गुरु के पास लाया और बोला—"गुरुदेव! इसे समझाओ, शिक्षा दो, सुधारो। दुनियाँ भर की सब बुराइयाँ इसमें हैं। मै तो तबाह हो गया, गले तक आ गया।" साधु ने बच्चे से एकान्त में बात की। वे जानते थे कि सुधारने का सही तरीका डडे से नही—आँख से, शिक्षा से नही जीवन से है।

उन्होने पूछा—"क्यो बच्चे! सच बताओ, बीडी पीते हो?" बच्चा शर्म से झुक गया। बोला—"हाँ जी।" "शराब?" "हाँ जी", "मिट्टी?" "हाँ जी! गुरुदेव सब कुछ करता हूँ। दुनियाँ की सारी बुरी आदतें मुझमें हैं।" मुनिजी बोले—"ये सब चीजे जीवन के लिए खराब है, इन्हें छोड दो, त्याग दो।"

बच्चे ने कहा—"गुरुदेव! सब चीजे छूट नही सकती। मगर आप कहते हैं इसलिए एक चीज छोड दूंगा। जो मरजी हो फरमा दें। मै जीवन भर नियमपूर्वक उसे निभाऊँगा।" मुनिजी ने जड़ पकड ली। पत्ते, फूल और शाखाओ की अपेक्षा मूल को पकडना चाहिए। जड पकडी गयी कि सब कुछ पकड़ा गया। मुनिजी ने कहा—"अच्छा एक व्रत लो झूठ नही बोलना।"

बाप आया। उसने सोचा था शायद बच्चे ने सब कुछ छोड दिया होगा। प्रश्न किया—"क्यो बेटे, बीड़ी छोड़ दी?" "नही।" "शराब छोडी?" "नही।" "मास छोडा?" "नही।" गुरुदेव! यह क्या किया? कुछ भी नही छुडाया। सन्त ने कहा—"चिन्ता मत करो। जड पकड़ ली गयी है।"

पहली रात को लड़का देर से आया। बाप ने पूछा—"क्यो बेटे, कहाँ गये थे?" लडके ने सोचा—गाँव के बीसो अच्छे-अच्छे आदमी बैठे है, इनके बीच मे सत्य कहूँ, कैसे कहूँ? झूठ बोलूं? कैसे बोलूं? "पिता जी मत पूछो।" "नही, बताओ कहाँ गये थे?" धीमे से बोला—"शराब..."

पास बैठे गाँव के मोजीज मातवर लोग बोले—आपका लडका और शराब? उसे शरम लगी। वह तो जिन्दा ही मर गया। अरे मेरी बात लोगो ने जान ली? अब नही पीऊँगा। तीन तिलाक। छूट गयी शराब जीवन भर के लिए।

दूसरे दिन जाने लगा। घर की चाबी हाथ लग गयी थी। बाप ने पूछा—"कहाँ जाते हो?" क्या बताये? बताना पड़ा। "जुआ खेलने।" वह भी छूटा। धीरे-धीरे एक-एक कर सारे दोष छूट गये। वह इन्सान बन गया, पवित्र बन गया, पशु से आदमी बन गया।

पापी को भय है—दुर्व्यसनो से बचो, जीवन मनस्तुष्ट रहेगा, सुखी रहेगा। भय पापी को है, धर्मी को नही।

सुधार की शुरुआत अपने आप से करो—अध्यापको! अभिभावको! अगर बच्चो को सुधारना चाहते हैं तो पहले स्वय सुधरें। सुधार का कार्य औरो से नही अपने से शुरू करे। शिक्षा पुस्तको और मुँह की नही, जीवन की हो। सक्रिय-शिक्षा ही वास्तविक शिक्षा है।

अध्यापक स्टेज पर आकर कहे—मेरे प्यारे विद्यार्थियो! तुम सिगरेट मत पिओ। इससे ऐसा होता है, वैसा होता है। और आप स्वयं स्कूल से बाहर निकले और सिगरेट पीने लगे। क्या असर होगा? विद्यार्थी आपकी बातो की ओर देखेंगे क्या? वे तो आपके व्यवहार को देखेंगे। वे समझेगे कि कहने की बात और होती है करने की कुछ और। पौधे के बैंगन और, और खाने के बैंगन कुछ और।

माँ-बाप चाहते हैं कि बच्चा सत्य बोले। अगर बच्चो से सत्य बोलने की आशा करते हैं तो स्वय झूठ को त्यागे, जीवन में सत्य को उतारें।

सुख का मार्ग : अणुव्रत—विद्यार्थियो! अध्यापको! अभिभावको! अगर आप सुख की इच्छा रखते हैं, आनन्द का अनुभव करना चाहते हैं, अगर अपने परिवार को सुखी बनाना है तो जीवन को अणुव्रत मे ढालो उसे अणुव्रती बनो। अणुव्रती बनने के माने हैं—हिंसा, झूठ, चोरी, बेईमानी, तम्बाकू, आडम्बर, शोषण, दुराचार और फरेबो से बचो। जीवन को हल्का बनाओ, सत्य पर टिकाओ।

अन्त में मैं विद्यार्थियो से आह्वान करूँगा, क्या कोई ऐसा भी वीर विद्यार्थी है, जो आज इस बात का नमूना बने, आदर्श बने? कम से कम सप्ताह या पक्ष भर के लिए असत्य न बोलने का प्रण करे।

१० : सच्चा मार्गदर्शक

जो सात्विक, सयत, उज्ज्वल और सरल जीवन चाहते है, अणुव्रत-आन्दोलन उनके लिए एक पथ-दर्शक है। अनैतिकता और अनाचरण के झझावात से डगमगाते लोक-जीवन के लिए यह वह आधार है, जो उसे नैतिकता और सच्चरित्रता पर टिकाए रखने की एक अभिनव प्रेरणा देता है। सयम, नियमन और साधनापूर्ण जीवन के लिए दृढ सकल्प की बहुत बडी आवश्यकता है। दृढ सकल्प आदर्शो से नीचे सरकते जीवन को सहारा देता है, उसमे अभिनव बल का सचार करता है। दृढ सकल्प का ही दूसरा नाम अणुव्रत है। अणुव्रत-आन्दोलन मानव को दृढ-सकल्पी बना उसे सयत और सुनियमित जीवन-चर्या अपनाने का मार्ग देता है।

इस आन्दोलन को मै मानव-जीवन के लिए एक बहुत बडा रचनात्मक कार्य मानता हूँ, जो सच्चरित्रता और सच्चाई के आधार पर जीवन का नवसृजन करता है।

सरदारशहर,
४ मार्च, ५७

११ : मूल्यांकन

आज के मानव मे सबसे बडी कमी यह होती जा रही है कि जीवन का मूल्याकन जहाँ चारित्रिक-उच्चता में सयत जीवनचर्या पर होना चाहिए, वहाँ वह उनके बदले बाहरी वैभव, सत्ता और अधिकारो की कसौटी पर जीवन को आँकता है। यह दृष्टि-वैपरीत्य है। इस दृष्टि से जहाँ जीवन का अँकन होने लगे, वहाँ शुद्ध, सात्विक और आदर्श जीवन की कल्पना ही कहाँ? मै बार-बार कहा करता हूँ कि सबसे पहले मनुष्य अपनी दृष्टि को माँजे, यथार्थ-दर्शन की प्रवृत्ति उसमें आये, ताकि वह अपने लिए सही रास्ता पा सके, उस पर आगे बढकर जीवन को सच्चे विकास और प्रगति की ओर ले जा सके। अणुव्रत-आन्दोलन एक नयी दृष्टि देता है। वह जीवन का उत्कर्ष, सरलता, हल्केपन और निष्कपटता मे देखता है। उसकी दृष्टि में वही ऊँचा और स्पृहणीय जीवन है, जो अधिक से अधिक सन्तोषी, सरल और सयत है। मै चाहूँगा इस तथ्य को हृदयंगम करते हुए लोग जीवन के सही विकास की ओर अग्रसर होगे जो अहिंसा, सत्य और सद्भावना की साधना मे है।

चुरु,
८ मार्च, '५७

१२ : सबसे बड़ी पूँजी

विद्यार्थी राष्ट्र की सबसे बडी पूंजी है ; उसकी बुनियाद है। किस समाज, देश और राष्ट्र का भविष्य कैसा है, इसका अन्दाजा वहाँ के विद्यार्थियो के जीवन से लगाया जा सकता है। जिस भवन की नीव पक्की होगी, उसपर तूफानी हवा के चाहे कितने झोंके आये, कितना ही बोझ उसपर पड़े, पर वह डगमगायगा नही। उसी प्रकार विद्यार्थियो का जीवन विनयी, सदाचारी, शीलवान् और सद्गुणो से भरा हुआ होगा तो वे स्वय तो विकसित होगे ही, समाज और देश का प्रासाद भी उतना ही ठोस और स्थायी होगा।

आज विद्यार्थियो में जो सबसे बडी कमी है वह चरित्र और विनय की। तभी तो प० नेहरू अक्सर कहा करते हैं कि जहाँ भारत ने विदेशो मे इतना सम्मान पाया वहाँ भारत के विद्यार्थी इस तरह के तोड-फोडमूलक कार्यो मे भाग लेते रहते हैं, यह राष्ट्र की आभ्यन्तरिक स्थिति के लिए शोभा की बात नही है। वे अपनी माग हिंसा के बल पर रखने के बदले अहिंसा के बल पर क्यो नही रखते? अहिंसा हमारे राष्ट्र की पम्परागत तथा सास्कृतिक निधि है। यह गौरवपूर्ण आदर्श हमें विरासत मे मिला है जिसपर चलना हमारे देश के प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है।

दो बातें मै प्राध्यापको से भी कहना चाहूँगा। उन्हें विद्यार्थियो को केवल किताबी-ज्ञान ही नही देना है, उन्हे उनके जीवन का सही मार्ग दिखाना है, चरित्र-जागृति का पाठ पढाना है जो केवल उनके कहने से नही बनेगा। विद्यार्थी अध्यापक के कहने को नही देखते। वे अनुकरण-प्रधान होते हैं। अगर प्राध्यापक मंच पर आकर कहे कि विद्यार्थियो को बीडी नही पीनी चाहिए, यह बुरी चीज है और भाषण समाप्त करते ही बाहर आये और स्वय धुँआ निकालने लगे तो विद्यार्थी समझेगे कि कहने की बात कुछ और होती है, करने की कुछ और। इससे विद्यार्थियो पर बहुत बुरा असर पड़ता है। अध्यापक का जीवन विद्यार्थी के लिए खुली पुस्तक होनी चाहिये तभी आज के विद्यार्थी की दशा सुधर सकती है।

चुरू,
८ मार्च, '५७

१३ : छात्राओं से

कोमलता, करुणा, विनयशीलता और अनुशासनप्रियता नारी जाति के सहज गुण हैं। इन्ही कारणो से वह मानव-सस्कृति को सदा से एक अनुपम देन देती आ रही है, यह इतिहास बताता है। पर खेद का विषय है कि नारी आज जीवन के उन महानतम आदर्शों से परे होती जा रही है। वाह्य सुसज्जा एव बनाव-दिखाव मे घुल-मिल कर वे जीवन के वास्तविक मूल्यों को भुलाती जा रही हैं, सचमुच यह उनका ह्रासोन्मुख कदम है। जीवन का आदर्श वाह्य-प्रदर्शन एवं फैशनपरस्ती नही है। जीवन का वास्तविक आदर्श तो सात्विक, उज्ज्वल, परिमार्जित जीवनचर्या, त्याग एवं साधना है।

आज की ये नन्ही-नन्ही बालिकाएँ आगे चल कर गृहणियाँ, माताएँ और कार्यकर्त्रियाँ बननेवाली हैं। ये राष्ट्र और समाज की बहुमूल्य सम्पत्ति हैं जिसके सहारे राष्ट्र का सच्चा निर्माण और विकास होता है। यदि इनका जीवन अभी से सत्संस्कारो मे ढाला जाये तो आगे चलकर अपने जीवन मे ये वहुत बड़ा विकास तो कर ही सकती है, साथ ही साथ औरो के लिए भी प्रेरणा-स्रोत बन सकती हैं। इसलिए अध्यापिकाओ एव अभिभावको का कर्तव्य है कि ये इनके जीवन को सत्य, शौच, शालीनता और सात्विक प्रवृत्तियो के ढाँचे में ढालें। बालिकाओ से मैं कहूँगा कि वे इस बात को याद रखे, उनके जीवन का यह अमूल्य समय है। इसमें वे अपने आपका जैसा निर्माण करेंगी उनका भावी जीवन उसी बुनियाद पर आधारित होगा। अतः वे अभी से अपने आपको झूठ, चोरी, अवज्ञा, गाली, आपसी लड़ाई-झगड़ा आदि बुरी प्रवृत्तियो से सदा दूर रखें। देखने मे तो ये बातें छोटी-छोटी लगती हैं लेकिन जीवन को बुराई की ओर ले जाने में आग मे घी का काम करती हैं।

नारी-जाति स्वभावत. धर्मपरायण एवं श्रद्धानिष्ठ होती है। मैं कहना चाहूँगा—आज वे केवल वाह्य-प्रदर्शन एव परम्परा-पोषणमूलक धर्माराधना में अपने कर्तव्यो की इतिश्री न कर जीवन मे धर्म का सही उपयोग करे, जो उनके व्यवहार-परिशोधन एव चरित्र-मार्जन में है।

चुरू,
१४ मार्च, '५७

१४ : जीवनशुद्धि का प्रशस्त पथ

आप जिधर देखे, व्यक्ति धन-लिप्सा मे अन्धा बना येन-केन-प्रकारेण वैभव का अम्बार खड़ा करने मे जुटा है। इस अत्यधिक आसक्ति ने उसके विवेक मे कुण्ठा पैदा कर दी है। सत्-असत् को मापने में उसे अर्थ के अतिरिक्त दूसरा गज नही दीखता। अर्थप्राप्ति के साधन में वडा से वड़ा अन्याय करते भी उसका जी नही सकुचाता। इस पूंजीवादी मनोवृत्ति ने जहाँ एक ओर मानव के वैयक्तिक और पारिवारिक जीवन को विघटित कर डाला है, भाई-भाई को खून का प्यासा वना दिया है, पिता-पुत्र के वीच वैमनस्य और रोष की भयावह दरार पैदा कर दी है, वहाँ उसके सामाजिक और सार्वजनिक जीवन पर भी इसने करारी चोट पहुँचायी है। क्या वह जीवन कोई वास्तविक जीवन है, जहाँ व्यक्ति अर्थ-कीट वन उससे चिपटा रहे और एक अवधि विशेष के वाद अपनी मानव-योनि की परिसमाप्ति कर यहाँ से चलता बने। यह विवेकशून्य और गुमराह जिन्दगी का नमूना है। पर खेद इस वात का है कि आज का मानव इस ओर वेतहाशा दौडा जा रहा है। फलत उसके जीवन में शान्ति सुख और आत्मतोष नही है। इन सवका कारण यह है कि उसने धन के लोभ मे अपनी आत्मा को वेच डाली है। आये दिन के भीषण थपेडो से घिसता-पिटता मानव क्या अव भी नही चेतेगा।

और तो और, धर्म का क्षेत्र भी पूंजीवादी मनोवृत्ति का शिकार हुए विना नही रहा। धर्म जहाँ आत्म-परिमार्जन, सयम, अहिंसा, सत्य और शीलपूर्ण जीवनचर्या में प्रतिष्ठित है, वहाँ वह पैसो के वल खरीदा जाने लगा। फिर उसकी प्रतिष्ठा कैसे रहती? तभी तो उसके नाम पर अनेक झगडे, सघर्ष और रक्तपात के भीषण ताण्डव मचे। क्या यह धर्म का दोष था? यह तो धर्म द्वारा अपना स्वार्थ साधने की दुरभि-सन्धि में लगे तथाकथित अवसरवादियो का था। आज के मननशील मानव को धर्म के अहिंसा, सत्य और सयममूलक स्वरूप को समझना है, उसे अपना जीवन-सहचर वनाना है। यदि उसने ऐसा किया तो यह असम्भव नही कि आज की भीषण समस्याएँ जो नागिनो की तरह अपना जहरीला मुंह वाये उसे निगल जाना चाहती है, वह उनसे छुटकारा पा सके।

चुरू,
१६ मार्च, '५७

१५ : परिमार्जित जीवन-चर्या

बालक स्वभावत बुरे नही होते। सच्चाई और भोलापन उनके सहज गुण है। वे दूषित वातावरण, प्रतिकूल परिस्थिति या बुरा संसर्ग पाकर बुरे बन जाते है, उनकी प्रकृति विगड जाती है। एकबार वे विपरीत पथगामी बने, फिर उत्तरोत्तर बुराइयों की ओर लुढकते जाते है। इसलिए आवश्यक है कि आरम्भ से ही उनमे सत्य, अहिंसा, विनय, सद्भावना और अनुशासन के सुसस्कार भरे जायँ ताकि उनके जीवन की नीव मजबूत और सबल बन सके। उनका भावी जीवन वाधाओ के झझावात और वातूलो से डगमगा न सके, यह उत्तरदायित्व अभिभावको और अध्यापको पर है। यदि वे इस ओर जागरुक नही रहते है तो वे वच्चो के जीवन के साथ खिलवाड करते है, अपने कर्तव्य से परे होते है।

ये छोटे-छोटे, भोले-भाले हँसमुख विद्यार्थी राष्ट्र और समाज के भावी कर्णधार है। यह विद्यार्थी-जीवन जिसमे से वे गुजर रहे है, सचमुच उनके लिए स्वर्णिम वेला है। यही तो वह समय है, जब वे अपने जीवन की भावी मजिलो के लिए विद्या, शील, अनुशासन एव चारित्र का सबल जुटा रहे है। विद्यार्थियो को अपने जीवन की इस महत्ता को ठीक-ठीक आँकना है और उसके अनुरूप अपने जीवन को सत्य एव शौच से परिपूरित करना है। वे यह न समझें कि अभी तो वे वचपन में है, इनकी क्यो चिन्ता करे, जव बड़े होगे तव सीख लेगे, यह सोचना भारी भूल होगी। अभी यदि वे अपने जीवन को परिमार्जित और सयमित चर्या मे ढालने का अभ्यास नही करेगे तो आगे चलकर कुछ वनने का है, ऐसा लगता नही। उन्हे विनय, अनुशासन और सयम को अपने जीवन के साथ अविचल रूप मे जोडना है। अपने क्षण-क्षण की प्रवृत्तियो पर दृष्टि रखनी है कही उनमें विपरीतताएँ तो नही भर पा रही है।

अभिमान, दम्भ, प्रमाद, क्रोध और असहिष्णुता, वे भयानक दुर्गुण है, जो जीवन को आदर्शो से गिराते है। विद्यार्थियो को चाहिए, वे इससे अपने को वचाने के लिए सदा प्रयत्नशील रहे।

चुरू,
२१ मार्च, '५७

१६ : घर का स्वर्ग

आज का मानव फूला नही समाता। वह कहता है—हमने विकास किया है। उसकी दृष्टि में वह विकास हो सकता है, पर मैं तो उसे ह्रास ही कहूँगा। आज के इस वैज्ञानिक युग में उसे अनेक चीजे मिली। मछलियो की तरह समुद्र को पार करना सीखा, पक्षियो की तरह आकाश मे उडना सीखा, यहाँ बैठे-बैठे हजारो कोस दूर बैठे मानव से बात करनी सीखी, पर फिर भी शान्ति नही, सुख नही, चैन नही, आनन्द नही। यह सब क्यो ?

आज का मानव आँखो से देखना भूल गया, पैरो से चलना भूल गया फिर भी विकास की डीग भरता है। थोडा सा देखने का काम पडा कि आँखें कमजोर हो गईं, आँखो से पानी चलने लगा, अब उसे चश्मा चाहिये। जहाँ हमारे बुजुर्ग ७०-७० वर्ष की आयु तक सूई पिरो सकते थे, वहाँ आज १८-१८ वर्ष के और इससे भी नीचे की अवस्थावाले बालक चश्मे के बिना काम नही कर सकते। थोडा सा लिखना है, टाइप चाहिये और थोड़ा ज्यादा हो तो फिर प्रेस के बिना काम ही नही चल सकता। अक्षर-लेखन-सौन्दर्य तो समाप्त सा हो चुका है। आदमी जितना बडा चिन्तक, विचारक, विद्वान उसकी लेखन-कला उतनी ही खराब। मानो लेखनकला का खराब होना तो चिन्तक का प्रमुख लक्षण बन गया है। दो सौ आदमी इकट्ठे हो गये, बोला नही जाता, माइक चाहिए। क्यो ? गला कमजोर है। क्या आप इसी को विकास कहते हैं, यही है विकास ? भाइयो ! यह क्या है ? ह्रास नही तो क्या इसे विकास कहूँ ?

अगर आप चाहते हैं कि हम सुखी बने, हमारा परिवार सुखी बने, तो बाहर भटकने की आवश्यकता नही है। वह तो आपके पास ही है। जहाँ कलह, ईर्ष्या, द्वेष, बेईमानी, अभिमान, परिग्रह है, वही नर्क है। और जहाँ भ्रातृभाव, स्नेह और आपसी प्रेम है वही स्वर्ग है। आप हमें देखिए। हमारे पास कौन सा कोष भरा पड़ा है। आप स्वय सोचिये, जिनके पास दूसरे समय का खाना नही है, वे भी इतने सुखी क्यो है ? उत्तर मिलेगा—उनके पास सन्तोष, श्रम, सौजन्य और आस्था है।

अणुव्रत आप के घर को स्वर्ग बनाना चाहता है। वह कहता है जीवन को विकासोन्मुख करो, पारस्परिक प्रेम बढाओ, आरम्भ-समारम्भ और परिग्रह मे कमी करो, इनसे ज्यादा मोह मत रखो।

लोग कहते है, झूठ के बिना काम नही चल सकता। आज के इस भौतिकवादी युग में और फिर सत्याभिभाषण ! हू ! सच बोलना है तो मुँह पर ताला लगा लो और आराम करो। पर मै कहता हूँ इस दुनिया

में सत्य के बिना कोई काम नही चल सकता। आप सत्य और झूठ को हृदय के पलड़े पर तोलिये। आखिर सत्य का पलड़ा ही भारी रहेगा। आप झूठ को छोड़ सकते है पर सत्य को नही। अगर आप एक दिन का भी सत्य न बोलने का व्रत ले लें तो आपकी जवान बिल्कुल वन्द हो जायेगी। जैसे, कोई आप से आकर कहेगा—आप कौन है ? आप कहेंगे—आदमी। पर यह तो सत्य हो गया। और सत्य आप को बोलना नही है। तो क्या आप कहेंगे गदहा ? नही। इसी प्रकार बोलना, उठना-वैठना, खाना-पीना, चलना प्रत्येक कार्य मे सत्य के बिना आपका काम नही चल सकता।

अक्सर मनुष्य नीद में यानी भूल से झूठ बोलते थे पर आज तो जानबूझकर, होशियारी से और सभ्यता के साथ झूठ बोलते है, यह भारतीय नागरिको के लिए शर्म की बात है। अस्तु। व्यक्ति अपना आविष्कार आप करे।

चुरु,
२२ मार्च, '५७

१७ : आत्मावलोकन परमावश्यक

आज कार्यकर्त्ताओ को दृढनिष्ठा और लगन के साथ जीवन-निर्माण के काम में जुट जाना चाहिये, मै सब से आवश्यक यह मानता हूँ। आज मै शिक्षा की विशेष बाते कहूँ, यह मुझे अधिक रुचिकर नही लगती पर फिर भी मै चाहूँगा कि कार्यकर्त्ताओ को कुछ चेतावनी दूं। जैन-वाङ्गमय में शिक्षा के दो भेद किये गये है—ग्रहण और आसेवन। केवल किसी विषय की जानकारी पाना, उसके निरूपण और विवेचन की योग्यता हासिल करना ग्रहण मे आता है, जब कि आसेवन का आशय है—उस सत्-शिक्षा एवं सद्-ज्ञान के अनुरूप अपना जीवन ढालना, अपने जीवन-व्यवहार में उन आदर्शों को सँजोना। आज जहाँ तक देखते है, प्राय इस वात की कमी कार्यकर्त्ताओ मे पाते है, कार्यकर्त्ता केवल लम्वी-चौडी वाते बनाये, यह उनके लिए शोभनीय नही। हमे देखना चाहिए कि यह स्थिति क्यो बनती है ? जैसे किसी को भोजन की भूख न हो, इसके दो कारण हो सकते है—या तो उसका पेट भरा हो या उसे कोई ऐसा रोग हो गया हो जिसने भूख को रोक दिया हो। मै समझता हूँ कार्यकर्त्ताओ के व्यावहारिक जीवन में सक्रिय शिक्षा प्रवेश नही पा रही है। इसका कारण, उन्होने उच्चतम शिक्षा प्राप्त कर ली है, यह नही वल्कि एक वीमारी है, जिससे वे ग्रहण तो करते है पर आसेवन नही कर पाते। वह वीमारी है—वैयक्तिक दुर्वलता, सदाचार और नैतिकता के आदर्शों पर आरूढ होने के साहस का अभाव। वैयक्तिक के

साथ-साथ सामाजिक-जीवन का प्रतिकूल वातावरण भी इसमे कारण हो सकता है जिसमे रहता हुआ व्यक्ति अपने को नैतिकता के मार्ग पर चलाते रहने मे कठिनाइयाँ अनुभव करता है। इन दुर्वलताओ और विपरीत परि-स्थितियो पर कार्यकर्ताओ को विजय पाना है। इसके लिए उन्हें अपने आप का निरीक्षण और आत्मावलोकन करना होगा--आत्मवल जागृत करना होगा।

अणुव्रत अपने आपमे कुछ नही है। वह तो अणुव्रतियों के जीवन पर निर्भर है। वे ही उसके आदर्शों की कसौटी है। उनका जीवन जितना ऊँचा होगा, सदाचार और सात्विकता की ज्योति से जितना ज्वलन्त होगा, उतनी ही आन्दोलन की विशेषता है, उनके अपने जीवन की उच्चता है। इसलिए मै प्रत्येक कार्यकर्त्ता से कहूँगा कि वह अणुव्रत-आदर्शों के अनुकूल अपना जीवन वनाये। उसका यह भी कर्तव्य है कि वह औरो तक भी आन्दोलन की आवाज को पहुँचाये।

अणुव्रत-आन्दोलन जन-जागृति का आन्दोलन है, मानवता का आन्दोलन है। जैसाकि मुझे लगता है—यह निश्चित है कि यह आगे वढनेवाला है। पर देखना यह है कि इसे आगे वढाने का श्रेय किसको मिलता है।

चुरु,
२३ मार्च, '५७

१८ : युवक और धर्म

"कल न जाने कैसी स्थिति गुजरेगी, आज हम व्रत या जीवन-विकास के नियम ग्रहण कर लें तो उस वदलती हुई परिस्थिति मे मुझपर क्या वीते ..।" व्रत-ग्रहण या चारित्रिक-दृढ सकल्प से कतरानेवाले आम नौजवानो के ये विचार हैं। यह आत्मसाहस से परे की बात है। यह उनके अन्तरतम की दुर्वलता का परिचय है। क्या कभी एक सत्कर्मनिष्ठ साहसी इस आशका से अच्छे काम को शुरू करने से रुकेगा कि कल न जाने कौन सा विघ्न आ पड़े, उसकी कैसी गति हो? मै कहूँगा—प्रचुर आत्मबल और मनोयोग से काम करनेवाला यह आशका ही क्यो करे? उसका ध्यान तो एकमात्र अपने काम पर रहना चाहिए। तन्मय होकर काम करनेवाला कभी ऐसी दुश्चिन्ताओ मे नही डूवता। युवको को चाहिए कि वे इस तरह निर्मूल भ्रान्तियो और विभीषिकाओ को छोडकर उत्साह के साथ सयम-पथ पर आगे वढें। सयम जीवन में शान्ति लाने का अमोघ हेतु है। सरलता, सादगी, सात्विकता आदि इसीसे फलित होनेवाले गुण हैं। मै युवको से पुन

जोर देकर कहूँगा—यदि वे अपने जीवन को सयम का नया मोड न देकर योही सिर्फ जोश की बाते बनाते रहे तो इससे कुछ बनने का नही है। न उनका दूसरों पर भी कोई असर ही होनेवाला है। अणुव्रत-आन्दोलन मानव-जीवन मे सयम का प्रतिष्ठापन करने का आन्दोलन है। नौजवानो को इसमें अपने आप को ढालना है तथा औरो तक इसे फैलाने में अपनी जिम्मेवारी को निभाना है।

आज का युग भौतिकवादी युग कहा जाता है जहाँ विज्ञान के नये-नये चामत्कारिक आविष्कारों ने मानव को चकाचौध कर दिया है। कहा जाता है—यह सब हुआ सुख और शान्ति लाने के लिए। पर उसे मिला क्या—अणुबम जैसे प्रलयकर दानवीय अस्त्र-शस्त्र, जिनकी विभीषिका से आज ससार थर्रा उठा है। तभी तो अणुबम का आविष्कर्त्ता मानव के इस हत्यारे-निर्भय कदम को देखकर चीख पडा था, कि उसकी बुद्धि से आविर्भूत यह आश्चर्यमय चमत्कार ऐसे निर्दय हाथो मे पडा कि विश्व-मानव आज अकल्याण की महोदधि मे डूबा जा रहा है। आज भौतिकवादी थपेडो से आहत मानव कराह उठा है त्राण के लिए। यदि उसे कोई त्राण देनेवाला है; तो वह एकमात्र धर्म है। यदि यह वाछनीय है कि जागतिक-जीवन हिंसा के क्रूर आघातो से बचे, उसमें सच्चाई व्यापे, शोषण और अनाचार मिटे, धोखा, विश्वासघात और छल-प्रपच के जाल का निर्दलन हो, तो मानव को धर्म का सहारा लेना होगा। ये ही तो वे आदर्श है, जिन्हें धर्म बताता है। यह धर्म का वास्तविक स्वरूप है, जो साम्प्रदायिक सकीर्णता से परे विश्वजनीन और व्यापक आदर्शों पर आधारित है। धर्म के नाम पर आचरित तथाकथित धर्माचरणों पर यह, जिनके कारण धर्म बदनाम हुआ है, करारी चोट करता है। मै चाहूँगा, धर्म के इस अहिंसा, अशोषण और नैतिकतामूलक स्वरूप पर आप ध्यान रखेंगे। आपका जीवन एक नया उल्लास और स्फुरणा पायेगा।

चुरु,
२४ मार्च, '५७

१९ : निर्माण का शीर्षविन्दु

आज व्यक्ति का जीवन स्वार्थ की परिवियो से आवृत हो इतना सकीर्ण वनता जा रहा है कि अपने भौतिक लाभार्जन की पैशाचिक दुष्कामनाओ से वह जर्जर है। यदि उसका स्वार्थ सवता है, जेव गरम होती है, तो सत्य उसकी आँखों से ओझल हो जाता है, न्याय से किनारा कसते उसे जरा भी

हिचकिचाहट नही होती। यह आजके मानव-जीवन में प्रविष्ट वह दूषित तत्त्व है, जिसने नैतिकता और सदाचार की सात्विक परम्पराओं पर गहरा आघात किया है। समाज का कोई भी वर्ग—क्या राज्याधिकारी, क्या व्यापारी, क्या अन्यान्य व्यवसायो में लगे दूसरे लोग इससे अछूते रह पाये है, ऐसा लगता नही। इस विषम और विपथगामिनि परिस्थिति में आज सबसे प्राथमिक और आवश्यक कार्य मानव के लिये यह है कि वह स्वार्थ-मयता, अर्थलोलुपता और वासनाओ के प्रवाह में अपने को न बहने दे। इसके लिए उसे आत्मबल सँजोना होगा, बुराइयो से टक्कर लेने की हिम्मत जुटानी होगी। पर मनस्वी और निष्ठाशील व्यक्ति के लिए यह कोई कठिन नही है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का चरित्र ऊँचा हो, आज की यह बहुत बडी माँग है। बिना इसके पूर्ण हुए अनेकानेक वडी-बडी योजनाओ के बावजूद सच्चे विकास और शान्ति की तरफ राष्ट्र नही जा सकेगा। राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक इसके लिए उत्तरदायी है। राज्याधिकारियों पर जो राष्ट्र के नागरिक होने के साथ साथ शासन, शान्ति और सुरक्षा का बहुत बडा उत्तरदायित्व वहन करते है, बहुत बडी जिम्मेवारी है। उनका जीवन अधिकाधिक त्याग, नि स्वार्थता, अनुशासन और न्याय का जीवन होना चाहिए ताकि आत्मशान्ति के साथ-साथ जन-जीवन पर भी इसकी गहरी छाप पड सके।

जिस तरह व्यापारी लोग यह समझते है कि व्यापार मे असत्य के विना काम चल नही सकता, उसी तरह स्यात् राज्याधिकारियों में भी अनेक यह समझते हो कि रिश्वत के विना कैसे काम चले—उन्हें अपने परिवार का लालन-पालन और अपने स्तर से जीवन-निर्वाह जो करना है। मै इसे सही नही मानता। पर इसके लिए जरूरत है सन्तोष की, सादगी की और अपने आपपर नियन्त्रण रखने की। यदि व्यक्ति ऐसा कर ले तो अपने जीवन को रिश्वत आदि दुर्गुणो से उन्मुक्त करना कोई कठिन नही है। इसके लिए मै चाहूँगा राष्ट्र का प्रत्येक अधिकारी आत्म-निरीक्षण करे, अपनी बुराइयो का लेखा-जोखा रखे, उससे बचने का दृढ सकल्प करे, आत्मचिन्तन से उसे वहुत बडा बल मिलेगा। अणुव्रत-आन्दोलन और कुछ नही, इन्ही आदर्शों को लोक-जीवन में देखना चाहता है।

अधिक न कह कर मै अधिकारियो से इतना ही कहना चाहूँगा कि वे आत्म-निरीक्षण करना, रिश्वत न लेना, अपनी समझ मे असत्य निर्णय न देना—इन तीन बातो को अवश्य अपनाये।

चुरु,
२६ मार्च, '५७

जोर देकर कहूँगा—यदि वे अपने जीवन को सयम का नया मोड़ न देकर योही सिर्फ जोश की बातें बनाते रहे तो इससे कुछ वनने का नही है। न उनका दूसरो पर भी कोई असर ही होनेवाला है। अणुव्रत-आन्दोलन मानव-जीवन मे संयम का प्रतिष्ठापन करने का आन्दोलन है। नौजवानो को इसमे अपने आप को ढालना है तथा औरो तक इसे फैलाने में अपनी जिम्मेवारी को निभाना है।

आज का युग भौतिकवादी युग कहा जाता है जहाँ विज्ञान के नये-नये चामत्कारिक आविष्कारों ने मानव को चकाचौंध कर दिया है। कहा जाता है—यह सब हुआ सुख और शान्ति लाने के लिए। पर उसे मिला क्या—अणुबम जैसे प्रलयकर दानवीय अस्त्र-शस्त्र, जिनकी विभीषिका से आज ससार थर्रा उठा है। तभी तो अणुबम का आविष्कर्त्ता मानव के इस हत्यारे-निर्भय कदम को देखकर चीख पडा था, कि उसकी बुद्धि से आविर्भूत यह आश्चर्यमय चमत्कार ऐसे निर्दय हाथो में पडा कि विश्व-मानव आज अकल्याण की महोदधि मे डूबा जा रहा है। आज भौतिकवादी थपेडो से आहत मानव कराह उठा है त्राण के लिए। यदि उसे कोई त्राण देनेवाला है, तो वह एकमात्र धर्म है। यदि यह वाछनीय है कि जागतिक-जीवन हिंसा के क्रूर आघातो से बचे, उसमें सच्चाई व्यापे, शोषण और अनाचार मिटे, धोखा, विश्वासघात और छल-प्रपच के जाल का निर्दलन हो, तो मानव को धर्म का सहारा लेना होगा। ये ही तो वे आदर्श हैं, जिन्हें धर्म बताता है। यह धर्म का वास्तविक स्वरूप है, जो साम्प्रदायिक सकीर्णता से परे विश्वजनीन और व्यापक आदर्शों पर आधारित है। धर्म के नाम पर आचरित तथाकथित धर्माचरणों पर यह, जिनके कारण धर्म बदनाम हुआ है, करारी चोट करता है। मैं चाहूँगा, धर्म के इस अहिंसा, अशोषण और नैतिकतामूलक स्वरूप पर आप ध्यान रखेंगे। आपका जीवन एक नया उल्लास और स्फुरणा पायेगा।

चुरु,
२४ मार्च, '५७

१९ : निर्माण का शीर्षविन्दु

आज व्यक्ति का जीवन स्वार्थ की परिधियो से आवृत हो इतना संकीर्ण वनता जा रहा है कि अपने भौतिक लाभार्जन की पैशाचिक दुष्कामनाओ से वह जर्जर है। यदि उसका स्वार्थ सघता है, जेब गरम होती है, तो सत्य उसकी आँखो से ओझल हो जाता है, न्याय से किनारा कसते उसे जरा भी

हिचकिचाहट नही होती। यह आजके मानव-जीवन में प्रविष्ट वह दूषित तत्त्व है, जिसने नैतिकता और सदाचार की सात्विक परम्पराओ पर गहरा आघात किया है। समाज का कोई भी वर्ग—क्या राज्याधिकारी, क्या व्यापारी, क्या अन्यान्य व्यवसायो में लगे दूसरे लोग इससे अछूते रह पाये है, ऐसा लगता नही। इस विषम और विपथगामिनि परिस्थिति मे आज सबसे प्राथमिक और आवश्यक कार्य मानव के लिये यह है कि वह स्वार्थ-मयता, अर्थलोलुपता और वासनाओं के प्रवाह में अपने को न बहने दे। इसके लिए उसे आत्मवल सँजोना होगा, बुराइयो से टक्कर लेने की हिम्मत जुटानी होगी। पर मनस्वी और निष्ठाशील व्यक्ति के लिए यह कोई कठिन नही है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का चरित्र ऊँचा हो, आज की यह वहुत बडी माँग है। बिना इसके पूर्ण हुए अनेकानेक वड़ी-वडी योजनाओ के वावजूद सच्चे विकास और शान्ति की तरफ राष्ट्र नही जा सकेगा। राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक इसके लिए उत्तरदायी है। राज्याधिकारियों पर जो राष्ट्र के नागरिक होने के साथ साथ शासन, शान्ति और सुरक्षा का वहुत वडा उत्तरदायित्व वहन करते है, वहुत वडी जिम्मेवारी है। उनका जीवन अधिकाधिक त्याग, नि स्वार्थता, अनुशासन और न्याय का जीवन होना चाहिए ताकि आत्मशान्ति के साथ-साथ जन-जीवन पर भी इसकी गहरी छाप पड़ सके।

जिस तरह व्यापारी लोग यह समझते हैं कि व्यापार मे असत्य के बिना काम चल नही सकता, उसी तरह स्यात् राज्याधिकारियो मे भी अनेक यह समझते हो कि रिश्वत के विना कैसे काम चले—उन्हें अपने परिवार का लालन-पालन और अपने स्तर से जीवन-निर्वाह जो करना है। मै इसे सही नही मानता। पर इसके लिए जरूरत है सन्तोष की, सादगी की और अपने आपपर नियन्त्रण रखने की। यदि व्यक्ति ऐसा कर ले तो अपने जीवन को रिश्वत आदि दुर्गुणो से उन्मुक्त करना कोई कठिन नही है। इसके लिए मैं चाहूँगा राष्ट्र का प्रत्येक अधिकारी आत्म-निरीक्षण करे, अपनी बुराइयो का लेखा-जोखा रखे, उससे बचने का दृढ सकल्प करे, आत्मचिन्तन से उसे वहुत वडा बल मिलेगा। अणुव्रत-आन्दोलन और कुछ नही, इन्ही आदर्शों को लोक-जीवन में देखना चाहता है।

अधिक न कह कर मै अधिकारियो से इतना ही कहना चाहूँगा कि वे आत्म-निरीक्षण करना, रिश्वत न लेना, अपनी समझ में असत्य निर्णय न देना—इन तीन वातो को अवश्य अपनाये।

चुरु,
२६ मार्च, '५७

२० : जीवन का आभूषण

विद्यार्थियो की ओर मेरा विशेष आकर्षण रहता है। मै जहाँ भी जाता हूँ, विद्यार्थियो के बीच प्राय बोलता रहता हूँ। मै चाहता हूँ, विद्यार्थी अपने निर्माण के प्रारम्भकाल से ही जीवन को चारित्र्यमूलक सद्‌गुणो से सँजोना सीखे, जिससे आगे चलकर उनका जीवन सही माने में विकसित और समुन्नत हो सके। कौन नही जानता कि आज देश मे पहले की अपेक्षा शिक्षा ने काफी बढावा पाया है, नये-नये शिक्षण-पीठ खुले है। पर सब होने के बावजूद विद्यार्थी अपने जीवन का वैसा निर्माण नही कर पा रहे है, जो सच्ची शिक्षा से होना चाहिए। ज्यो-ज्यो वे ऊँची श्रेणियो में पहुँचते है, उनमें बाहरी प्रदर्शन, सजावट और दिखावे की मात्रा बढने लगती है। यह एक बहुत बडा दोष है जो जीवन की उज्ज्वलता को लीलता जा रहा है। विद्यार्थी का जीवन तो एक तपस्वी और योगी का जीवन है। वह आत्मसृजन की उन अनूठी घडियो से गुजरता है, जो फिर कभी आनेवाली नही है। अस्तु। आज की शिक्षा में नैतिकता और आध्यात्मिकता का समावेश होना चाहिए।

विनय विद्यार्थी-जीवन का आभूषण है। उसे अधिकाधिक विनयशील एव सहिष्णु बनना चाहिए और अपने में सत्य पर डटे रहने की आदत डालनी चाहिए। अपने जीवन की परिधि मे जो-जो काम उसके आते है, उनमे सत्य का व्यवहार हो। उसे अपना मन पवित्र रखना चाहिए।

ब्रह्मचर्यपालन विद्यार्थी के लिए अत्यन्त आवश्यक है। छात्राओ के साथ छेडछाड करना छात्रो के लिए कलक की बात है। वे सब अपनी ही तो बहने है, उनके प्रति ऐसा घृणित व्यवहार कदापि न होना चाहिए। विद्यार्थियो को किसी भी तोडफोडमूलक कामो में भाग नही लेना चाहिए। जब बडी-बड़ी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ समझौते और बातचीत से सुलझ सकती है, तो यह कौन-सी बडी बात है। अस्तु। इन्ही बातो को लेते हुए मैने अणुव्रत-आन्दोलन के अन्तर्गत विद्यार्थियो के लिए ये नियम रखे है · किसी भी तोड़फोड़मूलक हिंसात्मक प्रवृत्ति मे भाग न लेना, अवैध तरीको से परीक्षा मे उत्तीर्ण नही होना, धूम्रपान न करना, मद्यपान न करना, रुपये आदि के लेने का ठहराव कर विवाह-सम्बन्ध स्वीकार न करना। मै चाहूँगा, विद्यार्थी गहराई से सोचते हुए इन नियमो को प्रतिज्ञा-रूप मे स्वीकार करे।

चुरु,
२८ मार्च, '५७

२१ : आयोजनों का उद्देश्य

आज का मानव स्वार्थों के पीछे मदोन्मत्त होता जा रहा है। उसको अपनी स्वार्थपूर्ति की ही एषणा है, इसके लिए चाहे कितना भी भयकर दुष्कृत्य उसे क्यो न करना पडे। स्वार्थ सारे अन्याय-दुर्बलताओ का जन्मदाता है। इसने सघर्षों को जन्म दिया। व्यक्ति के जीवन में अशान्ति घिरने लगी। क्योंकि जहाँ स्वार्थपूर्ति का चक्र चला, वहाँ हिंसा ने अपना प्रसार किया, अविश्वास ने जड पकडा, अनैतिक भावो को पख मिले। फिर भला मानव जीवन में सुख शेष रह सकता है? इसका साक्षात चित्र आज के समाज का जीता-जागता जीवन है। अणुव्रत-आन्दोलन अहिंसा, सच्चाई, सन्तोष और संयम के द्वारा इन अनैतिक अकुरो को मिटा देना चाहता है। जन-जन के कानो तक आन्दोलन का यह आध्यात्मिक घोष पहुँचे, ऐसे आयोजनो का यही उद्देश्य है। समाज के मुख्यत. दो विभाग है--ऊपर का और नीचे का। वैसे हम किसी को छोटा-बडा नही कहते, पर कहने का मतलब यह है कि एक वह विभाग है जो उसे चलानेवाले लोगो द्वारा दिये गये पथ-प्रदर्शन के आधार पर चलता है। मै चाहता हूँ, अणुव्रत-आन्दोलन जहाँ नीचे के तपके के लोगो में प्रसार पाये वही पर उसकी वहुमुखी तथा विशद धाराएँ ऊपर के तपके में भी फैलें, ताकि दोनो ओर नैतिक विशुद्धि का सुन्दर वातावरण पैदा हो। इसके लिए विद्यार्थियो की शिक्षा में असाम्प्रदायिक रूप से अणुव्रत-आदर्शों के अनुसार सदाचार-शिक्षा का क्रम भी राज्य-सरकार जोडे, तो क्या ये सहस्रो और लाखो नौनिहालो के सुनिर्माण मे सहायक न हो सकेगी?

फतेहपुर,
१८ अप्रैल '५७

२२ : हिंसा भय लाती है

आज पश्चिमी राष्ट्रो की बडी दुर्दशा हो रही है, उन्हे कोई रास्ता नही मिल रहा है। अगर वे अव भी नही सतर्क हुए तो उन्हें अपने हाथो समाप्त होना पडेगा। ये हथियार उन्ही के काम आएँगे। अखवारो में पढते हैं कि अभी तो अणुबम का परीक्षण मात्र हो रहा है। लड़ाई में प्रयोग करने पर तो न जाने क्या होगा? सुना जाता है—अगर इनका युद्ध मे खुलकर प्रयोग हुआ तो ४०-४० पीढियों तक उसका असर रहेगा और वे उठ भी न सकेंगे, नेस्तनावूद हो जाएँगे। आज अमेरिका और रूस अपने को कितना

भी समृद्धिशाली क्यो न माने, पर उन्हें भी इसकी भयंकरता का डर है, क्योकि उनकी नीव हिंसा पर टिकी हुई है। हिंसा भय लाती है और उसी भय के फलस्वरूप आपस मे होड सी लगी हुई है। इस समय हम भारत-वासियो को यह सोचना है कि मानवता को कैसे कायम रखा जा सकता है और उन भयभीत राष्ट्रो को कैसे रास्ता मिल सकता है ?

आज लाखो आदमी धर्म के नाम पर धोखे में हैं, घपले में है। आज रुपयो के बिना गुरु नही मिलते। गुरु होना भी आवश्यक है क्योकि गुरु के बिना गति भी तो नही होती। पर कुगुरु से बिना गुरु का रहना ही अच्छा है।

आज धार्मिकों की आपसी फूट नैतिकता के प्रसार में बहुत बडी बाधा है। उन्होने धर्म को केवल मन्दिरो, मस्जिदो और गिरिजाघरो तक ही सीमित रखा, बाजार में नही आने दिया। यही कारण है कि जो बाजार निर्भयता का स्थान होना चाहिये था, वह भय का अड्डा वना हुआ है। चारो ओर अनैतिकता तथा बेईमानी छाई हुई है।

अगर इस समय धार्मिक नेता आपसी समन्वय कर नैतिकता के प्रसार में योग दे तो मैं समझता हूँ वे बहुत कुछ कर सकेंगे।

सुजानगढ,
२५ अप्रैल, '५७

२३ : सारा संसार जननी जन्मभूमि है

पिछले वर्ष मैं अपनी जन्मभूमि में आया था। उसके बाद अल्प समय में लम्बी यात्रा कर वापस अपनी जननी और जन्मभूमि के बीच बैठा हूँ। (उनकी माता-साध्वीश्री बदनाजी वही पर बैठी थी)। वैसे मेरी न तो कोई जननी है और न कोई जन्मभूमि। मेरा तो सारा संसार जननी-जन्मभूमि है। पर, लोक-भाषा में ऐसा ही कहा जाता है।

आज का युग विषमता का युग है। जन-नेताओ के सामने आज वडी-वड़ी समस्याएँ हैं। एक तरफ अणु और उद्‌जन बम की भयकरता मानव का मस्तिष्क खाए जा रही है तो दूसरी तरफ खाद्य की समस्या, वेरोज-गारी की समस्या आदि हैं। इन समस्याओं से उलझा मानव पथ-दर्शन का भूखा है, पर सही पथ-दर्शन मिल नही रहा है। ऐसे अवसर पर हम अगर सूर्य का नही, तो दीपक का काम अवश्य करेंगे। हमारी जितनी ताकत है, हम उस ओर लगायेंगे। पर आज सूर्य के अभाव में एक दीपक की नही, लाखों दीपको की आवश्यकता है। राष्ट्रकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने

कितना सुन्दर कहा है—"सूर्य अस्ताचल को जाते समय कहता है—भाइयो, मैं तो जा रहा हूँ, पीछे से निगाह रखना। उस समय दीपक ने कहा—स्वामिन्! मैं जो हूँ, अपना तुच्छ प्रकाश फैलाऊँगा।" उसी प्रकार हम दीपक का काम तो अवश्य करेंगे। इससे समूचे संसार का अन्धकार तो दूर नही होगा, पर कार्यक्षेत्र का अन्धेरा तो अवश्य मिटेगा और मानव को कुछ राहत भी मिलेगी। उसी अन्धकार को मिटाने के लिए हम गाँव-गाँव में घूम रहे हैं।

आज का दिन अक्षय-तृतीया का दिन है। इतिहास में इस दिन का बहुत बड़ा महत्व है। इस युग के प्रथम मुनि भगवान् ऋषभदेव मौन अवस्था में विचरण करते थे। लोगो ने देखा—आदम बाबा आये है, इसलिए उनके लिए भेंट स्वरूप घोड़ा, हाथी, हीरे-जवाहरात आदि लायें। पर भगवान् ने उनमें से एक भी वस्तु ग्रहण नही की। उन्हे रोटी चाहिए थी। पर भगवान् को रोटी ऐसी तुच्छ वस्तु कौन दे? आखिर विचरण करते-करते १२ महीने बीत गये, भगवान् को न रोटी मिली और न पानी। घूमते-घूमते अपने पौत्र श्रेयासकुमार के ग्राम में पधारे। उसने रात को स्वप्न देखा कि मैं मेरू पर्वत को ईक्षु के रस से सींच रहा हूँ। सुबह उसने अपने ज्ञान से पता लगाया कि भगवान् ऋषभदेव यहाँ पधार रहे हैं और उन्हे बहुत दिनो से भोजन नही मिला है। उस दिन उसके यहाँ इक्षु-रस के १०८ कलश आये हुए थे। उसने ऋषभदेव से कहा—भगवान् मेरे यहाँ इक्षुरस आया हुआ है, आप उसे ग्रहण कीजिये। भगवान् उसके यहाँ पधारे। दोनो हाथो से रस पीकर उन्होने १२ महीने की अपनी तपस्या की पारणा की। उसी समय देवताओ ने फूलो की वर्षा की और आज तक यह दिन अक्षय तृतीया के नाम से मनाया जाता रहा है।

अणुव्रत-आन्दोलन आज जनव्यापी और जनप्रिय बनता जा रहा है, इसका यही कारण है कि वह जाति, वर्ग व सम्प्रदाय भेद से अछूता नैतिकता और मानवता का आन्दोलन है।

लाडनू,
२ मई, '५७

२४ : अधिकारियों से

आज आपके इस नये भवन में हम आपको और आप हमको कुछ विचित्र से लगते हैं। आज हमारा संगम भी तो नया है और जब तक परिचय नही हो जाता तब तक आश्चर्य होना स्वाभाविक सा है। एक बच्चा जब

इस संसार में आता है, तब पहले पहल उसे भी ससार कुछ विचित्र सा लगता है। धीरे-धीरे ससार के साथ उसका परिचय होने लगता है, वह अपने वातावरण में रच-पच जाता है। अत. उचित है, पहले मैं आपको अपना परिचय दे दूं। हम भी आपकी तरह भिन्न-भिन्न प्रान्तो में रहनेवाले थे। साधु कोई जन्म से तो होता नही। जिसे अपने अनुभव से ससार से विरक्ति हो जाती है, वही साधु होता है। हमलोग शरणार्थी भी है। क्योकि हमारी कही पर भी इच भर जगह नही है। पर हम सामान्य शरणार्थियो से भिन्न है। दिल्ली में एकबार बहुत से शरणार्थी मेरे पास आये और मुझे अपना दु.ख सुनाने लगे। मैंने उनसे कहा— भाइयो! आप और हम तो एक से है, क्योकि हम दोनो ही शरणार्थी है। पर हममे एक बहुत बडा अन्तर है। वह यह है कि आपकी जमीन-जायदाद छुडा दी गई है और हमने अपनी धन-सम्पत्ति जानबूझकर छोड दी है। यही कारण है कि आपको तो इसका दु ख होता है और हमें प्रसन्नता।

हमलोग जैन है। "जिन" का मतलब है—विजेता। विजेता—यानी जो अपने ऊपर अनुशासन करे। जिसने अपने ऊपर अनुशासन नही कर लिया है, उसे वास्तव मे दूसरो पर अनुशासन करने का अधिकार ही क्या है? अपने स्वार्थ से दूसरो पर अनुशासन करनेवाला कायर है। पर "जिन"— विजेता अपने पर ही अनुशासन करते है। उनका धर्म ही जैन-धर्म है।

आप कहेंगे हम यहाँ क्यो आये? हम यहाँ अपनी साधना के लिए आये हैं। हमारा सारा काम चलना, फिरना, खाना, पीना और प्रवचन करना साधना के लिए ही होता है। यहाँ जो प्रवचन करने आये है, यह आप पर कोई एहसान नही है। यह तो हमारी साधना ही है। आपसे भी हम कहना चाहते है, आप भी जो कुछ काम करें, साधना के लिए ही करें।

आज देश का सबसे ज्यादा अगर कुछ खोया है, तो वह है ईमान और मानवता। ऊपर से तो सारे लोग बहुत अच्छे लगते है, पर अन्दर से केवल अस्थि-पजर मात्र रह गया है। सारे के सारे दूसरो की आलोचना करने को तत्पर है; पर अपने आपको कोई नही देखता। व्यापारी लोग आपको कोसते है। वे सोचते है, हम तो इतनी मिहनत से पैसा कमाते हैं और आप (इन्कम टैक्स ऑफिसर) आकर उसे साफ कर देते हैं। सचमुच आप उन्हे यमदूत लगते है। पर वे स्वयं यह नही सोचते कि वे कितने गरीबों के गले पर छूरी फेरते है। अभी मेरे सामने व्यापारी (वनिये) लोग नही है। पर जब मेरे सामने होते है तो मैं उनकी भी

अच्छी तरह से खबर लेता हूँ। मुझे दुःख है कि आज वनिये बदनाम है और उनके साथ-साथ कभी-कभी हमे भी लोग कुछ कह देते हैं। क्योकि लोग हमे भी वनियो के गुरु कहते हैं। यद्यपि हमारे अनुयायी सारे वनिये ही है, ऐसा नही है।

बहुत से व्यापारी ऐसे भी हैं, जिन्हे आपका बिल्कुल भय नही है। उनका व्यापार बिल्कुल साफ है। अणुव्रत ही मनुष्य को अभय बनाता है। भय से भय बढता है। अणुबम ने मनुष्य को भयभीत बना दिया तो विपक्ष के लोग हाईड्रोजन बम बनाकर अभय बनना चाहते हैं। पर अभय का रास्ता यह नही है। अणुव्रत अभय बनने का मार्ग है।

अणुव्रत आपको सन्यासी नही बनाता। वह कहता है—जहाँ भी आप रहते है, वहाँ रहकर भी अपने पर कण्ट्रोल करें। अगर आपने यह कर लिया तो आपके घर और कार्यालय सारे सुधर जाएँगे।

पहला अणुव्रत अहिंसा है। किसी को मार देना मात्र ही हिंसा नही है, पर, बुरा चिन्तन भी हिंसा है। अस्पृश्य मानकर करोडो का तिरस्कार करना हिंसा नही तो और क्या है? फिर इस तिरस्कार की प्रतिक्रिया भी होती है। आज सामूहिक रूप में जो धर्म-परिवर्तन किया जा रहा है, यह क्या है? क्या उन्होने श्रद्धा से ऐसा किया है? श्रद्धा से व्यक्ति समझ सकता है पर इतने बडे पैमाने पर धर्म-परिवर्तन निश्चय ही अपमान का प्रतिकार है। हिन्दू लोगो ने शूद्रो के साथ असद् व्यवहार किया जिसका फल है कि आज वे लाखो की सख्या में बौद्ध बनते जा रहे हैं। काम के आधार पर किसी को नीचा और अस्पृश्य मानना हिंसा है और व्यवहार विरुद्ध भी है। अगर इसी प्रकार कोई अस्पृश्य होता तो माताएँ तो कभी की अस्पृश्य—अपवित्र हो जाती।

भगवान् महावीर ने कहा—"कम्मुणा बभणो होई, कम्मुणा होई खत्तिओ। वइसो कम्मुणा होई, सुद्दो हवइ कम्मुणा . ।" अर्थात् कर्म से ब्राह्मण होता है और कर्म से ही क्षत्रिय। वैश्य और शूद्र भी कर्म से होता है।

आज वड़ा वह माना जाता है, जिसके पास पैसे हो, भवन हो, मोटर हो और जिसकी आवाज सभी सुन सकते हों। पर जीवन के इस मूल्यांकन में परिवर्तन करना होगा। हमें पैसे को मनुष्य से वडा नही मानना है। वडा वह है—जो त्यागी है, सयमी है। यदि पैसे से ही मनुष्य वडा हो जाता तो हम अकिंचन भिक्षुओ की क्या गति होती जिनके पास एक पैसा भी नही है? भारतीय सस्कृति में सदा त्यागियो की पूजा होती आयी है। वडे-वडे सम्राटो के सिर भी अकिंचन भिक्षुओ के सामने झुक जाते थे। अत. आज भी हमें यह स्वीकार करना पडेगा कि वडा वह है, जो त्यागी है।

दूसरा व्रत है सत्य। केवल सत्य बोलना मात्र ही सत्य नही है। सत्य का अर्थ है—जैसा सोचे, वैसा बोले। यदि ऐसा नही, तो मनुष्य ऊँचा नही बन सकता।

इसी प्रकार तीसरे व्रत अचौर्य का मतलब भी केवल चोरी नही करना ही नही है। अपने काम-धन्धे मे ईमानदारी नही बरतना भी चोरी है। अपनी जिम्मेवारी के काम से दिल चुराना भी चोरी है।

चौथा व्रत है—ब्रह्मचर्य। आज के जीवन में इसकी बडी कमी है। इसीलिए आज बचपन से यौवन आता ही नही, सीधा बुढापा आ जाता है।

पाँचवाँ व्रत है—अपरिग्रह। इसका मतलब यह नही कि आप सन्यासी बन जायें। पर अपनी निसीम लालसाओ की सीमा तो करें।

आप अफसर है। आपने किसी व्यापारी पर अभियोग लगाया कि उसने अपना घर भर लिया। उधर व्यापारीगण अपनी रक्षा करते हैं—रिश्वत देकर। बीच में सरकार की आपको क्या चिन्ता? आप सोचते है—"पहले पेट पूजा, पीछे काम दूजा।" पर अब ऐसे काम चलनेवाला नही है। अब आप स्वतन्त्र हो गये है। राष्ट्र की सारी जिम्मेवारी आपके कन्धो पर है। अब आप दूसरो पर दोष नही मढ सकते। अत अपने आपको जगाना पडेगा।

सबसे पहली और महत्व की बात यह है कि आप रिश्वत न लें। मै आपकी कठिनाइयो को जानता हूँ। यह कठिनाई केवल आपकी ही नही है। प्रत्येक व्यक्ति के सामने अपनी-अपनी कठिनाइयाँ रहती है। उनके सहे विना आप सुखी नही हो सकेगे। जिस व्यक्ति ने इस तथ्य को समझ लिया है, वह निश्चय ही एक आन्तरिक शान्ति का अनुभव करेगा।

दूसरी वात, आप दुर्व्यसनो से बचे। बीडी-सिगरेट तो आज सभ्यता की चीज बन गयी है। बहुत से लोगो से मै पूछता हूँ—भाई तुम बीडी पीते हो? वे कहते है—हाँ महाराज! वैसे तो हम बीडी नही पीते पर कभी-कभी जब दोस्तो के साथ बैठ जाते है तो सभ्यता के नाते पीनी पडती है। लानत है ऐसी सभ्यता को। क्या सभ्यता इसे ही कहा जाता है? और चाय तो आज बिछौने पर ही चाहिए। उसके विना दूसरे काम में हाथ लगाना ही मुश्किल हो जाता है। वह तो मानो आजकल रामनाम हो गई है। इसी प्रकार और भी बहुत सी नशीली चीजे है, जिनसे आप बचने की कोशिश करेंगे तो आपके जीवन मे एक सच्ची शान्ति मिलेगी।

दिल्ली,
माघ शुक्ला, १३

२५ : कार्यकर्त्ताओं से

अधिक शिक्षा देने से इधर मेरी रुचि हटती जा रही है और मैं यह अनुभव करता हूँ कि हर मनुष्य को शिक्षा लेने का अभ्यास ज्यादा होना चाहिए। जैन शास्त्रो मे शिक्षा के दो प्रकार बतलाये गये हैं—आसेवन और ग्रहण। तत्त्व-विवेचन, शब्द की व्याख्या, प्रवचन करने की विधि आदि-आदि की शिक्षा लेना ग्रहण-शिक्षा कहलाती है। आसेवन-शिक्षा का मतलब है—जीवन को कैसे उन्नत बनाना। वह सुनने की नही, जीवन में उतारने की है। महत्वपूर्ण होते हुए भी आज वह कम काम कर रही है। इसका मतलब यह नही कि यह काम करती नही, पर कुछ कम। इसीलिये शिक्षा देने से मेरा मन हटता जा रहा है। यह कोई निराशा और पलायन नही है। पर मेरा लक्ष्य वस्तुस्थिति बताने का है।

आसेवन नही होने के दो कारण हैं। भोजन के उदाहरण से इसे अधिक स्पष्ट जाना जा सकेगा। जिस प्रकार अगर कोई भोजन नही करता है, तो उसके दो कारण है। एक तो भूख न लगे तो भोजन नही किया जाता और दूसरे उसके बन्द होने पर नही किया जाता। यदि पहला कारण है तो उसमे डरने की कोई बात नही है। पर अगर बीमारी के कारण भूख लगती ही नही, तो यह अच्छा नही है। चतुर डाक्टर सबसे पहले उसके भूख नही लगने का कारण ढूंढेगा। इसी प्रकार शिक्षा के आसेवन नही होने में पहला कारण हो तो डरने की बात नही है। क्योकि उनका जीवन स्वय ही इतना पूर्ण होगा कि उसे शिक्षा की आवश्यकता ही नही रहेगी। पर अगर दूसरा कारण है तो उसके निवारण का उपाय करना ही होगा। अगर मैं वैद्य हूँ, तो कहूँगा—आज समाज में आत्म-निरीक्षण का अभ्यास नही है। यही बीमारी है। यदि इस बीमारी को मिटाना है तो हमें समाज में आत्म-निरीक्षण की भावना पैदा करनी होगी।

अणुव्रत आज सर्वमान्य हो गये हैं। योजना सुन्दर है, इसमें दो मत नही। पर उसे यदि अपने जीवन में उतारें ही नही तो केवल योजना क्या कर सकती है? वह कोई द्रव्य तो है नही, जो ढेर सा दीखने लगे। "न धर्मो धार्मिकै. विना।" धार्मिको के बिना धर्म कुछ भी अर्थ नही रखता। इसी प्रकार अणुव्रत अपने आप में कुछ नही है। उसका कुनाम या सुनाम धार्मिको पर ही आधारित है। वे तो व्रत हैं, जो पुस्तको में लिखे पडे हैं। अत. आवश्यकता है, आज उन्हें जीवन मे उतारने की। अगर वे जीवन में उतर जाते हैं, तो मैं समझता हूँ, वह बहुत बड़ा काम हो जाता है। और इसी काम को मैं प्राथमिकता देता हूँ। जब तक

यह काम नही होगा तब तक केवल उपदेशों से वे पनप नही सकते। उपदेश असर करते है ही नही, ऐसा तो मै नही मानता, क्योकि आठ वर्षो से इसका काम चला आ रहा है, इस अर्से में कुछ काम हुआ भी है। पर जितनी मात्रा में होना चाहिये था, उतना नही हो पाया। इसमें बहुत कुछ दुविधाएँ भी आयी है, पर आप कार्यकर्त्ताओ को उन्हें भी पार करना होगा।

संख्या में मेरा विश्वास नही है। कभी-कभी हम देखते है—एक व्यक्ति ही इतना काम कर देता है, जितना हजारो नही कर सकते। पर, हमारे पास ऐसे व्यक्ति कम है। ऐसी स्थिति मे हमें आत्म-निरीक्षण करना है कि इसका क्या कारण है। हम जो काम करते है, उसमे हमारा व्यक्तिगत या साम्प्रदायिक कोई स्वार्थ तो नही है? पर तो भी वह अभिलषणीय मात्रा में हो नही रहा है। यही कारण है कि हमारे कार्यकर्त्ताओ का जीवन इतना ज्वलन्त नही कि उससे दूसरे लोग प्रेरणा पा सके। अत आज मै उनसे यह कहूँगा कि वे अपने जीवन का निरीक्षण करें। वे सोचे—उनका जीवन पवित्र है या नही? वे जो कुछ बोलते है, वैसा आचरण करते हैं या नही? इस प्रकार ऐसा आत्म-निरीक्षण करनेवाले व्यक्ति जितने अधिक होगे, हमारा काम उतनी ही तीव्र गति से बढ सकता है।

मै यह भी देखता हूँ कि कुछ कार्यकर्त्ताओ में काम करने की ललक है। पर उनमें से कुछ लोगो मे अह वृत्ति आ जाती है। अगर कोई दूसरा काम करता है तो वे सोचते है—देखें, यह इसमें कितना सफल होता है। हमारे सहयोग के बिना यह कितना काम कर सकता है? और इस प्रकार वे एक दूसरे का सहयोग ही नही करते, असहयोग कर बैठते है। यह अच्छा नही है। होना तो यह चाहिए कि कोई भी काम करे, वह सब आपका ही काम है, अत आप सब उसमे सहयोग दे। पर मान ले किसी कारण-वश आप सहयोग नही कर सकते, तो असहयोग तो न करें।

कार्यकर्त्ताओ को एक बात और ध्यान में रखने की है कि उन्हें उतना ही काम हाथ में लेना चाहिए, जितना उनका सामर्थ्य हो। काम को हाथ में लेकर उसे पूरा नही करना, आन्दोलन की गति को मन्द कर देना है। मैं मानता हूँ कि जो काम होनेवाला है, वह होकर ही रहेगा। और मुझे लगता है कि ससार आज सहार के उत्कर्ष पर आ गया है। क्या अब उसकी स्थिति वैसी ही बनी रहेगी? क्या दुनिया का दुर्भाग्य चलता ही रहेगा? संसार की नाजुक स्थितियो में हमेशा कुछ शक्तियाँ आगे आयी है और अब भी जरूर कोई शक्ति आगे आनेवाली है, इसमें सन्देह नही।

चूरू,
(कार्यकर्त्ता-सम्मेलन)

२६ : अणु-अस्त्रों की होड़

आज सिंहावलोकन की वेला है। विश्व प्रगति की चोटी पर पहुँच चुका है। अब सन्तुलन की जरूरत है। एकागी प्रगति ने विश्व को विपदा के तट पर लाकर खडा कर दिया है।

एक ऐसी अनुश्रुति है—राक्षस से भिडो मत, टल कर चले जाओ।

स्पर्धा से सहार को बल मिलता है। भय, आशका और शस्त्र तथा अभय, विश्वास और अहिंसा जगत मे नही बढते। इनका विकास भय, आशका और शस्त्रो की प्रतिस्पर्धा से होता है।

प्रतिस्पर्धा कभी-कभी क्षम्य हो जाती है। आज वह अक्षम्य है। जनता ने अपना भाग्य राजनीतिक नेताओ को सौंप रखा है।

वे अपना दायित्व निभाने में सफल नही हो रहे हैं। विश्व का अधिक जनमत युद्ध और सहारक अस्त्र-शस्त्र निर्माण करने के पक्ष मे नही है।

कुछ एक बडो को भय और अविश्वास सता रहा है। वे अपने विरोधियो को मिटाने के लिए स्वय अपने मिटने की स्थिति पैदा करते जा रहे हैं।

दूसरो को मिटाकर कोई बच जायगा, यह अनहोनी वात है। आज की स्थिति जितनी उलझी हुई है उतनी ही स्पष्ट है। सँभालने की आवश्यकता उन बडो को है जो विराट जनता के भाग्य की सुरक्षा का दायित्व लिये हुए हैं।

अगर समय रहते वे न सँभल सके तो जनता को भी अपने अधिकार की उपेक्षा नही करनी चाहिए।

क्रान्ति का सूत्र सदा जनता के हाथ मे रहता है। हिंसात्मक क्रान्ति के बाद भी स्थिति सुलझी नही है। अहिंसक क्रान्ति के सन्देशवाहको के लिए कसौटी का समय है।

ये युद्ध और अस्त्र-निर्माण के विरुद्ध जनमत को जगाएँ। जनमत को जागृत करने के सिवा इनके प्रतिकार का कोई भी विकल्प सरल नही रहा है।

जागृत जनमत की उपेक्षा कर कोई भी राष्ट्र इन स्थितियो को अधिक लम्बा नही कर सकता। दूसरे महायुद्ध की समाप्ति पर मैंने एक क्रान्तिकारी सन्देश में सुझाया था कि विश्वशान्ति के लिए सहारक अस्त्र-शस्त्रो का निर्माण एकवारगी वन्द किया जाय।

कुछ लोगो ने इसे सुना किन्तु जिसे सुनना चाहिए था उन लोगो ने न सुना।

सहारक अस्त्रो का निर्माण वरावर चलता रहा और अब वह चरम विन्दु पर पहुँच रहा है।

पश्चिमी जर्मनी के अणु-वैज्ञानिक अपने राष्ट्र को अणु-अस्त्रो से सज्जित करने का विरोध कर रहे है।

इङ्गलैण्ड मे एक शान्तिवादी संगठन "पीस प्लेज यूनियन" बना है, जिसकी सदस्य-सख्या दस-ग्यारह हजार बतायी जाती है। वह युद्ध सामग्री के निर्माण का विरोध कर रहा है।

दुनिया के बडे-बडे दार्शनिक विचारक और वैज्ञानिक भी संभावित खतरे की ओर सकेत कर रहे है।

अणु का विरोध करनेवाले शान्तिवादी सफल नही हो रहे हैं। उनका स्वर क्षीण है। वे पूरे जनमत को जगा नही सके हैं। इसलिए उनकी बात कोई भी राष्ट्र नही सुन रहा है।

आणविक-अस्त्रो के निर्माण, परीक्षण और संग्रह को स्थगित करने के लिए कोई भी तैयार नही है। वे अणु-अस्त्रो को ही अपने लिए सुरक्षा और विपक्ष के लिए निरोध मान रहे है। यह किसी एक का ही नही व्यापक दोष हो रहा है।

सहारक स्थिति पैदा करनेवाला कोई भी अच्छा नही है, भले फिर वह असाम्यवादी हो या साम्यवादी। साम्यवाद या असाम्यवाद ये गौण प्रश्न है। मूल प्रश्न मानवता का है। मानवता को मिटानेवाले ये मानव स्वय मिट जायेगे तब वाद किसका रहेगा ?

आज के राजनीतिज्ञ राजनीति के घेरे को तोड बाहर देख-सुन नही रहे हैं। जो राजनीति से परे मानवतावादी है उन्हे वे कुछ समझते ही नही, ऐसा लगता है।

राजनीति को सर्वाधिक महत्त्व देकर जनता क्या अपने लिए गहरा गड्ढा नही खोद रही है ?

भौतिक सुख-सुविधाओ को ही जीवन का सर्वस्व मानकर उसके लिए दूसरो की सता छीननेवाले क्या प्रलय को बुलावा नही दे रहे हैं ?

निःशस्त्रीकरण की चर्चा लम्बे समय से चल रही है। सेना और सैनिक-व्यय की कमी के प्रस्ताव भी कभी से रखे जा रहे है। अणु-अस्त्रो के निर्माण, परीक्षण और सग्रह को रोकने के लिए सुझाव भी कभी से आ रहे है। किन्तु कुछ बन भी नही पा रहा है। इसका कारण आपसी भय और आशका है। इनके मिटे बिना विपफल अमृत नहीं बनेंगे।

अभय और विश्वास का साधन मैत्री है।

आज की दुनियाँ मे आपसी सम्पर्क कम नही है। इसके होते हुए भी या तो एक दूसरे को समझ नही रहा है या समझने पर जो सद्भावना मिलनी चाहिए, वह नहीं मिल रही है।

दूसरो को हीन या अधिकारशून्य बनाये रखने की बात गलत है। उसका निश्चित परिणाम सघर्ष है। दो विरोधी विचार दुनियाँ में एक साथ रह सकते हैं, यह हृदय से नही समझा गया है।

विचार-परिवर्तन के लिए बल-प्रयोग के तरीके अब भी चल रहे हैं।

ग्राह्य और अग्राह्य विचार की निश्चित परिभाषा नही हो सकती। जो जनता को ग्राह्य लगेगा वह विचार टिकेगा और जो ग्राह्य न लगेगा वह मिट जायगा।

किसी एक विचार का आग्रह करनेवाले अग्राह्य के परिणाम की भय-करता को असमय में, समय से पहले ही ला देते हैं।

मैत्री-भाव के विस्तार के लिए आग्रह को छोड़ देना आवश्यक है।

अणुव्रत-आन्दोलन के साथ मैत्री का गहरा सम्बन्ध है। इसीलिए मैत्री के रूप मे "मैत्री-दिवस" मनाने का निश्चय हमने किया। इस वर्ष दिल्ली मे उसका प्रारम्भ हुआ।

इसका कार्यक्रम है—सरलतापूर्वक अपनी भूलो के लिए दूसरो से क्षमा माँगना और दूसरो की भूलो को क्षमा करना।

यूनेस्को के डाइरेक्टर जनरल लूथर इवान से इसे व्यापक बनाने के बारे मे बातचीत चली थी और उन्होने ऐसा करना चाहा भी था।

पण्डित नेहरू ने विश्वशान्ति के लिए पचशील के रूप में एक वैज्ञानिक हल प्रस्तुत किया था किन्तु उसका भी हार्दिक पालन नही हो रहा है, ऐसा लगता है। शक्ति पर आधारित नीति को ही प्रश्रय मिलता रहा तो स्थितियाँ सुलझने की अपेक्षा और अधिक उलझ जायेंगी।

आध्यात्मिकता से सन्तुलित प्रगति ही टिक सकती है और जगत के लिए भयकर नही होती। राजनीतिक मस्तिष्क से ही शान्ति की बात सोचनेवाले राजनीतिज्ञ मानवता की दृष्टि की उपेक्षा न करे। मानवता के बिना मानव की दुर्गति हो जायगी। लाखो, करोडो शान्तिवादियो और मानवता-वादियो की आन्तरिक पुकार उपेक्षणीय होगी उसका परिणाम राजनीतिज्ञों के लिए भी इष्ट नही होगा।

अगर सुनें तो मैं दुनिया के छोटे और बडे सबो को यह सुनाना चाहता हूँ कि वे एकबार फिर सिंहावलोकन करें।

चूरू,
मैत्री-दिवस, '५७

२७ : पुरुषार्थ के भेद

संसार में चार पुरुषार्थ माने गये है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। कई आचार्यों ने इनकी सख्या तीन भी मानी है। उसकी व्याख्या करते हुए वे एक जगह लिखते हैं

'त्रिवर्ग ससाधनमतरेण, यशोरिवायुर्विफल नरस्य।
तत्रापि धर्म प्रवर वदन्ति, न त बिना यद्भवतोऽर्थकामौ ।।

अर्थात् धर्म, अर्थ और काम इन तीनो पुरुषार्थों को जो मनुष्य नही अपनाता, उसका जीवन पशुओ के सदृश निरर्थक है। यद्यपि पशु भी कोई बिल्कुल निरर्थक ही हों, ऐसा तो नही है। पर फिर भी उनमे विवेक की कमी होती है। उनके पैरो मे अगर कोई रस्सी आ जाती है तो उन अज्ञानियो में इतना ज्ञान भी नही होता कि वे उसे निकाल लें। वलिष्ट होने पर भी वह तडपेगा पर फिर भी वह उससे मुक्त नही होता। इसी-लिए अज्ञानी मनुष्यो को शास्त्रो में जगह-जगह मृग कहा गया है।

पर इन तीन पुरुषार्थों में भी धर्म को सबसे बडा माना गया है। प्रश्न होना सहज है, क्यो ? धर्म को इतना महत्त्व क्यो दिया गया ? इसी-लिए कि बिना इसके अर्थ और काम भी नही सधते। भारतीय चिन्तन-धारा मे यद्यपि यह माना गया है कि काम और अर्थ अपने पुरुषार्थ से ही होते हैं। पर उनमें पुण्योदय भी नितान्त अपेक्षित है। उसके बिना ये दोनो भी नहीं सव सकते। यह भी सही है कि पुण्य और धर्म दोनों ये भिन्न तत्त्व हैं। धर्म है आत्म-शुद्धि का साधन और पुण्य है उसके साथ होनेवाला शुभ वन्धन। उदाहरण के लिए जैसे दीपक को लें। उससे प्रकाश के साथ-साथ काजल भी पैदा होता है। यद्यपि उसका मूल स्वभाव प्रकाश करना है, पर फिर भी उसके साथ काजल भी पैदा हो जाता है। तो क्या इससे प्रकाश और काजल दोनो एक हो गये ? नही। इसी प्रकार धर्म और पुण्य का भी सम्बन्ध है। धर्म से आत्मशुद्धि होती है और इसके साथ-साथ पुण्य-वन्धन भी। मोक्ष प्राप्ति पर तो ये भी अन्त में छूटेंगे ही। क्योकि आखिर हैं तो वन्धन ही, वेडी ही। इसे आत्मा का धर्म मानना विल्कुल गलत है। इसीलिए कविवर यशोविजय जी ने कहा है·

शुद्धा योगा यदपि यतात्मना श्रवन्ते शुभ कर्माणि।
काञ्चन निगडा रतांनपि जानीया, हत निवृन्ति शर्माणि ।।

हमारी अच्छी प्रवृत्ति से सत्कर्म पुण्य का वन्धन होता है। पर आखिर है तो वेड़ी ही। हो सकता है वह वेडी लोहे की नही हो, सोने की हो। पर है तो आखिर वेडी ही। लोग सोने के आभूषणो से प्रसन्न होते है,

और लोहे की बेडियो से दु.खी। पर तत्त्वत· धातु की दृष्टि से दोनो में क्या भेद है? क्या सोने का वजन नही होता? पर मनुष्य ने सोने को अच्छा मान लिया है। अत. उसे उसका बोझ मालूम नही पडता। इसी प्रकार शुभकर्म-बन्धन भी अन्तत तो त्याज्य हैं।

धर्म सहज साधना है और पुण्य उसका प्रासागिक फल। जिस प्रकार अन्न के साथ भूसा पैदा होता है, उसी प्रकार धर्म के साथ पुण्य-बन्धन हुए बिना नही रहता। यदि कोई मनुष्य कहे कि उसे तो केवल अनाज ही चाहिए, भूसा नही, तो क्या यह सभव है? हाँ, यह ठीक है कि बीज जितना अच्छा होगा, उतना ही भूसा कम होगा, अनाज ज्यादा होगा। पर बिल्कुल न हो यह तो सम्भव नही है। उसी प्रकार धर्म के साथ पुण्य बन्धन होगा। हो सकता है, उसकी मात्रा कम हो। तब फिर यहाँ एक प्रश्न और आता है—जो मोक्षार्थी है, अर्थ-सिद्धि जिसका लक्ष्य नही है, उसकी बन्धन-मुक्ति कैसे होगी? क्योकि प्रत्येक शुभ क्रिया के साथ पुण्य का बन्धन लगा हुआ है। इसका समाधान यह है कि जिस प्रकार अच्छे बीज से भूसा कम पैदा होता, उसी प्रकार जिस आत्मा मे कषाय की मन्दता अधिक होगी, उसमें पुण्य-बन्धन का घनत्व भी उतना ही कम होता चला जायेगा। कषाय के सर्वथा मुक्त होने के बाद आखिर में एक ऐसा स्थान भी है, जहाँ बन्धन का सर्वथा अभाव हो जायेगा। वहाँ केवल निर्जरा रहेगी। कषाय यानी राग-द्वेष। इसीलिए साधक कार्य-क्रिया काण्डो की अपेक्षा कषाय-मुक्ति पर ज्यादा जोर देते है। यद्यपि मैं यह नही कहता कि सब बाहरी क्रिया-काण्ड व्यर्थ ही हैं। पर जब तक कषाय में कमी नही आती, उनका फल भी वैसा नही मिलेगा। भरत जी ने महलो में बैठे ही केवल-ज्ञान प्राप्त कर लिया। पर इस तथ्य से भी आँखें नही मूँदी जा सकती कि जितनी कषाय-मुक्ति होती जायेगी, साधक क्रिया-काण्डों से उतना ही विरक्त होता चला जायेगा। जैसे प्रति-लेखन, प्रति-क्रमण, एक गाँव में एक महीने से अधिक नही रहना, ये सब हमारे लिए आवश्यक है पर कल्पनातीत के लिए ये बन्धन नही हैं। यद्यपि कल्पातीत का भी यह अर्थ नही है कि वे जो कुछ भी करें। पर स्वभावत. ही वे ऐसा करते ही नही। और जो कुछ करते है, वही सही बन जाता है, क्योकि उनमें प्राणेय राग-द्वेष नही है। इसीलिए कहा गया है :

रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा, वाक्य मुच्यते ह्यनृतम्।
यस्य तु वैरो .दोषास्तस्यानृत कारण किं स्यात्॥

कोई भी आदमी झूठ बोलता है तो उसका कारण है—राग, द्वेष और मोह। पर जिसमें ये दोष नही हैं, उसके झूठ बोलने का कारण ही क्या

रह जाता है ? अत. कल्पातीत होने पर जब राग, द्वेष और मोह का नाश हो जाता है तो उसके झूठ बोलने का असदाचरण का कारण ही नही रह जाता।

रामायण में एक प्रसंग आता है—वसु नाम का एक राजा बडा सत्यवादी था। कहा जाता है सत्यवादिता के कारण उसका सिंहासन अधर आकाश मे टिका रहता था। एकबार कुछ ब्राह्मणों में विवाद हो गया। विवाद का कारण था—कुछ ब्राह्मण यह कहते थे कि वेद में जो 'अजैर्यष्टव्य' पद्य है। उसका मतलब है बकरे की बलि से होम करे। पर नारद का मत था कि 'न जायते इति अजा ब्रीह्य.'। 'अजैर्यष्टव्य' का मतलब है पुराने धान की आहुति देनी चाहिए। विवाद बढते-बढते इतना बढ गया कि उन्हें अन्तिम निर्णय के लिए राजा वसु की शरण लेनी पडी। वसु के लिए भी यह एक बडी समस्या हो गई। क्योकि एक तरफ उसके स्वजन थे जो बकरे की आहुति का समर्थन करते थे और दूसरी तरफ था सत्य का पक्ष। वह बडा पेशोपेश में पड गया। आखिर स्वजनो का दबाव अधिक पडा और निर्णय मे उसे कहना पडा कि 'अजैर्यष्टव्य' का मतलब है बकरे की आहुति। कहते हैं उसी वक्त उसका सिंहासन नीचे गिर पडा और वह नष्ट हो गया। अत इस झूठ बोलने का कारण था राग। इसी प्रकार स्वार्थ के कारण हिंसा को भी अहिंसा कह दिया जाता है। जैसे अगर कोई व्यक्ति किसी को मार दे तो उसे फाँसी का दण्ड दिया जाता है वही व्यक्ति अगर लडाई के मोर्चे पर लाखो जवानो को भी मार दे तो उसे कोई दण्ड नही दिया जाता। उल्टे उसकी पीठ ठोकी जाती है। उसे 'पद्म-विभूषण' और 'महावीर-चक्र' से सम्मानित किया जाता है। यह क्यो ? इसलिए कि इसमें देश का स्वार्थ है। हो सकता है, वह स्वार्थ व्यक्तिगत स्वार्थ न हो पर किसी भी अवस्था में स्वार्थ आखिर स्वार्थ ही है। हम इसमे धर्म नही कह सकते क्योकि यहाँ धर्म का सवाल नही है ; रक्षा का सवाल है। अत. यह आध्यात्मिक धर्म नही। नीति हो सकती है। विनोवाजी ने भी कितना सूक्ष्म देखा है। वे कहते है—युद्ध करना तो हिंसा है ही पर युद्ध मे आहत व्यक्तियो की परिचर्या करना भी अहिंसा नही है। हाँ, यह सहयोग हो सकता है, पर इसे अहिंसा मानना जरूरी नही।

भिक्षु स्वामी ने भी यही कहा है। एक व्यक्ति उनसे पूछता है—"भीखणजी ! शेर को मारने में हिंसा है या अहिंसा ?" उन्होने स्पष्ट कहा—वह अहिंसा नही, हिंसा है। पर चूंकि सामाजिक लोग उसे छोड नही सकते अतः वे उसकी हिंसा करते हैं। पर तत्त्वत. वह अहिंसा नही है। अगर वही अहिंसा होती तो मुनि के पास शेर आने पर वे शान्त क्यो रहते ?

वे भी उसे मारते। तब लोग कहेंगे यह तो बडा अव्यावहारिक सिद्धान्त है। भला शेर मारने को आए और उसे मारो मत। तब तो थोडे ही दिनो में ससार उजड नही जायेगा ? पर आपलोगो को यह भी अच्छी तरह से समझ लेना है कि यह आदर्श की बात है। और यह आवश्यक नही है कि प्रत्येक व्यक्ति आदर्श तक पहुँच ही जाये। आदर्श वह नही जिसपर कोई चल ही नही सके। और न वह आदर्श है जिसे कोई भी नही अपना सके। वह तो जीवन का प्रकाश-स्तम्भ होता है, सही चिन्तन है। सब लोग अपना सके और न अपना सके, इसपर आदर्श का निर्णय नही होता।

इस प्रकार असत्य आचरण का कारण जिनमे नही है वे कल्पातीत होते हैं और उनके लिए वाह्य क्रिया-काण्डो का इतना बोझा नही रहता। वे जो कुछ करते हैं वही दूसरो के लिए करणीय बन जाता है। अस्तु।

हाँ, तो हमारा प्रकरण चल रहा था कषाय की ज्यो-ज्यो मुक्ति होती जायेगी त्यो-त्यो पुण्य-बन्धन के घनत्व मे भी कमी आती जायेगी। अत. मोक्षार्थी प्राणी जब कषाय मुक्त बन जायेगा तो उसकी क्रिया से पुण्य-बन्धन इतना क्षीण हो जायेगा कि उसके प्रतिकार की कोई अलग से आवश्यकता नही रहेगी। वह अपने आप नष्ट होता जायेगा, और अन्तिम अवस्था में सक्रिय होकर वह मुक्त बन जायेगा। यद्यपि अर्थ और काम की प्राप्ति में पुरुषार्थ की भी आवश्यकता है। पर धर्म के बिना केवल पुरुषार्थ भी कुछ नही कर सकता। अत सब दृष्टियो से ही धर्म एक ऐसा तत्त्व रह जाता है जिसे मनुष्य को करना ही चाहिए। पर इसमे एक ख्याल रखने की आवश्यकता है कि धर्म अर्थ और काम के लिए नही किया जाना चाहिए। यदि इनके लिए धर्म जैसे विशुद्ध तत्त्व को खपा दिया गया तो वह तो करोड़ो की सम्पत्ति को कौडी मे बेचने जैसी बात होगी। आज यह होता है, साधना को भौतिक प्राप्ति के लिए खपाया जाता है। मनुष्य धार्मिक बनता है पर मुक्ति के लिए नही अपने पापों को छिपाने के लिए। यह केवल वाह्याचार है। कष्ट सहकर भी साधना को तुच्छ मूल्य पर बेचने जैसा कार्य है। केवल कष्ट सहना ही साधना नही है। कष्ट तो बहुत से लोग सहते हैं पर स्वार्थ के लिए, परमात्मा के लिए नही। टॉलस्टाय ने एक जगह कहा है—'ईसा के बलिदान, त्याग और कष्ट सहिष्णुता की सब लोग प्रशसा करते हैं। पर क्यो ? क्या ससार में अधिक लोग ऐसे नही हैं जो ईसा से भी ज्यादा कष्ट सहते हैं ? तब फिर उनकी प्रशसा क्यों नही की जाती ? इसका कारण यही है कि ईसा ने बलिदान किया परमात्मा के लिए निस्वार्थ रूप से। दूसरे लोग बलिदान करते हैं केवल अपने स्वार्थ के लिए। बस यही कारण है ईशा का कल्याण हुआ और दूसरे लोग कष्ट

सहकर भी उल्टे डूबते जाते है।' साराश यही है कि धर्म जैसी शुद्ध वस्तु को ऐहिक प्राप्ति का साधन नही बनाना चाहिए। वह तो स्वय होता है पर उसका उद्देश्य नही होना चाहिए।

लाडनू,

२८ : त्याग का महत्त्व

कई लोग कहते है—साधुओ को नमस्कार क्यो किया जाये? इसमें समझने की बात इतनी ही है कि—नमस्कार कोई चादर और ओघे (रजो-हरण) को तो किया नही जाता। नमस्कार किया जाता है—त्याग को। और त्याग को नमस्कार करने से कुछ हानि होती हो, ऐसा भी नही है। उलटा इससे लाभ ही होता है। त्याग को नमस्कार करने से त्याग के प्रति लोगो की श्रद्धा बढेगी। क्या यह आवश्यक नही है? क्या आप यह चाहेंगे कि लोग भोग को नमस्कार करे? यदि आप यह नही चाहते तो अवश्य ही आप को त्याग के प्रति नम्र होना ही पडेगा। मनुष्य या तो स्वय त्यागी बने या त्यागियो के प्रति झुके। इसके सिवाय त्याग की प्रतिष्ठा का कोई रास्ता नही है, और त्याग के रास्ते में तो आप को झुकना ही पडेगा। भोग में स्पर्धा हो सकती है, एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से ज्यादा भोग-सामग्री प्राप्त करने की चेष्टा कर सकता है। पर त्याग के मार्ग में प्रति-स्पर्धा नही है। वहाँ तो मनुष्य को स्वय को खपाना पडता है। वह भी केवल अपने परम उत्थान के लिए। जैन आगमो में इस सम्बन्ध मे एक कथा आती है :

दशार्ण देश का राजा दशार्णभद्र एकबार यह सुनकर कि उसके नगर में तपोनिष्ठ भगवान् महावीर पधारे है, बडा खुश हुआ और सोचा मुझे भी भगवान् की पर्युपासना करनी चाहिये। पर साथ ही साथ मै भगवान् के पास इस रूप मे जाऊँ कि जिस रूप में आज तक कोई नही गया है। यह सोच अपनी सारी सेना व नागरिको को सजाकर वह भगवान के दर्शन करने के लिए अपने राज-प्रासाद से निकल पडा। मार्ग में ज्यो-ज्यो वह अपनी सवारी को निहारता जाता था, त्यो-त्यो मन में फूला नही समा रहा था और उत्कर्ष में वहा जा रहा था कि मेरे जैसी सम्पदा सहित न तो आजतक भगवान के दर्शन करने कोई गया है और न आगे जायेगा। इधर इन्द्र ने अपने देवलोक में अवधि-ज्ञान के उपयोग से पृथ्वी का हाल देखते हुए दशार्णभद्र के उत्कर्ष को देखा। वह मन ही मन हँसने लगा कि मनुष्य में कितनी दुर्बलता होती है? पर अनायास उसके मन में आया कि आज

तो मुझे इसका मान-मर्दन करना ही चाहिए। कमी किसी बात की थी नही। उसी समय उसने विकुर्वणा के द्वारा एक अति विशाल लवाजमे का निर्माण किया और आकाश-पथ से भगवद्-दर्शन के लिए उतर पडा। दशार्ण-भद्र ने इन्द्र का यह ठाट देखा तो अवाक् रह गया। जो उत्कर्षशील होता है, उसे लज्जा भी उतनी ही अधिक महसूस होती है। अत इन्द्र के इस ठाट-बाट को देखकर वह लज्जा से पृथ्वी मे धँसने लगा। विचारने लगा—अब मैं क्या करूँ? सोचते-सोचते उसके मन में आया—भौतिक-स्पर्धा से मैं अब इन्द्र को जीत सकूं यह सर्वथा असम्भव है। अब उसके विचारों ने करवट ली और सोचने लगा—यह भौतिक-स्पर्धा बडी बुरी होती है। मैंने बिना समझे यह काम किया। अब अगर मेरी लज्जा किसी प्रकार बच सकती है तो उसका एक ही मार्ग है कि मैं इस भौतिक-स्पर्धा को छोड़ भगवान् के चरणो मे लेट जाऊँ। और उसने यहीं किया। भगवान् के पास आकर हाथ जोड़कर कहने लगा—"देव! मैंने भौतिक-स्पर्धा का खेल देख लिया है। अब मुझे आप आत्म-साधना का पथ दिखाये और मुझे मुनि-धर्म में प्रव्रजित करे। अब इन्द्र अवाक् था। हाथ जोडकर वह दशार्णभद्र के पैरो पर गिर पडा और कहने लगा—महात्मन्! अब मैं आपके आगे नत हूँ। भौतिक-स्पर्धा में मैंने आपको पराजित कर दिया पर इस आत्म-साधना के आगे मैं आपसे पराजित हूँ और आपसे आपकी आशातना के लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।"

देखा आपने त्याग का महत्त्व? एक इन्द्र को भी त्याग के सामने झुकना पडता है। तो मनुष्य की बात ही क्या? हालाकि साधु यह नही चाहते कि आप उनके पैरो में पडे। इससे उनका कोई महत्त्व नही बढ़ता है। यदि वे ऐसा चाहते हो तो उनकी साधना में कमी आ जाती है। वह तो आपकी नम्रता है। पर यह तो स्वयं आपके सोचने की चीज है कि आप त्याग का आदर किस प्रकार कर सकते है? मैं मानता हूँ कि सारे शरीर में सिर का सबसे ऊँचा स्थान है। वह सब जगह झुक जाये यह मुश्किल भी लगता है और आज तो वह माता-पिता के सामने झुकने में भी सकुचाता है। पर अगर आप त्याग को महत्त्व देते है तो आपको उनके सामने तो सिर झुकाना ही पडेगा। साधुओ के सामने झुकना कोई गुलामी नही। गुलामी तो वह होती है जब आपको कोई भौतिक आकाक्षा हो। साधुओ के सामने झुकते आपमें कोई आकाक्षा नही होती। अत. यह गुलामी कैसी? और भारत का तो यह आदर्श रहा है और आज भी है कि त्याग के आगे हमेशा लोग झुकने के लिए तैयार है।

यह तो पश्चिम की सभ्यता है कि वह धन और सत्ता को सिर झुकाती

रही है। हमारे यहाँ बडे-बड़े सम्राटों का और ज्ञानियों का सिर भी अकिंचन साधुओं के सामने झुक जाता है, फिर साधारण धनी और ज्ञानी की तो बात ही क्या है? हमारे यहाँ धन और शिक्षा से ज्यादा आचार को महत्त्व दिया गया है। इसीलिए कहा गया है—'आचार प्रथमो धर्मः'। मैं मानता हूँ कि भारत की जबतक यह आस्था रहेगी तबतक यहाँ की धुरी गलती की ओर नहीं जायेगी। हमें उसकी रक्षा करनी है और आज के अर्थ-प्रधान विश्व को त्याग की ओर झुकाना है।

एक प्रश्न आता है—अगर साधु श्रावको को अपने पैरो में झुकाना नही चाहते तो दर्शन करने का वधा (नियम) क्यों दिलाते हैं? पर यहाँ दर्शन का मतलब है—सम्पर्क। अगर लोग साधुओ का सम्पर्क करते रहें तो वे उनसे प्रतिदिन जीवन-शुद्धि की प्रेरणा पा सकते हैं, और यह तो उल्टा तर्क है कि साधु अपने पास ठाट चाहते हैं। पर उन्हें न एकान्त से मोह है और न ठाट से। उनके लिए दोनो ही समान हैं।

लाडनूं,
(प्रातःकालीन प्रवचन)

२६ : पवित्र जीवन

अपरिग्रह में मेरी निष्ठा है। यदि मेरे सामने अणुव्रत नही होता तो संसार की स्थिति ऐसी है कि मुझे कहना पड़ता, परिग्रह मे मेरी निष्ठा है। भला आज सन्तो को छोडकर और अपरिग्रह में निष्ठा है किसकी? सब लोग यही सोचते है कि कैसे उनके पास ज्यादा से ज्यादा परिग्रह हो। पर आज तो स्थिति बडी विकट हो गई है। उन लोगो से जिन्होने कल का अखबार देखा है, कुछ छिपा नही है। अबकी बार के बजट और नये करो ने पूँजी पतियो की तो खूब ही खबर ली है। हम हमेशा अपरिग्रह की बात कहा करते थे पर हमारी कौन सुनता है? अब सरकार स्वय सबको अपरिग्रह के रास्ते पर ला रही है। अब भी अच्छा है, लोग सँभल जायें। सरकार आपपर नियन्त्रण करे इसकी अपेक्षा आप स्वय अपने पर नियत्रण कर ले तो कितना अच्छा? पहले लोग अणुव्रत की हँसी उड़ाते थे। कहते, यह क्या आन्दोलन चलाया जा रहा है? पर आज तो कदम-कदम पर इसकी उपयोगिता नजर आ रही है। हमारे ऋषि-मुनियो ने हमेशा उपदेश दिया है—"महारम्भी और महापरिग्रही मत बनो।" आज उसके सही होने का जमाना सामने आ रहा है।

यद्यपि व्यापारी बडे होशियार होते है पर सरकार भी उनकी पूरी खबर लेती है। व्यापारियो ने गलत खाते रखने शुरू कर दिये तो सरकार भी कब चूकनेवाली थी। उसने २०-२० वर्षके पुराने खाते देखना शुरू किया। अब सारे पूंजीपति घबराते है। आप कहेंगे पूंजीपति कितने है? पर सवाल यह नही है कि पूंजीपति है कितने? सवाल तो यह है कि पूंजीपति बनना कौन नही चाहता? जब तक यह चाह मिट नही जाती तब तक ससार में शान्ति होनेवाली नही है। सरकार की आँखें पूंजी पतियो पर लगी हुई हैं। वह तरह-तरह के टैक्स लगाकर उनसे रुपये ऐंठना चाहती है। और सरकार के क्या कोई भण्डार थोड़े ही भरे पड़े हैं? सुना करता था चक्रवर्त्तियो के धन के भण्डार भरे रहते थे। पर नेहरू—सरकार के पास खजाना कहाँ से आये? वह तो आप लोगो से ही टैक्स लेने वाली है। इसीलिए तो जहाँ कही देखो आयकर, व्ययकर, मृत्युकर, सम्पत्तिकर लग रहे हैं। अतः अब भी समय है, आप लोग सँभल जायें। महारम्भ और महापरिग्रह आदि को छोडकर जीवन को सादा और पवित्र बनायें।

३० : शांति का मार्ग त्रिवेणी

श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र यह त्रिवेणी है। पर इनमें भी श्रद्धा—दर्शन का स्थान प्रमुख है। इसीलिए कहा गया है—"नादसणिस्सनाण"। यह सच है, श्रद्धा की आँख नही होती। जबतक श्रद्धा होती है तबतक श्रद्धेय की कोई बात नही खलती। और जहाँ श्रद्धा डिग जाती है वहाँ फिर पग-पग पर पैर लडखडाने लग जाते हैं। इसीलिए श्रद्धा के लिए यह आवश्यक है कि वह गहरी होनी चाहिये। श्रद्धा के बारे में सन्तो ने जो इतना गौरव गाया है वह क्या व्यर्थ थोडा ही था? गौतम को भगवान् के प्रति कितनी अगाध श्रद्धा थी? इसीसे उनके जीवन में एक अमित आनन्द का प्रवाह सतत् बहता रहता था। ज्ञान की दृष्टि से गौतम कोई कम ज्ञानी थोडे ही थे। पर श्रद्धा का आनन्द एक और ही आनन्द होता है। उसे भक्त का हृदय ही पा सकता है। वहाँ ज्ञान की पहुँच नही है।

आवश्यक सूत्र में श्रद्धा का एक बडा ही सुन्दर चित्र खीचा गया है। वहाँ कहा है

"इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुणं नेआउयं संसुद्धं सल्लकत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं निव्वाणमग्गं निज्जाणमग्गं अवितह मविसंधि सव्व दुक्खपहाण मग्गं इत्थं

ठिया जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चन्ति परिनिव्वायन्ति
तं धम्मं सद्दहामि पत्तियामि रोएमि फासेमि पालेमि अणुपालेमि"
"नादंसणिस्सनाणं"। 'देह दुक्खं महाफलं'

एक उपासक कहता है—मै निर्ग्रन्थ प्रवचन मे श्रद्धा रखता हूँ, आस्था रखता हूँ, उसमे रुचि लाता हूँ, उसका पालन करता हूँ और अनुशीलन करता हूँ। यह है श्रद्धा का चरम रूप। सूत्रो में जैन-धर्म का कही भी उल्लेख नही आया है। जिसे आज जैन-धर्म कहते है वही उस समय निर्ग्रन्थ-प्रवचन कहा जाता था। आखिर तात्पर्य दोनो का एक ही है। जिन का धर्म—जैन-धर्म। और जिन वह होता है जिसने अपने राग और द्वेष को जीत लिया है। उसे वीतराग भी कहा जाता है। गुणस्थान की दृष्टि से वीतराग की स्थिति ११ से १४ गुणस्थान तक की है। इधर निर्ग्रन्थ का प्रवचन—निर्ग्रन्थ-प्रवचन। निर्ग्रन्थ अर्थात् जिसने राग और द्वेष की गाँठ को छेद दिया है वह ग्यारह गुणस्थान से चौदहवे गुणस्थान तक है। भगवान् महावीर के लिए अनेक जगहोपर 'निर्ग्रन्थ' विशेषण आता है। बौद्ध-सूत्रो में उन्हें नियंठ्ठनाय पुत्र कहकर ही बताया गया है। उनका जो शासन होता है उसे निर्ग्रन्थ-प्रवचन कहें या जैन-धर्म कहें इसमे स्वरूप-दृष्टि से कोई अन्तर नही आता।

वीतराग का शासन दण्ड का शासन नही होता। दण्ड का मतलब है परवशता। वह तो स्ववशता का शासन होता है। इसीलिए उसे आत्मानुशासन कहते है। राजनीति के इतिहास में भी पहले पहल दण्ड का शासन नही था। एक जमाने मे सब लोग स्वतन्त्र अर्थात् स्वय-शासित थे। किसी में बुरा काम करने की प्रेरणा ही नही होती थी। धीरे-धीरे दण्ड-शासन का विकास हुआ।

वह युग युगलियों का युग था। उन्हें कोई कहनेवाला था ही नही क्योंकि उनका जीवन स्वयं ही सुन्दर था। अत उन्हें किसी पर क्रोध करने का अवसर ही नही आता था। चलते बैल को कौन पीटता है? अत. अगर वे दूसरो पर अनुशासन करना ही नही चाहते तो उन्हे किसी दण्ड की क्यो आवश्यकता पडती? आज भी लोग यह चाहते है कि उनपर कोई अनुशासन न करे। पर स्वयं वे अपने ही अनुशासन मे नही चलना चाहते। आज की स्थिति ठीक वैसी ही है.

फलं पापस्य नेच्छन्ति, पापं कुर्वन्ति मानवाः।
फलं धर्मस्य चेच्छन्ति धर्मं नेच्छन्ति मानवाः॥

अर्थात् मनुष्य पाप का फल नही चाहता पर पाप करता है। धर्म का फल चाहता है पर पाप करना नही छोड़ता। अगर मनुष्य किसी दूसरे का

अनुशासन नही चाहता तो स्वय अपना आत्मानुशासन करे। फिर उसपर दूसरा कोई शासन करनेवाला नही रहेगा। धीरे-धीरे ज्यो-ज्यों युगलियों का युग बीतता गया त्यो-त्यो अपराध भी क्रमश. बढने लगे। 'हकार', 'नकार' और 'धिक्कार' का दण्ड-विधान अपराध-विकास की स्थिति को और भी स्पष्ट कर देता है। पहले—पहल अगर कोई गलत काम कर लेता तो उसका इतना ही दण्ड था—हाँ! तुमने ऐसा काम कर लिया? बस इतने मात्र से अपराधी लज्जित हो जाता था और फिर अपराध करने के लिए सहसा तैयार नही होता था। धीरे-धीरे 'हकार' का दण्ड शिथिल पड़ने लगा। लोग इसकी परवाह नही करने लगे तब फिर उन्हे अपराध से 'नकार'—मना करने की आवश्यकता पडी। कुछ काल तक यह स्थिति और चली पर फिर इससे भी अपराधो की सख्या-वृद्धि न रुक सकी। तब फिर अपराधी को धिक्कारने की आवश्यकता पडने लगी। और आज तो इसका विकास होते-होते जीवन इतना गहन हो गया है कि मनुष्य को कानून के मारे साँस लेने की भी फुरसत नही रही। फिर भी अपराधो की सख्या कम हुई है ऐसा नही लगता। इससे यह तथ्य भी स्पष्ट हो जाता है कि कानून से अपराधो को शान्त नही किया जा सकता। इससे तो उलटे दोष उभडते हैं।

प्रश्न हो सकता है—पहले जव व्यवस्था इतनी सुन्दर थी तो आज वह बिगडी क्यो? इसका सही उत्तर तो केवली ही दे सकते हैं या फिर अपनी-अपनी आत्मा से यह उत्तर पूछा जा सकता है। मुझे तो इसके तीन कारण नजर आते हैं। एक तो आज यहाँ ही नही सारे संसार में अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार अपराधो में वृद्धि हो रही है। लगता है, काल ही कुछ ऐसा है जिससे सारे संसार में से न्याय का ह्रास होता चला जा रहा है। यह स्वभाव है, इसके लिए कोई तर्क नही हो सकता। पर लगता है, काल के अनुसार प्रत्येक पदार्थो में शक्ति का ह्रास हो रहा है। इसे काल का ही प्रभाव मानना चाहिए। इस दृष्टि से मनुष्य की नैतिक निष्ठा में भी काल का हाथ रहा है ऐसा मानने में कोई बाधा नही मालूम पडती। एक वात कही जाती है कि नैतिक जीवन के अंकुर यदि नही निकलते हैं तो सभव है यह उनके बोनेवालो की कमी हो। एक दृष्टि से यह ठीक भी है। आखिर बीज बोनेवाले भी तो उसी वातावरण मे रह रहे है जिसमे अन्य लोग रहते हैं। अत उनकी बात का भी पूरा असर नही हो, यह भी सम्भव है। अन्न में भी आज वैसी शक्ति नही रही है। पहले अन्न पकाया जाता था तो वह इतनी दूर उछलता था कि छोटे बच्चो को तो उससे काफी दूर रखना पडता था। उसमें ताकत भी आज की अपेक्षा

ज्यादा होती थी। इसी प्रकार पुरानी मिट्टी में भी आज की अपेक्षा अधिक ताकत होती थी। और क्या, मनुष्य भी पुराने जमाने में सबल होते थे पर आज तो जन्म से ही निरोग बच्चे कम पैदा होते हैं। सन्तानें भी पहले की अपेक्षा ज्यादा होती है। उन स्त्रियो को जिनके मुँह से अभी तक कौमार्य भी पूरी तरह दूर नही हुआ है, ४-५ सतानें हो जाती है।

पर एक बात और ध्यान मे आती है। इसमें अकेले बीज बोनेवाले भी ही क्या कम है? जिस प्रकार यदि भूमि ऊसर हो तो उसमें बीज चाहे कितने अच्छे बो दिये जायँ पर अकुर नही निकलेगे। उसी प्रकार आज का जन-मानस ही कुछ ऐसा हो गया है कि उसमे बात का असर बहुत कम होता है। अत अकेला बोने वाला क्या कर सकता है? भूमि भी तो उपजाऊ होनी ही चाहिए। गाँधीजी ने इस बारे में अथक प्रयत्न किया पर वे भी इस प्रयोग में पूर्ण सफल नही हो सके। कुछ लोगो ने उनकी बात को स्वीकार भी किया था, पर लगता है, आज तो गाधी के भक्त कहलानेवाले लोग भी अनैतिकता मे किसी से पीछे नही है। गांधी जी के अभी-अभी आँखो से ओझल होते ही ऐसी स्थिति हो गई है तो आगे उनके भक्तो का न जाने क्या होनेवाला है? वे ही लोग जो पहले सादगी और सच्चाई का राग अलापा करते थे आज भ्रष्टाचार में फँसे पडे हैं। यह काल का नही तो और किसका असर है? दूसरी बात है—आज भौतिकता का आवरण ससार पर इतना छा गया है कि मनुष्य अपनी आत्मा की आवाज़ तो सुन ही नही सकता। तीसरी बात है—आज त्याग के प्रति लोगो की श्रद्धा वैसी दृढ नही रही है। कहने को तो बहुत से लोग आस्तिक भी कहलाते है पर हैं वे नास्तिको के दादे। अत आज नैतिक जीवन की घोर उपेक्षा हो रही है।

उपसहार में मैं आपसे यही कहना चाहूँगा कि यदि वास्तव में ही आप शाति पाना चाहते है तो श्रद्धावान् बनें। श्रद्धा से जीवन में त्याग आएगा। त्याग ही शान्ति का एकमात्र सही मार्ग है। अत आप त्याग में आस्था रखें—यही कहूँगा।

३१ : दृष्टि-भेद

लोक-दृष्टि और तत्त्व-दृष्टि ये दोनो भिन्न तत्त्व है। लोक-दृष्टि लोकानुगामी है, जबकि तत्त्व-दृष्टि का लक्ष्य मोक्ष होता है। लोक-दृष्टि का ध्येय होगा—लोक कैसे आबाद रहे, और तत्त्व-दृष्टि का लक्ष्य रहेगा—मोक्ष कैसे आबाद रहे। तत्त्व-दृष्टि में लोक-स्थिति की चिन्ता विशेष महत्त्व

नही रखती। जहाँ लोक-दृष्टि मे विलास और सुविधा को मान्यता है, वहाँ तत्त्व-दृष्टि में 'देह दुक्ख महाफलं' को महत्त्व है। कई दफा ऐसा होता है कि बहुत से लोग उक्त वाक्य के अर्थ का अनर्थ कर देते हैं। अत इसका अर्थ समझ लेना आवश्यक है। भगवान् ने कहा—जितना शरीर को कष्ट दिया जाये, उसका उतना ही बडा फल है। पर इसका मतलब यह नही है कि छूरी भोककर मर जाना चाहिए। इसका मतलब तो यह है कि साधना के द्वारा जो जितना इन्द्रिय-सयम कर सके, वही महाफल वाला होता है।

इसीलिए तो आचार्य भीखणजी ने कहा था . "ससार और मोक्ष दोनो को मार्ग अलग-अलग है।" पर साथ मे उन्होने यह भी कहा था—"साधु प्रत्यक्ष में लौकिक-कामो में मनाही नही कर सकता। हजारो विवाह होते हैं, मकान बनते हैं, पाठशालाएँ व कालेज चलते हैं, पुस्तकालय खुलते हैं, साधु किस-किस मे मनाही करेगा ? ये सब तो लोक-दृष्टि की बातें हैं। समाज में रहनेवाला इन सब कार्यो के बिना जीवन-निर्वाह नही कर सकता। पर मोक्ष-दृष्टि मे त्याग और साधना को स्थान है। उनका लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है, ससार चलाना नही। इन दोनो को एक कर देना भोग और त्याग को मिलाना है।

इस समय हमारे सामने एक प्रश्न और आता है कि साधु लोक-दृष्टि का निषेध तो नही करते, पर वे लोक-दृष्टि के कार्य में सहयोग क्यो नही देते ? प्रश्न ठीक है, पर जो लोग आरम्भ और हिंसा के त्यागी हैं, वे साक्षात् इन हिंसक कार्यो का उपदेश कैसे दे सकते हैं ? जब उन्होने सर्व सावद्य कार्यों को न करने का व्रत ले लिया है, तब वे अनिरवद्य कार्यों को कैसे कर सकते हैं ? जिस प्रकार दो और दो चार होते है, यह गणित-स्पष्ट है, उसी प्रकार इन कार्यों में हिंसा तो स्पष्ट है ही। तब फिर वे अपने व्रतो की सँभाल करे या ससारिक-कार्यो की ?

कई लोग यह कहते हैं कि हमें तो मुक्ति और स्वर्ग नही चाहिए, हम तो दु खी-जनो की सेवा कर सकें, यही हमारा अभीष्ट है।

इस मत से हमारा विरोध है। यह सिद्धान्त मनुष्य को सुखवाद की ओर ले जाता है। सुखवाद लोक-दृष्टि की देन है और वह तर्कसंगत भी नही है। क्योकि प्रत्येक प्राणी की अपने सुख की कल्पना अलग-अलग होती है। यदि सबको सुख दिया जाये, तृप्त किया जाये तो फिर सिगरेट, चाय और रोटी की इच्छावाले को ये चीजें देनी भी धर्म हो जाएँगी। मास-भक्षी को मास देना भी धर्म की श्रेणी में आ जायेगा। इतना ही क्यो, जब प्राणिमात्र को सुख देना धर्म है, तब तो शेर या अन्य जगली

जानवरों की चाह मांस खाने की होगी। उन्हें मांस खिलाना ही धर्म हो जायेगा। अत: एकान्तिक रूप से यह कहना कि सुखी बनाओ—यह सिद्धान्त सिद्ध नहीं होता। पर किसी को दु:खी मत बनाओ—यह सिद्धान्त सर्वथा शुद्ध है। इसमें किसी को कष्ट नही होगा। और जब कष्ट नही होगा तो सुख अपने आप हो ही जायेगा। सुख के लिए जो कोई भी काम करता है, यह उसकी अपनी आवश्यकता है। पर उसे मोक्ष का मार्ग क्यो मान लिया जाता है? वह सुख जो हिंसा से सम्बन्धित है, उसे मोक्ष-धर्म मान लेना भारी भूल है।

इसके लिए फिर एक प्रश्न आता है कि—अगर हम इन्हे धर्म नहीं कहेंगे तो लोग इन कामो को करेंगे ही नही। अत: धर्म के नाम पर लोक-हितकारी कामो को करवाना आवश्यक हो जाता है। पर यह भी गलत बात है। जो चीज जैसी है, उसे वैसी ही मानना जरूरी है। बहुत से लोग अपना कर्तव्य समझ कर लौकिक-कामो को करते हैं, पर वे उनमें धर्म नही मानते और यह बिल्कुल ठीक है।

लाडनूं,
ज्येष्ठ कृष्ण ८

३२ : आगमों की मान्यता

'अत्थं भासइ अरहा, गंथ पुण गणहरा निउण'। इस पद्य के अनुसार तीर्थंकरदेव देशना करते हैं और गणधर-गण उसे सकलित करते हैं। जैसे वर्षा बरसती है तो किसी भूमि की उर्वरता को नही देखती। वह तो सब जगह एकरस बरसती जाती है उसी प्रकार तीर्थंकर प्रवचन करते जाते हैं। उन्हें उसके उपयोग की कोई चिन्ता नही रहती। उनके उपयोग को वे सोचेंगे जिनके लिये लेना उपयोगी है। वह काम है, गणधरो का। अत: ठीक जिस प्रकार कई जगह वर्षा के पानी को व्यर्थ नही जाने देकर जलाशय में इकट्ठा कर लिया जाता है उसी प्रकार गणधर भी भगवान् की वाणी को संकलित कर लेते हैं। और वे सकलन ही आगमो का रूप ले लेते हैं जिन्हे गणि-पिटक भी कहा जाता है। गणि-पिटक एक मजूषा के समान है जिसके अधिकारी अपनी उपस्थिति में तो गणधर होते हैं पर उनकी अनुपस्थिति में यह अधिकार आचार्य के हाथो में आ जाता है। इसीलिए इसका नाम गणि-पिटक है। गणी यानी आचार्य। आचार्य की पीठिका-गणि-पीठिका। आचार्य शास्त्रो के ज्ञाता होते हैं अत वे उनका

मंथन कर लोगों के सामने तथ्य उपस्थित करते रहते है। जनसाधारण ज्ञाता नही होने के कारण कही पर अर्थ का अनर्थ न कर दे इसीलिए शास्त्रों की कुजी आचार्य के हाथो में रहती है।

प्रश्न है—आचार्य स्वय ही अर्थ का अनर्थ कर दें तो? यह भी ठीक है। इससे अनर्थ ही नही महान् अनर्थ हो सकता है। पर यह सम्भव नही है। भला वह मनुष्य जो बाँध की रक्षा के लिए नियुक्त किया गया है क्या कभी स्वय बाँध को तोड सकता है? इससे उसका स्वयं का भी तो भला नही है। और फिर उसकी रक्षा का भार भी तो उसे ही दिया जाता है जो योग्य हो। अयोग्य व्यक्ति तो फिर क्या-क्या नही कर सकता? अतः आचार्य भी योग्य व्यक्ति को ही बनाया जाता है। आचार्य का सबसे बडा काम यही है कि वे भावी आचार्य-पद के लिए उत्तराधिकारी के रूप मे योग्य व्यक्ति को चुनें। अपने वर्तमान काल में चाहे आचार्य कोई महत्त्वपूर्ण कार्य कर सके या नही, अधिक प्रचार कर सके या नही, यह उसकी कसौटी नही है। उसकी सच्ची कसौटी तो यही है कि वह अपने पीछे योग्य उत्तराधिकारी को छोडता है या नही। यदि आचार्य ऐसा नही करता है तो वह अपना कर्जा नही चुकाता है। इसीलिए आचार्य को तब तक चिन्ता बनी ही रहती है जब तक कि वह अपने उत्तराधिकारी को चुन नही लेता। क्योकि उसके आधार पर ही तो पीछे लाखो मनुष्यो की नैया तैरती और डगमगाती है। अत इतनी सावधानी के बाद निर्वाचित होने पर आचार्य पर शंका का कोई स्थान नही रह जाता।

और जो केवल आशंका ही करता रहता है उसके लिए तो फिर कोई समाधान भी नही है। क्योकि आशका तो पग-पग पर की जा सकती है। ऐसे व्यक्ति के लिए तो फिर जैसा कि गीता मे लिखा है 'सशयात्मा विनश्यति'. शकालु का विनाश हो जाता है—वाली बात लागू हो जाती है। सशयालु यानी त्रिशकु, जो न इधर का रहा न उधर का। आचार्य जान-बूझकर तो कोई गलत काम करता नही। भूल से अगर कोई हो जाता है तो उसके लिए शका नही हो सकती। वैसे आशका करनेवाले किसको छोडते है? उन्होने तो भिक्षुस्वामी जैसे विशुद्ध आचार्य को भी नही छोडा। उनका यह कहना कि 'भीखणजी कोड कसायां वीचे ही भारी' क्या उनके निर्मल आचार के प्रति कीचड उछालना नही है? सूर्य के सामने धूल फेंकने से सूर्य का क्या जाता है? उल्टी वह अपनी ही आँखो में आकर पड़ती है। अत· ऐसे व्यक्तित्त्वो की बात पर ज्यादा विचार करने की आवश्यकता नही। उन्हें तो बस यही मान लेना चाहिए कि यह उनका स्वभाव है।

हाँ, तो मैं आगमो की बात कह रहा था। मध्यकाल मे आगम यतियों

के हाथो में रहकर भी सुरक्षित रहे, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है, क्योकि वे लोग यह निश्चित मानते थे कि जान-बूझकर आगमो के एक अक्षर का भी इधर-उधर करना महान् पाप है।

लाडनूं,
३ मई, '५७

३३ : पर्दा और बहनें

मै इस विवाद मे नही पडता कि आप पर्दा रखें या नही रखें। यह अपनी-अपनी इच्छा पर निर्भर है। पर इसके गुण-दोषो को बताना हमारा काम है। अणुव्रत-आन्दोलन के प्रारम्भ मे कुछ बहनो ने समझ लिया कि अणुव्रती बहनें पर्दा नही रख सकती। अत वे घबडायी और मेरे पास आयी। मैंने उन्हें समझाया कि अणुव्रत-आन्दोलन में ऐसा कोई नियम नही है। इससे पता चलता है कि बहनो मे अभी कमजोरी है। यह सही है कि इसके पीछे भी कुछ कारण हैं। समाज का भय, परिवार का भय, तथा अपने सम्बन्धियो का भय उन्हें ऐसा नही करने देता। पर मैं आपसे एक बात कहूँगा—आप यहाँ धर्म-स्थान में आती है, किसलिये? इसीलिए न कि यहाँ आप साधुओ के दर्शन कर सके, उनके उपदेश सुन सकें। पर यहाँ आकर भी अगर आपकी आँखो की यह पट्टी नही खुली तो मैं समझता हूँ आपने यहाँ आने का लक्ष्य ही नही समझा? उधर पजाब में यह रिवाज है कि औरतें घर मे तो पर्दा रखती हैं, पर साधुओ के आगे पर्दा नहीं रखती। मैंने उनसे पूछा—तुम्हारे यहाँ यह कैसा रिवाज है? उन्होने कहा—महाराज साधु तो सारे ससार के माता-पिता होते है, उनके सामने पर्दा रखने का क्या मतलब? फिर हम यहाँ उनके दर्शन करने के लिए ही तो आती है। यहाँ आकर भी हमारी आँखें वन्द रहें तो फिर हम यहाँ आएँ ही क्यो? मैंने सोचा—इनका कहना ठीक ही है।

आप सामायिक, पौषध आदि करती हैं। उसमें भी आपका यह पर्दा तो साथ ही रहता है और उस समय आप चलती-फिरती न हो, यह वात भी नही है। तो मै आपसे पूछता हूँ कि इस समय आपकी ईर्या-समिति का ध्यान कौन रखता है? क्या उस पर्दे में से आप कीडो-मकोडो को अच्छी तरह देख सकती है? अगर नही, तो फिर क्या यह पर्दा आपकी ईर्या-समिति में बाधक नही बनता? इसी प्रकार आप दर्शन करने के लिए घर से आती है। रास्ते में अगर आप जमीन देखकर चलती है तो वह

आपके कर्मनाश होने का साधन बन सकता है। पर अगर यहाँ आप आँखो पर पट्टी रखे तो कर्म कटना तो दूर की बात उल्टे बँधने का हिसाब हो जाता है। अत इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण से मै आपसे यह कह सकता हूँ कि यह आपकी धर्म-साधना में बाधक है।

आपका यह पर्दा हमारे सम्बन्ध में भी अनेक गलत धारणाएँ पैदा कर देता है। अपनी महाराष्ट्र-यात्रा में मुझे इसका विचित्र अनुभव हुआ। यात्रा में पर्देवाली बहनें भी सेवा में थी। उन्हे देखकर लोगों ने अनुमान लगाया कि—आचार्यजी स्वय औरतो को पर्दे में रखना चाहते हैं। नही तो भला समाज में जब इनका इतना प्रभाव है तो ये औरतें क्यों पर्दा रखती है ? मै यह सुनकर दंग रह गया। मेरे सामने दोनों स्थितियाँ है। कही तो लोग मुझे कहते हैं—महाराज पर्दे के विरोध मे है और कही कहते हैं—महाराज जान-बूझकर औरतो से पर्दा रखवाते हैं। दिल्ली में चलनेवाले कार्यक्रमो में अनेक शिक्षित लोगो ने हमारी बहनों के मुंह पर पर्दा देखकर उसे अच्छा नही माना। एक बहन तो मुझसे कहने लगी—आप सबसे पहले इसी काम को हाथ में लें। जब तक बहनो में यह निर्भयता नही आ जाती तबतक आप जो अहिंसा का विकास करना चाहते हैं, वह असम्भव है। क्योकि अहिंसा का सबसे पहला चरण है अभय बनना। अत. आप बहनो मे अभय की भावना पैदा करने के लिए सबसे पहले इनका पर्दा उतारिये। तो इस प्रकार कई तरह के विचार मेरे सामने आते रहते हैं।

पर्दा रखने का आखिर उद्देश्य क्या है ? यही न कि उससे लज्जा ढँकी रहती है। पर लज्जा तो आँखो में रहती है। उसे पर्दे में बन्द कैसे किया जा सकता है ? और आजकल तो इसका इतना विकृत रूप हो गया है कि देखकर शर्म आती है। बहुत सी बहनें पर्दा रखती तो हैं पर मोटे कपड़े से वे देख नही पाती। अत इतना झीना (महीन) कपड़ा पहनती हैं, जिससे मुंह तो क्या शरीर का एक-एक अग देखा जा सकता है। यह पर्दे की विडम्बना नही तो क्या है ? कुछ बहनें पर्दा रखती भी हैं, पर किससे ? केवल अपने सम्बन्धियो व परिचितो से। दूसरी जाति का कोई व्यक्ति क्यो न आ जाये, उसके सामने पर्दे की कोई आवश्यकता नही है। मैंने स्वय बम्बई के मार्केट में देखा है कि वे ही बहनें जो अपने घर में पर्दा रखती है, वहाँ खुले मुंह नि संकोच वस्तुएँ खरीद रही थी, मुझे देखकर वे शर्मा गयी और झट पर्दा कर लिया। मुझे लगा—न तो बहनें आधा पर्दा रखना चाहती हैं और न वे पूरा रखती है। पर समाज के बन्धनो के कारण बेमन वह उनकी आँखो पर पडा हुआ है। साधारण व्यवहार में भी इससे इतनी बाधाएँ आती हैं जिनकी कल्पना नही की जा सकती।

एक भाई कहते थे—पहले हमारे घर की औरतों में पर्दा था। अत बीमारी की अवस्था में भी वे हमारी पूरी परिचर्या नही कर पाती थी। और न हम ही उनकी उचित परिचर्या कर पाते थे। स्थिति तो यहाँ तक थी कि आपस का कुशल पूछने के लिए भी किसी तीसरे व्यक्ति की आवश्यकता रहती थी और इससे कई दफा अनर्थ भी हो जाया करता था। पर अब हमारे घर में पर्दा नही है। हम आसानी से एक दूसरे की योग्य सेवा कर सकते है। और लगता है—जैसे जीवन कुछ हल्का बन गया है।

हो सकता है कि किसी जमाने में पर्दा आवश्यक रहा होगा पर आज तो इसके लिए उचित वातावरण नही है। बहुत सी बहनें भी इसे नही चाहती। वे अन्दर ही अन्दर घुटती रहती है। यह युग का प्रवाह है। पुरुष औरतो से पर्दा रखवाना चाहते है पर क्या उन्होंने भी कभी पर्दा रखकर देखा है कि उससे किस तरह जी घबराने लग जाता है और अधिक दिन तक प्रवाह के विरुद्ध चला भी नही जा सकता। अच्छा हो, इसका रास्ता न रोका जाये। नही तो पानी तो कही न कही रास्ता निकालेगा ही। यदि समझदारी पूर्वक पहले ही नाला बना दिया जाये तो उससे सर्वनाश की संभावनाएँ नही रहेगी और साथ ही साथ उस प्रवाह का अनुचित अपव्यय भी नही होगा।

पर्दा रखने में जैसे ये बुराइयाँ हैं, उसी प्रकार पर्दा न रखने में कुछ खतरे हैं। उनकी ओर से आँख मूँदना भी उपयुक्त नही है। कई बहनें पर्दा उठा तो देती है पर वे फैशनपरस्ती में पड जाती है। उन्हें रोज नये-नये कपडे और नई डिजाइने चाहिएँ। यह वहुत वुरी वात है। जीवन में जवतक सादगी नही आएगी, तबतक पर्दा उठाने और नही उठाने में कोई विशेष अन्तर हो, यह नही दीखता। इसी प्रकार पर्दा उठाने का मतलब स्वच्छन्द हो जाना भी नही है। पर्दा उठाकर यह मान लिया जाये कि अब तो हम स्वतन्त्र है चाहे जैसे घूमें, फिरें; यह वात उल्टी उनके पतन का कारण बन सकती है। हर चीज की अपनी मर्यादा होती है उसे तोडकर काम करना विकास का नही, पतन का रास्ता है। अत इस खतरे से भी वचना आवश्यक है। साराश मे इन वाहरी चीजो की अपेक्षा आन्तरिक शुद्धि का महत्त्व अधिक है। विना आन्तरिक शुद्धि के वाहरी चीजें अनेक वार दिग्भ्रमित कर देती हैं। हमारा काम यही है कि हम हर वर्ग को उनकी वुराइयो के प्रति सजग करते रहें। इसी दृष्टि से पर्दा रखने और नही रखने की दोनो स्थितियो पर आज मैंने अपने विचार रखे हैं।

लाडनूं,
१४ मई, '५७

३४ : साधु का विहार-क्षेत्र

जैन-साधुओ के विहार के बारे मे जैन-आगमो में विशद विवेचन आता है। उसके अनुसार साधु अनार्य क्षेत्रो में नही जा सकते या दूसरे शब्दो में वे ही क्षेत्र आर्य हैं जहाँ साधु विहार कर सकते हैं।

क्षेत्र की दृष्टि से पन्नवणा मे २५॥ देशो को आर्य-क्षेत्र माना है। इसका कारण उस समय उन क्षेत्रो मे साधुओ को अपने आचार-पालन मे अनुकूलता थी। बाकी के क्षेत्रो मे उस समय अनुकूलता नही होने के कारण वे अनार्य क्षेत्र कहलाये। पर उन्हें त्रैकालिक रूप से आर्य या अनार्य मान लेना उचित नही लगता। क्योकि एक समय में एक क्षेत्र साधुओ के आचार के अनुकूल पड़ता है और उसे आर्य-क्षेत्र कहा जा सकता है, पर दूसरे समय मे वह अनुकूल ही हो यह कोई नियम नही है। इसलिए आज तो २५॥ देशो की यह समस्या टेढी खीर हो गई है। क्योकि आज न तो उन देशो की पुरानी भौगोलिक सीमाएँ ही निश्चित रही हैं और न उनमें बसनेवाले लोगो का आर्यत्व और अनार्यत्व ही। इस स्थिति में किसी देश विशेष को आर्य या अनार्य कैसे कहा जा सकता है?

फिर शास्त्रो में यह भी कहा गया है कि जहाँ ज्ञान-दर्शन की वृद्धि हो वह क्षेत्र साधुओ का विहार-क्षेत्र है। जहाँ ज्ञान-दर्शन की वृद्धि नही होती हो वहाँ साधुओ को नही जाना चाहिए। कल ही एक भाई ने पूछा—सैद्धान्तिक दृष्टि से कलकत्ता आप का विहार-क्षेत्र है या नही? मैंने कहा—क्यो नही? जहाँ हमारा आचार सुरक्षित रह सकता हो वहाँ हम जा सकते हैं। इस दृष्टि से हमारा कलकत्ते जाना कोई मना नही है। यदि उत्सर्ग आदि की जगह नही हो तो कलकत्ता क्या मेवाड़ भी हम नही जा सकते और ऐसा होता भी है। कई बार मेवाड के उन ग्रामो में जहाँ अनेक श्रावक रहते हैं स्थानाभाव के कारण चातुर्मास नही होता। अतः आर्य और अनार्य की बात भी सापेक्ष है। उसे किसी एकान्तिक परिभाषा में बाँध देना उचित नही जँचता।

मैं कई दफा कह चुका हूँ, धर्म और धर्म-क्षेत्र को किसी सीमा विशेष में बाँधना हितकर नही है। कच्छ का एक धर्म-सम्प्रदाय सीमित क्षेत्र मे ही विहार करता है। उसके साधुओ से पूछा गया कि वे बाहर क्यो नहीं आते तो कहने लगे—बाहर साधुपन नही पलता। यह उनकी अपनी भावना हो सकती है पर भगवान् महावीर ने यह नही कहा। उन्होने तो कहा है:

"जिस प्रकार पाप का आगमन सभी क्षेत्रों में हो सकता है उसी प्रकार धर्म किसी भी क्षेत्र में किया जा सकता है।"

सामायिक में एक प्रत्याख्यान किया जाता है—"क्षेत्र थकी सर्वक्षेत्र"। इस सर्वक्षेत्र का क्या मतलब ? कई लोग समझते है वे सामायिक लेने के बाद सभी क्षेत्रों में जा सकते हैं। पर इसका सही मतलब यह नही है। इसका मतलब है सामायिक के प्रत्याख्यान प्रत्येक क्षेत्र में हैं। अगर कोई सामायिक लेकर दूसरी जगह चला जाता है या उसे कोई उठाकर दूसरी जगह ले जाये तो भी उसकी सामायिक पूरी नही हो पाती है। वहाँ भी उसकी सामायिक चालू रहती है। इसी प्रकार साधुत्व भी किसी क्षेत्र विशेष में पलता हो ऐसी बात नहीं है। उसके लिए तो सारा ससार ही उपयुक्त स्थान हो सकता है।

प्रश्न हो सकता है—फिर शास्त्रों में २५॥ देशो की सीमा क्यो की गई ? इसका उत्तर है—वहाँ साधुओं को साधुत्व-पालन में सुगमता रहती है। पर इसका मतलब यह नही है कि साधु वही रहें जहाँ उन्हें सुगमता होती है। सुगमता की दृष्टि से राजस्थान में साधुओ को कई प्रकार की सुगमताएँ रहती हैं। लेकिन फिर भी साधु राजस्थान से बाहर जाते हैं। हाँ, ऐसा क्षेत्र जहाँ साधुत्व-पालन में बाधा हो वहाँ साधु नही जा सकते।

जैसा कि मैंने पहले कहा—अनार्य केवल क्षेत्र ही नही होते। मनुष्य भी अनार्य होते हैं। उन अनार्यों में उपदेश करने के लिए अनेक साधु उनके क्षेत्रो में गये हैं। मुनि सुव्रतस्वामी के समय की एक बात रामायण में आती है। खंदक नामक एक साधु अपने ५०० शिष्यो के साथ भगवान् के पास जाते हैं और अपने बहनोई के देश में जाकर उसे सम्यग्-धर्म में प्रव्रजित करने की आज्ञा माँगते हैं। भगवान् ने बताया—वहाँ तुम्हें भयंकर—मरणान्त उपद्रव होगे। उन्होने पूछा—भगवान वहाँ जाकर सयम के आराधक होंगे या अनाराधक। भगवान् ने उत्तर दिया—तुम्हारे सिवाय ५०० शिष्य आराधक होंगे।

अपने अशेष शिष्यो का कल्याण जानकर उन्होने भगवान् से आज्ञा लेकर उस ओर प्रयाण कर दिया। वहाँ पहुँचकर वे एक उपवन में ठहरे। राजा को यह समाचार सुनकर बडी खुशी हुई, पर राजा का एक अधिकारी पालक, खधक से जब वे राजकुमार थे, एकवार चर्चा मे हारा हुआ था। उसके मन में अब भी खधक के प्रति विद्वेष भरा पडा था। आज खंधक को अपने देश मे आया सुनकर उसका सोया हुआ क्रोध पुन उद्‌बुद्ध हो जग गया और उसने उपवन के आस-पास गुप्त रूप से अपने अस्त्र-शस्त्र गड़वा दिये। समय पाकर उसने राजा से झूठ ही यह कह दिया कि—

राजन् ! आप अपने साले को अपने देश में आया जानकर खुशी मनाते हैं पर आपको पता रहना चाहिए कि वह यहाँ क्यो आया है ? राजा यह सुनकर सहसा विस्मित हुआ। उसने अधिकारी से इसका कारण पूछा। अपनी बात की बड़ी चतुराई से भूमिका बनाते हुए उसने कहना शुरू किया—शायद आप मेरी बात पर विश्वास नही करेगे। पर एक अधिकारी होने के नाते मुझे आपको सचेत कर देना आवश्यक जान पडा कि खधक जी यहाँ उपदेश देने नही आये है पर आपका राज्य छीनने के लिए साधुवेष में ५०० सुभटो को लेकर यहाँ आए है। राजा एकदम चौंक पडा पर अधिकारी के पास पक्के प्रमाण थे। उसने राजा को उपवन के पास गडे अस्त्रों को निकाल दिखाया। सचमुच ही राजा को अब अविश्वास नही रहा। और उसने अधिकारी को यह अधिकार दे दिया कि इस सम्बन्ध में वह जो चाहे करने में स्वतन्त्र है। अधिकारी को और क्या चाहिए था ? उसने वही उपवन में ही एक बड़ी घाणी बनवाई और उसमे एक-एक कर ५०० साधुओं को पीस डाला। इसका कथानक और आगे चलता है पर हमे यहाँ इतना ही देखना है कि मुनि इस प्रकार के अनार्य लोगो में भी धर्मोपदेश देने के लिए जाते हैं।

लाडनू,
१८ मई, '५७

३५ : धर्म, व्यक्ति और समाज

आज ससार में जितने भी धर्म है, प्राय सभी विचार-प्रधान हैं। पर जैन-धर्म विचार-प्रधान न रहकर आचार-प्रधान रहा और आज भी है। आज हमें यह देखना है कि आज के विषम युग में हमारा कर्तव्य क्या है ? पहला कर्तव्य है हम आत्म-निरीक्षण करे। हम कौन है ? यह बहुत आदमी नही जानते। वे समझते हैं, हम जो दीख रहे है, वही हम हैं। पर यह तो पुद्गलो और हाड-मास का पिंड है। यह जलनेवाला है। आत्मा अजर-अमर है। इसे न कोई काट सकता है, न कोई जला सकता है। इसलिए मनुष्य को पहले सोचना चाहिए कि मैं कौन हूँ ? दूसरा मेरा क्या कर्तव्य है ? उसे यह समझना चाहिए कि मैं मानव हूँ, मुझमें विवेक है, सत्य और असत्य को सोच सकता हूँ, अच्छे और बुरे को सोच सकता हूँ। खाना-पीना, भोग-सभोग करना, आराम करना ये मनुष्य के चिह्न नही हैं। ये तो पशु में भी पाये जाते हैं। अगर इसीसे मनुष्य अपने को मनुष्य कहता है तब तो

मनुष्य और पशु मे सीग-पूंछ के अलावा अन्तर ही क्या रहा ! पर नही, मनुष्य में विवेक है, ज्ञान है, पवित्रता है। इसलिए उसे अपने आपका निर्माण करना चाहिए। उसे अच्छाइयो को ग्रहण कर बुराइयो को छोड़ते रहना चाहिए।

आज के युग में मनुष्य की बडी-बडी समस्याएँ हैं। वह समस्याओ का पुतला सा बन गया है। गरीबो की तो समस्या इसलिए है कि उनके पास रोटी के लिए पैसा नही है। पर पूंजीपति को भी, जिनके पास अपार धनराशि पड़ी है, समस्याओ ने घेर रखा है। रात मे उन्हें नीद नही आती। इस समय वही आदमी बड़ा होगा जो इस विषमता के युग मे अपना गन्तव्य-पथ तय कर लेगा। शास्त्रो मे जो तीन तत्त्व—सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चरित्र—आये हैं, उनमे पहला सम्यक्-दर्शन है। ज्ञानियो ने ज्ञान और चारित्र से पहले श्रद्धा को स्थान दिया। श्रद्धावान् व्यक्ति ही ज्ञान को प्राप्त करता है। अत हमें पहले श्रद्धावान् बनना चाहिए। आज के मानव ने श्रद्धाशून्य होकर बहुत बडा तत्त्व खो दिया है। विद्यार्थियो को अध्यापको के प्रति आस्था नही है, श्रद्धा नही है, इसी कारण उन्होने कलह को मोल ले लिया है। बहुत से लोग जो धार्मिक कहलाते है—धर्मस्थान में आ जाना, केवल मन्दिरो मे चले जाना, इतने मात्र से ही धार्मिक कहलाने का दावा करते हैं। पर वहाँ जाने के बाद धार्मिक-क्रिया व उसका अपने जीवन में असर ही वास्तविक धार्मिक जीवन कहलाता है। आज तो मानव दूसरे की निन्दा, विवाद आदि तथ्यहीन चर्चा में पडकर धर्म-विहीन सा होता जा रहा है। उसे धार्मिक झझटो मे न पडकर दूसरे का वास्तविक गुण ग्रहण करना चाहिए। मदिर, मस्जिद या और कही धर्मार्थ जाना यह कोई विशेष बात नही। जिसकी जिसमें श्रद्धा होती है, वह वही जायेगा। उसे रोकनेवाला कौन है ?

कई लोग मुझसे कहते है—क्या मूर्त्ति-पूजा मे आपका विश्वास है ? मेरा विश्वास उसमे है या नही, हमें उस पचड़े मे नही पडना है। मैं तो यह मानता हूँ कि—हर व्यक्ति, चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, हरिजन हो या महाजन, धर्म मन्दिर, गिरजाघर, बाजार, जंगल, शहर सभी जगह कर सकता है। धर्म किसी विशेष स्थान पर किया जाता हो, यह कोई तथ्य की बात नही। क्या मन्दिर में पाप नही किये जाते ? मेरे पास आने मात्र से कोई धार्मिक नही बन जाता। धार्मिक तो अच्छी क्रिया करने से ही बनेगा।

जयपुर की बात है—एक दिगम्बर वृद्ध सुबह आया और कहने लगा—आपको मन्दिर मे जाना होगा। हमने कहा—अभी कुछ काम है। अभी जाना नही हो सकेगा। पर उसके जिद्द करने पर हम वहाँ गये।

जाने के बाद जब मैं वापस आने लगा तो वह कुछ कहने लगा—आपने मेरी शान रख दी क्योकि मैने जिद्द किया था कि ये महाराज मन्दिर में आते हैं, और बाकी कह रहे थे—ये महाराज मन्दिर के विरुद्ध है, मन्दिर में नही आते। मैंने कहा—हमें यदि ऐसा पता होता तो एक दफा नही दस दफा आते। वहाँ जाने से हमारे विचार थोडे ही कुचले जाते हैं। वे तो हमारे पास ही रहेंगे।

मैंने कुछ वर्ष पहले साम्प्रदायिक एकता के लिए पंचसूत्री योजनाएँ धार्मिक लोगो के सामने रखी थी। अगर वे उन्हे पाले तो पारस्परिक धार्मिक झझटो से किनारा पा साकते हैं। फिर चाहे वे तेरापथी हो, या बाईस टोला, श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, मूर्तिपूजक हो या अमूर्ति-पूजक।
साम्प्रदायिक एकता के लिए पचसूत्री योजनाएँ ये है

(१) प्रत्येक धर्म को माननेवाला अपनी नीति मण्डनात्मक रखे। वह अपने विचारो को रख सकता है। उसे रोकनेवाला कौन है? प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह अपनी वात बताये। पर अपने विचारो के साथ दूसरे के विचारो को कुचलना, उनपर लाछन लगाना, गालियाँ देना आदि कार्य वह न करे।

(२) दूसरो के ऐसे विचार, जो हमसे नही मिलते हैं या हमारे विरुद्ध हैं, उनके लिए हम सहिष्णु वनें। मै अभी जो बाते कह रहा हूँ, यह जरूरी नही है कि सामने वैठी जनता को जँच जाये। पर आप मेरे विचार को सुन तो लीजिये। अगर जँचे तो मानिए। वह क्या धार्मिक होगा जो दूसरे की वात को सुनना नही चाहता।

(३) किसी का भी तिरष्कार नही करना।

(४) सम्प्रदाय परिवर्तन के लिए दबाव नही डालना।

(५) धर्म के मौलिक सिद्धान्तों का प्रसार मिलकर करे।

पर मुझे लगता है कि धार्मिक लोग सहिष्णु नही बने हैं। जैन भाइयो को पता होगा कि हमारा तत्त्व स्याद्वाद है, अनेकान्तवाद है। जिस प्रकार दोनो हाथो को आगे-पीछे किये विना मक्खन नही निकलता, उसी प्रकार अगर हमें किसी भी तत्त्व का मक्खन निकालना है तो हमें मत को कडा व ढीला करना ही पडेगा। तभी मक्खन मिल सकता है।

कुछ लोग अपने धर्मानुसार तीर्थ-यात्रा करने जाते हैं। वहाँ जाकर गंगाजी में स्नान करते हैं और समझते है—जन्म-जन्मान्तर के सारे पाप धुल गये। इसमें मेरा यह अभिमत है कि गंगा में स्नान कर लीजिये या अपने गुरु के पास चले जाइए, सिर्फ जाने मात्र से धर्म नही होगा।

मनुष्य और पशु में सीग-पूंछ के अलावा अन्तर ही क्या रहा ! पर नही, मनुष्य मे विवेक है, ज्ञान है, पवित्रता है। इसलिए उसे अपने आपका निर्माण करना चाहिए। उसे अच्छाइयों को ग्रहण कर बुराइयों को छोड़ते रहना चाहिए।

आज के युग में मनुष्य की बडी-बड़ी समस्याएँ हैं। वह समस्याओ का पुतला सा बन गया है। गरीबो की तो समस्या इसलिए है कि उनके पास रोटी के लिए पैसा नही है। पर पूंजीपति को भी, जिनके पास अपार धनराशि पड़ी है, समस्याओ ने घेर रखा है। रात में उन्हे नीद नही आती। इस समय वही आदमी बडा होगा जो इस विषमता के युग मे अपना गन्तव्य-पथ तय कर लेगा। शास्त्रो मे जो तीन तत्त्व—सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चरित्र—आये हैं, उनमे पहला सम्यक्-दर्शन है। ज्ञानियो ने ज्ञान और चारित्र से पहले श्रद्धा को स्थान दिया। श्रद्धावान् व्यक्ति ही ज्ञान को प्राप्त करता है। अत हमे पहले श्रद्धावान् बनना चाहिए। आज के मानव ने श्रद्धाशून्य होकर बहुत बडा तत्त्व खो दिया है। विद्यार्थियो को अध्यापको के प्रति आस्था नही है, श्रद्धा नही है, इसी कारण उन्होने कलह को मोल ले लिया है। बहुत से लोग जो धार्मिक कहलाते है—धर्मस्थान में आ जाना, केवल मन्दिरो मे चले जाना, इतने मात्र से ही धार्मिक कहलाने का दावा करते हैं। पर वहाँ जाने के बाद धार्मिक-क्रिया व उसका अपने जीवन में असर ही वास्तविक धार्मिक जीवन कहलाता है। आज तो मानव दूसरे की निन्दा, विवाद आदि तथ्यहीन चर्चा मे पडकर धर्म-विहीन सा होता जा रहा है। उसे धार्मिक झझटो मे न पडकर दूसरे का वास्तविक गुण ग्रहण करना चाहिए। मदिर, मस्जिद या और कही धर्मार्थ जाना यह कोई विशेष बात नही। जिसकी जिसमें श्रद्धा होती है, वह वही जायेगा। उसे रोकनेवाला कौन है ?

कई लोग मुझसे कहते है—क्या मूर्ति-पूजा में आपका विश्वास है ? मेरा विश्वास उसमे है या नही, हमे उस पचडे मे नही पडना है। मै तो यह मानता हूँ कि—हर व्यक्ति, चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, हरिजन हो या महाजन, धर्म मन्दिर, गिरजाघर, बाजार, जंगल, शहर सभी जगह कर सकता है। धर्म किसी विशेष स्थान पर किया जाता हो, यह कोई तथ्य की बात नही। क्या मन्दिर मे पाप नही किये जाते ? मेरे पास आने मात्र से कोई धार्मिक नही बन जाता। धार्मिक तो अच्छी क्रिया करने से ही बनेगा।

जयपुर की बात है—एक दिगम्बर वृद्ध सुवह आया और कहने लगा—आपको मन्दिर मे जाना होगा। हमने कहा—अभी कुछ काम है। अभी जाना नही हो सकेगा। पर उसके जिद्द करने पर हम वहाँ गये।

चिन्ता में पड गये हैं। पर हमें किसी प्रकार की चिन्ता नही है। क्योकि भगवान् महावीर ने हमें अपरिग्रह का पाठ पढाया है, शान्ति का पाठ पढाया है। मै यह मानता हूँ कि आप भिखारी नही बन सकते और बनना भी नही चाहिये। पर धन-कुबेर भी मत बनिये। धन को छोड़े बिना सुख नही मिल सकता और सरकार भी क्या करे। उसके पास कोई खजाना तो है नही जो निकालकर काम में ले ले। उसे तो आप ही लोग देनेवाले हैं और वह आपकी ही है।

अन्त में मै आपसे यह अपील करूँगा कि आप कम से कम प्रवेशक अणुव्रती के व्रत देखे, उनपर मनन करें, अपने सुझाव हमें बताएँ और अपने जीवन मे ढालकर औरो तक ये विचार पहुँचाएँ।

लाडनूं,
१८ मई, '५७

३६ : अवधान

अवधान भारतीय ऋषियो की देन है। आज यह सबको चमत्कारपूर्ण लगता है पर भारतीय संस्कृति ऐसे उदाहरणो से भरी पडी है। यह कोई जादूगर का काम नही है। इसमें अवधानकार को बहुत बड़ी साधना करनी पडती है। अपने मन व अन्य शक्तियो को काबू में रखना होता है। आप भी इसकी साधना कर सकते हैं पर इसमें ब्रह्मचर्य की साधना भी अत्यावश्यक है।

अवधानकार भी यह न सोच ले कि मैंने कितने व्यक्तियो के सामने स्मृति का चमत्कार किया है। ऐसा सोचने से उसकी प्रगति मे ब्रेक लग जायेगी। यह तो सामने जो व्यक्ति सुन रहे हैं, उनका काम है। उसे तो जीवन भर विद्यार्थी बने रहना चाहिए। श्रोताओ को भी इन कार्यक्रमो से शिक्षा लेनी चाहिये। उन्हें भी जीवन की साधना करनी चाहिए। मनुष्य महाव्रती नही तो अणुव्रती अवश्य बनें। मानव की मौलिक शक्तियाँ कायम रहें, इसके लिए यह सजीवनी बूटी है। अगर अध्यापको व विद्यार्थियो ने इसे अपना लिया तो हमारा आधा काम हल्का हो जायेगा। हमें इसमे सख्या का मोह नही है कि इससे एक बडी जमात इकट्ठी हो जायगी।

आप सभी लोगो को अणुव्रत-साहित्य पढ़ना चाहिए। आज देश के नेता व अन्य सभी इससे बडी-बडी सभावनाएँ रखते हैं। उनकी सभावनाएँ

तभी पूरी होंगी, जब आप खुद एक आदर्श अणुव्रती बनेंगे और दूसरों में भी इसका प्रचार करेंगे।

लाडनूं,
१९ मई, '५७

३७ : आत्मा सबमें है

मनुष्यमात्र को यह सही तथ्य भुला नही देना चाहिए कि अपनी पीडा के समान ही दूसरों को पीड़ा होती है। किसी भी जीव की सकल्पपूर्वक हिंसा करना या उसे कष्ट पहुँचाना अमानवीय है। प्रसिद्ध सन्त नामदेवजी की माता ने बचपन मे उन्हें पलास के वृक्ष को काटने के लिए कुल्हाडी दी। सन्त नामदेवजी ने, वृक्ष को काटने से उसे दर्द होता है या नही, और होता है तो कितना, यह मालूम करने के लिए, कुल्हाड़ी अपने पैर पर चलायी और दर्द होने पर कराह उठे। माता के पूछने पर उन्होने उत्तर दिया—मैंने वृक्ष की पीड़ा को मालूम करने के लिए ही यह परीक्षण किया। आगे चलकर नामदेवजी अहिंसा के बडे भारी ज्ञाता बने। मेरे कहने का मतलब है कि आत्मा सबमें है, सबको समान दु ख और पीडा होती है। अत. कम से कम किसी भी जीव को बिना मतलब के नही मारना चाहिए।

मनुष्य का जीवन जितना सुन्दर बन सके, सात्त्विक और सादा बन सके, उतना ही अच्छा है। अपने जीवन को वैसा बनाने के लिए यह आवश्यक है कि अणुव्रती नही तो कम से कम प्रवेशक अणुव्रती अवश्य बनें। कोई यह कहे कि महाराज तो सेठ लोगों के ही हैं, तो उनकी गलत धारणा होगी। हमारे लिये अमीर और गरीब सब बराबर हैं। हमारा ध्येय है—मनुष्य मात्र को सही रास्ता दिखाना, फिर चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, महाजन हो या हरिजन। धर्म का सही अर्थ वे ही समझ सकते हैं—जिनका जीवन अच्छा है।

जिस प्रकार सन्त तुलसीदासजी को अपनी स्त्री के एक ही व्यग से, "आप जितना प्रेम मुझ से करते है, उतना अगर भगवान् से करते तो आपकी नैया पार हो जाती", सही मार्ग प्राप्त हो गया, उसी प्रकार आपको जितना प्रेम सासारिक कार्यों से है, और जो समय आप उसमें लगाते हैं, उससे थोड़ा समय भी आप भगवत् भजन, आत्म-चिन्तन में लगायें तो आपको एक रास्ता दिखाई देगा, और आपका जीवन हल्का बनेगा।

लाडनूं,
२० मई, '५७

३८ : मोक्ष का अर्थ

आत्माएँ मुक्त होकर पुनः संसार में नही आती। हालांकि कई लोग यह मानते हैं कि मुक्त होने के बाद भी आत्मा को पुन संसार में आना पडता है। पर यह सही नही है। क्योकि मुक्त होने के बाद उनके ससार में आने का कोई कारण ही नही रह जाता। ससार-भ्रमण तो कर्मों के कारण करना पडता है। पर मुक्त आत्माएँ कर्मों से सर्वथा मुक्त हो जाती है। तब फिर वे ससार में आयें ही क्यो ? कई लोग कहते हैं—"गत्वाऽगच्छन्ति भूयोपि भवं तीर्थ निकारतः।" यानी तीर्थ का जब ह्रास हो जाता है तब मुक्त आत्मा के मन में क्षोभ पैदा हो जाता है। अतः तीर्थ-प्रतिष्ठापन के लिए उन्हें संसार में पुन पुन आना पडता है। पर समझने की वात है—क्षोभ तो मनुष्यों को होता है। उनमें भी जो विशिष्ट मनुष्य होते हैं उन्हें क्षोभ कम होता है। तव फिर राग-द्वेष विजेता मुक्त आत्मा को क्षोभ कैसा ? इसीलिये गीता में कहा गया है 'यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धामं परमं मन'। जहाँ जाकर पुन· नही आना पडे, ऐसा है मेरा स्थान। तो इससे स्पष्ट है कि मुक्त आत्मा पुनः संसार में नही आती।

प्रश्न हो सकता है—तब फिर अवतारवाद निष्फल हो जायेगा ? गीता में भी कहा है :

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थान धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

यदि अवतारवाद असत्य है तो फिर गीता के इन श्लोकों का क्या अर्थ होगा ? यह सत्य है कि समय-समय पर अन्धकार में एक प्रगतिशील आत्मा आती है। भगवान् महावीर की भी एक ऐसी ही आत्मा थी। और भी अनेक ऋषि-महर्षियों ने समय-समय पर ससार को प्रकाश दिया था। पर हम यह क्यो मानें कि वे मुक्ति से ही आये थे जबकि हम यह स्पष्ट देखते हैं कि वे साधारण मनुष्यो के बीच ही पैदा हुए और पले-पुसे थे तो उनके मोक्ष से आने का क्या कारण हो सकता है ? यहाँ भी अनेक ऐसी आत्माएँ हैं जो नजदीक ही मुक्त होनेवाली हैं और वे इस क्षेत्र में ही काम करती हैं। पर इसका मतलब यह नही हो जाता कि हम अवतारवाद को मानें ही।

यदि मुक्त होने पर वापस आना ही पड़े तो फिर इस कठोर तपस्या का क्या फल होगा ? फिर साधना ही क्यो की जाए ? यदि वास्तव में

वहाँ से वापस आना ही पड़े तो वहाँ जाना ही क्यो ? मोक्ष का अर्थ है—पूर्ण बन्धन-मुक्ति और पूर्ण आत्म-विकास। वह यदि पूर्ण हो गया तो उसके वापस आने का कारण ही क्या रह जायेगा ?

कुछ लोग ईश्वर को ससार का कर्त्ता, हर्ता मानते है। पर यदि वह ही सब का कर्त्ता है तो फिर हम पुरुषार्थ करे ही क्यो ? किसान खेती क्यो करे ? और प्रत्यक्ष मे ही हम देखते है कि प्रत्येक मनुष्य अपने काम में संलग्न है। फिर हम यह क्यो माने कि हमारे सारे कर्मों का ईश्वर ही कर्त्ता है ? वास्तव मे हर बात की कर्त्ता-हर्त्ता हमारी अपनी आत्मा ही है। हम अगर अच्छे काम करेगे तो हमे उसका अच्छा फल मिलेगा हम अगर बुरे काम करेगे तो हमे उसका बुरा फल मिलेगा। तब फिर बात-बात में ईश्वर को बीच मे लाने का क्या अर्थ हो जाता है ?

आज भी ससार मे ईश्वरवाद को माननेवालो की सख्या ज्यादा है। इसका क्या कारण है ? मेरी समझ में इसका यही कारण हो सकता है कि—विद्वानो ने सोचा—हम जो काम करते है, उसमें हमे घमण्ड न आ जाए। अत उन्होने अपनी सारी कृतियाँ ईश्वर को अर्पित कर दी। साधारण भाषा में भी जब किसी से पूछा जाता है कि यह मकान किसका है ? तब कहा जाता है—यह आपका ही मकान है। तो क्या वास्तव मे ही वह मकान उनका हो जाता है ? इसी प्रकार यदि किसी ने कोई काम किया हो और उससे पूछा जाये—क्या यह काम आपने किया ? वह यही उत्तर देगा—नही, मैंने नही किया, यह तो आपने ही किया है। हर काम पर से अपना ममत्व हटाने के लिए ही शायद ईश्वर मे कर्तृत्ववाद को स्वीकार किया गया हो पर आज तो इसका रूप ही बदल गया है।

यद्यपि ईश्वर सर्वज्ञ है, वह सब कुछ जानता है पर जगत के इस प्रपच में वह नही पडता। जैनो और बौद्धो ने इसीलिए ईश्वर कर्तृत्व का खंडन कर एक बहुत बडी क्रान्ति की। इसीलिये श्रमण-संस्कृति का घोष है पुरुषार्थवाद। ईश्वर कर्तृत्व मानने का अर्थ है श्रम पर प्रहार। प्रश्न होता है यदि ईश्वर हमें सुखी नही बनाता है तब फिर हम ईश्वर का स्मरण क्यो करते है ? पर यदि हम सुखी होने के लिए ही ईश्वर का स्मरण करते है तो यह तो उसके साथ सौदा है। हम उसका स्मरण करे, अर्घ्य चढाये और वह हमपर खुश हो, हमें धन दे—यह सौदा नही तो और क्या है ? हम तो उसकी उपासना इसलिए करते है कि इससे हमारा मन टिका रहे। ईश्वर तो एक प्रकार से मेढी है। जिस प्रकार मेढी बैलो को अपने चारों ओर घुमाने में सहायक है, पर चलाती नही, उसी प्रकार हमारा चंचल मन वहाँ स्थिरता प्राप्त कर सके, यही हमारे ईश्वर-स्मरण का रहस्य

है। ईश्वर के स्वरूप-चिन्तन के सहारे हम भी उन गुणो को प्राप्त कर सकें, यही उसकी उपासना का लक्ष्य होता है।

यदि हम किसी प्राप्ति के लिए ईश्वर का स्मरण करते है तब तो फिर अप्राप्ति पर हमें उस पर क्षोभ हुए बिना नही रहेगा। और यह होता भी है। बहुधा यह देखा जाता है कि बहुत से लोग अपने यथेप्सित की प्राप्ति न होने पर ईश्वर को कोसने लगते है। "हाय राम! तुमसे मेरा सुख देखा नही गया। तुमने मेरे साथ बुरा किया। तुमने मेरे बेटे को उठा लिया।" आदि-आदि वाक्य क्या सचमुच ही ईश्वर पर लाछन नही है? बम्बई मे एक भाई मेरे पास आया। मैंने उससे पूछा—क्यो भाई! कभी ईश्वर का भजन करते हो? उसने कहा—हाँ महाराज! पहले तो बहुत किया था। उसके उत्तर ने मुझे पुन. प्रश्न करने को बाध्य किया। पहले किया था इसका मतलब यह कि अब नहीं करते हो? उसने कहा—हाँ। मैंने पूछा—क्यो? वह कहने लगा—पहले मैंने ईश्वर का बहुत स्मरण किया था पर उसने मेरी एक न सुनी। तबसे फिर मैंने भी उसकी उपासना करनी छोड दी। लगता है ईश्वर साला गुण्डा है। अब आप समझ गये होगे कि ईश्वर का कर्तृत्व मानने से ही ये सारी गालियाँ ईश्वर के पल्ले पड़ती है। नही तो भला उस पवित्र आत्मा को क्यो गालियाँ पडती।

ईश्वर का कर्तृत्व नही मानने के कारण ही बहुत से लोग जैनो को नास्तिक कह देते है। पर जब हम प्रत्यक्ष में यह देखते है कि कुम्भकार घडे बनाता है, कृषिकार खेती करता है, बढई काठ का सामान बनाता है और भी सृष्टि में जितने काम है उनका करनेवाला कोई न कोई जरूर है तब हमें फिर यह क्यो मानना चाहिए कि ईश्वर ही ससार का कर्त्ता है? संसार का कर्त्ता स्वय जीव है। वही अपना ससार रचता है।

लाडनूं,
२१ मई, '५७

३९ : म्याऊँ के मुँह पर

मानव! जरा आँखे खोलकर तो देखो। आज तुम्हारी स्थिति क्या हो गई है? जान-बूझकर क्यो अन्धे बनते हो भलेमानुष? क्या तुम्हें वह कहानी याद नही? उस समय जब रास्ते में माता-पिता और पुत्र तीनो जा रहे थे। पुत्र के मन में सहसा विचार आया—ऐसा न हो पर कभी हो भी सकता है कि हम अपने छोटे से परिवार के सारे के सारे प्राणी अन्धे हो जाये। क्या होगा उस समय? कौन आएगा हमारा

सहयोग करने ? अतः भविष्य की बात पहले सोचनी चाहिए और उस आपत्ति को सहन करने के लिए हमें पहले ही तैयारी कर लेनी चाहिए। उसने अपना प्रस्ताव माता-पिता के सामने रखा। उन्हें भी यह बात जँच गई। तीनों ने हाथ में लकडियाँ ले ली और लकडी से रास्ता टटोल कर चलने लगे। वह भूमि जिसपर वे चल रहे थे सोने की खदान-भूमि थी। चारों ओर सोने के ढेर लगे पड़े थे। पर वहाँ देखता कौन ? थोडी दूर चले और वहाँतक चले जहाँतक खदान की सीमा पूरी हो जाती है। पुत्र खुशी से उछल पडा। कहने लगा—"बस पिताजी ! अब आँखें खोल लीजिये। पूरा हो गया हमारा अभ्यास। हमारा परीक्षण सही निकला। इतनी दूर चलकर हमने देख लिया हम ऐसे सकट के समय में भी अपना काम चला सकते हैं।" तीनो आँखे खोल कर चलते गये। पर अब क्या था ? जो बीतना था वह तो बीत चुका। भले ही उन्हें यह ज्ञान न हो कि वे सोने की खदान पीछे छोडकर आ रहे हैं, भले ही वे अपनी सफलता पर फूले न समाते हो, पर जो कोई भी उनकी कहानी सुनेगा वह उनपर हँसे बिना नही रहेगा।

शायद तुम भी उनकी मूर्खता पर हँसे बिना नही रहे होगे। पर दूसरों पर हँसना सहज है भाई, अपनी देखो। तुम भी तो वही अभिनय कर रहे हो आज। क्या कभी तुमने अपने दैनिक कार्यक्रम की तरफ आँख उठाई है ? क्या तुम्हें भी कही 'पोजीशन' का रोग तो नही हो गया है ? दूसरों को अपने ऊँट को फिटकरी देते देख कही तुम भी अपने ऊँट को पानी तो नही पिला रहे हो जिससे वह भी गड़गडाहट तो उसी प्रकार कर सके ? फिटकरी नही तो क्या, पानी ही सही। पर गडगडाहट तो वैसी ही होनी चाहिए। दूसरो के वढे हुए खर्चों को देखकर क्या तुम भी उनकी बरावरी करने की नहीं सोचते ? तब फिर वताओ तुम्हें उनपर हँसने का क्या अधिकार है ?

हाँ, तुम भी जानने तो सव कुछ लगे हो। देखते हो यह 'पोजीशन' की होड बुरी है। पर पहले कौन करे ? म्याऊँ के मुँह पर कौन चढे ? पर जरा गहराई से सोचो इस होड में क्या धरा है ?

४० : कविता कैसी हो ?

कविता कवि का सहज धर्म है। कवि के हृदय के विचार से ही कविता वनती है और वही साहित्य वनता है। कविता व्यक्ति के हृदय के अन्तस्तल को छूनेवाली व शब्दाडम्वरो से रहित होनी चाहिए। पर आज हम

कवियो को बिल्कुल इसके विपरीत पाते है। भगवान् महावीर ने जो विचार का प्रचार किया, वह आज हमारे लिए सबसे ऊँचा साहित्य है। क्योकि वे उनके हृदय के विचार थे, उनमें नैतिकता की पुट थी। और वैसे ही साहित्य की आज यहाँ जरूरत है।

हमारे साधु-साध्वियो मे भी यह प्रयास काफी गति कर रहा है, क्योकि हमारा यह लक्ष्य है कि उन्नति इकतरफी न होकर चारो तरफ से होनी चाहिए, क्योकि वह कभी-कभी लाभ की अपेक्षा हानि भी पहुँचा देती है। केवल प्रवचनकार या लेखक या विचारक न बनकर सभी विषयो का अध्ययन हमें करना है और इस ओर हम जागरूक भी हैं।

लाडनूं,
२३ मई, '५७

४१ : श्रम और संयम

जीवन के दो पहलू होते है। पहला आचरण यानी क्रिया और दूसरा विचार यानी ज्ञान। आध्यात्मिक जीवन के लिए इन दोनो का होना आवश्यक है। इसीलिए शास्त्रो में कहा गया है—"ज्ञान क्रियाभ्या मोक्ष:"। पुराने जमाने में शिक्षा-केन्द्र गुरुकुलो के रूप में होते थे। उनका लक्ष्य यही रहता था कि छात्रो को ज्ञान और क्रिया की शिक्षा मिले। पर आजकल तो शिक्षण-केन्द्रो का लक्ष्य यह न रहकर केवल देश की बेकारी दूर करनी है। बेकारी की समस्या तो सामयिक है। आज यह समस्या है, हो सकता है कल इसका नाम-निशान भी न रहे। अत यह तो शिक्षा का एक अग है। यह मुख्य ध्येय नही हो सकता। शिक्षा का ध्येय होना चाहिए—जीवन की आध्यात्मिक उन्नति। आध्यात्मिक उन्नति का मतलब केवल उपवास और पौषध ही नही है। उसके अर्थ है—कषाय-मुक्त, सादा और सात्विक जीवन-यापन। वही जीवन उँचा है, जिसमें कषाय की हीनता ज्यादा से ज्यादा हो। हमारे शास्त्रो में कहा है—वह विद्या अविद्या है जिसमें आत्म-ज्ञान और धर्म का स्थान नही हो।

हाँ, एक बात यह भी ध्यान रखने की है कि—धर्म केवल रूढि न बन जाये। यदि वह रूढ़ि का रूप धारण कर लेगा तो उसमें भी फिर अस्थि-रता आ जायेगी। आज जो श्रद्धा है वह कल न रहेगी। अत यह आवश्यक है कि धर्म जीवन में पूर्ण श्रद्धा व सोच-विचार पूर्वक उतारा जाये।

आज अनेक कार्य-पद्धतियां ससार में चल रही है। एक पद्धति कहती

है—'श्रम ही जीवन है।' इधर अणुव्रत का यह घोष है—'सयम ही जीवन है।' इस घोष के पीछे का चिन्तन यह है कि श्रम में यदि सयम नहीं है, तो वह गलत बात होगी। श्रम तो एक पशु और पागल व्यक्ति भी करता है। पर उसके श्रम का क्या मूल्य है? इधर संयम भी यदि श्रम-रहित हो जाये तो वह भी गलत हो जाता है। अत जीवन में दोनो का समन्वय आवश्यक है।

लाडनूं,
२६ मई, '५७

४२ : अणुव्रतों की अलख

कैसी विचित्र बात है कि एक तरफ समारोह और दूसरी तरफ विषाद। समारोह तो हर्ष के विषय पर मनाये जाते हैं। पर साधु-सन्तो का आना-जाना सभी के लिए महोत्सव है। साधु तो यह सोचकर ही आते हैं कि एक दिन यहाँ से जाना है, और यह ठीक भी है। ठीक ही तो कहा गया है—बहता पानी और रमता जोगी भला किसका होता है।

अन्त में मैं आपसे यही कहूँगा कि आप मुझे विदाई देते समय लाडनूं मे जो अणुव्रतों की अलख जगी है उसे विदा न कर दें। जिस उत्साह से आपने अभी तक कार्य किया उसी उत्साह से करते जायें, तभी कुछ कार्य हो सकेगा।

लाडनूं,
२७ मई, '५७

४३ : साम्प्रदायिक मतभेदों का चिन्तन

आज लोगो में समन्वय की यह जो भावना दिखाई दे रही है यह प्रगति का शुभ सकेत है। यो तो प्राय सारे भारतवर्ष मे ही समन्वय की आवाज है पर उसका क्रियात्मक रूप कुछ कम सामने आ रहा है। पर अपने लम्बे प्रवास में हमने देखा है कि सभी जगह युवको में समन्वय की भावना कुछ अधिक पाई जाती है। बुजुर्गो में उनकी अपेक्षा यह भावना कुछ कम है। हो सकता है उनमें कुछ रूढिवादिता हो, किन्तु युवकों मे यह नही है। अत हमे इस ओर जरूर ध्यान देना चाहिए।

इस विषय में सबसे पहली बात है हम साम्प्रदायिक मतभेदो को चिन्तन

का विषय रखें। यद्यपि मैं यह नही कहता कि हमें मतभेद है ही नही; पर यदि वे है भी तो बहुत थोड़े हैं अत हमें उनको लेकर आपस में झगडना नहीं चाहिए। उन्हें आलोचनापूर्वक समझने की कोशिश करनी चाहिए। हम आपस में बैठकर यह चर्चा करे कि हरएक मान्यता की बुनियाद क्या है ? और जब हम शुद्ध जिज्ञासा लेकर चलते है तो फिर चर्चा में कटुता आये ही क्यो ? आज तो जब राजनीतिक लोग भी एक स्टेज पर आकर सभ्यतापूर्वक चिन्तन कर सकते है तब हम धार्मिक लोग आपस में बैठकर चर्चा क्यो नही कर सकते ? यदि कही कटुता आ भी जाये तो चर्चा को वही बन्द कर देना चाहिए। यह ठीक और यह गलत, यह खीचातानी कटुता का कारण होती है। पर जहाँ ज्ञान के लिए विवेचन चलता है वहाँ कटुता आये ही क्यो ? मैंने अनेक जगह इसका अनुभव किया है और पाया है कि उनका अन्त बड़ा सरस रहा है।

समन्वय की भावना को मूर्त रूप देने के लिए यह आवश्यक है कि इसकी कुछ रूप रेखा तय की जाए। उसके बारे मे मैं आपको दो-तीन बातें सुझाना चाहूँगा। पहली तो यह कि किसी भी सम्प्रदाय का अनुयायी दूसरे सम्प्रदाय की आक्षेपात्मक कटु आलोचना न करे। दूसरी यह कि विचार-विनिमय के लिए समय-समय पर संयुक्त गोष्ठियो का आयोजन किया जाये। तीसरी बात यह कि सामूहिक उत्सवो को सामूहिक रूप में ही मनाया जाये। जिस प्रकार वीर-निर्वाण-दिवस, महावीर-जयन्ती आदि-आदि उत्सव सभी जैनो को समान रूप से मान्य हैं। उन्हे अलग-अलग न मनाकर सामूहिक रूप से मनाये जाएँ। उनके जीवन पर प्रकाश डाला जाये। पर यह ध्यान रखने की बात है कि ऐसा प्रकाश नही जो अन्धकार का रूप ले ले यानी जिससे एक दूसरे की मान्यताओ को ठेस पहुँचे।

बहुत से जैन लोग यह प्रश्न करते है कि महावीर पर जयन्ती राष्ट्रीय छुट्टी क्यो नही होती, जब कि भगवान बुद्ध की जयन्ती में भारत में उनके अनुयायी कम होने पर भी राष्ट्रीय छुट्टी होती है इसके दो कारण है—पहला तो यह कि आमलोगो की धारणा है—जैन लोग सब से ज्यादा परिग्रही है। सब लोगो की उनपर आँख है कि भला जिन भगवान् महावीर ने सबसे ज्यादा अपरिग्रह का उपदेश दिया उनके अनुयायी ही आज परिग्रह के पडे कैसे हो गए ? यद्यपि मैं मानता हूँ कि सारे जैन परिग्रही, पूँजीपति ही है, ऐसी बात नही है। यह एक भ्रान्ति है कि जैन लोग ज्यादा परिग्रही हैं। हाँ, यह अवश्य है कि जैनो में ज्यादा भूखे-फकीर नही है। पर इसका मतलब यह नही कि वे सारे पूँजीपति ही हैं। मेरी समझ में जैन लोग मध्यमवर्गीय ज्यादा है।

पर तो भी आज परिग्रह की प्रतिष्ठा नही रहने के कारण आम जनता की उनके प्रति विशेष श्रद्धा नही है। नीति-निष्ठ तो आज जैन क्या और भी बहुत कम लोग हैं पर नाम के लिए जैनो का नाम सबसे पहले आता है। दूसरी बात है जैनों में स्वयं में भी आपसी कलह इतने हैं कि जिससे दूसरे लोगों को उनकी उपेक्षा करने का अवसर मिल जाता है। मन्दिरो, स्थानकों, यहाँ तक कि साधुओ और श्रावकों को भी लेकर कोर्ट में अनेक मुकदमे चलते हैं जिससे लोग मानने लगे है कि ये लोग तो लड़ाकू ही हैं। इसी कारण कोई चोटी का नेता उनकी बात सुनने को भी तैयार नही होता। वे लोग यह मानने के लिए भी तैयार नही है कि ये लोग कुछ काम करते हैं। इसीलिए महावीर जयन्ती की बात भी बल नही पकडती।

यद्यपि जैन-तत्त्व के प्रति लोगो की आस्था है पर जैन-सन्तों के प्रति उनकी भावना बहुत ही नीची है। इसका कारण है—जैन-सन्तो का आज सार्वजनिक परिचय नही होता है। जैन-धर्म आज कुछ इतने सीमित दायरे में बँध गया है कि लोग जैन-सन्तो को बनियो का महाराज कहने लगे हैं। वह जैन-धर्म जो सभी कौमो में चलता था आज केवल बनियो का पर्याय बनकर रह गया है। मुझे इस बात से बडा दु:ख होता है। इन थोडे वर्षों में हमारे सार्वजनिक कार्य को देखकर बहुत लोग मुझे कहते हैं—महाराज आपने तो बडी प्रगति कर ली। पर मैं उत्तर दिया करता हूँ—इसमें प्रगति की क्या बात है? अभी तक तो हमने अपनी गलती को सुधारा है। जैन-धर्म स्वय ही इतना विशाल है कि उसमें कोई भेद-भाव नही। पर समय की गति ने उसे बाँध दिया। अत आज हमारा सबसे बडा काम है कि हम उसे जाति के बन्धन से मुक्त कर सकें। पर जैनो को तो आपसी मतभेद से ही फुरसत नही मिलती तब वे जैन-धर्म की उन्नति की बात ही कैसे सोच सकेंगे?

अत आज समन्वय की बडी आवश्यकता है। श्वेताम्बरो में वल्लभ विजय जी महाराज और दिगम्बरो में सूर्यसागर जी महाराज में मैंने समन्वय की बड़ी तडप देखी। इसीलिए मैं स्वयं उनसे मिलने के लिए उनके स्थान पर गया था। मान और अपमान का भी जैन-मुनियों में आज बडा सवाल है, और तो क्या बैठने के लिए उन्हें अगर थोड़ा भी नीचा स्थान मिल जाता है तो उसमें वे अपना अपमान समझने लग जाते हैं। पर सोचने की बात है—साधुओ का क्या मान और क्या अपमान? अभी दिल्ली में बहुत से बौद्ध-भिक्षु हमारे स[illegible] गये [illegible] स्वय उनके स्थान पर भी गया था। वे क[illegible] अ[illegible] करना चाहते हैं पर समान आसन हो तभी [illegible] मुझे इसमें क्या

दिक्कत है ? अगर कोई नीचे बैठने मात्र से मुझसे कुछ ले सकता है तो मुझे इसमें क्या आपत्ति ? मै नीचे बैठ गया। वे भी नीचे बैठ गये। बहुत देर तक उनसे हमारी चर्चा हुई। हम दोनों को ही उसमें बड़ा रस आया। अत. समस्त जैन-मुनियो के लिए यह सोचने की बात है। अगर वे छोटी-छोटी बातों में ही उलझ जाते हैं तो जैन-धर्म की उन्नति तो बहुत बडी बात है।

लाडनूं
२८ मई, '५७

४४ : नैतिक क्रान्ति के क्षेत्र

जो आनन्द वर्ग-विहीन समाज मे बोलने में आता है वह एक वर्ग के लोगो मे बोलने में नही आता। केवल जैन या केवल ओसवालो में बोलकर मैं उतना खुश नही होता जितना सर्वसाधारण में बोलकर होता हूँ। उससे भी अधिक खुशी तो मुझे तब होती है जब मैं ग्रामीणो में बोलता हूँ। अभी मै गाँवो से होकर आ रहा हूँ। वहाँ मुझे बड़ी सरलता दिखाई दी। हालाँकि मै यह नही कह सकता कि वहाँ पाप है ही नही। पर शहरो की अपेक्षा वहाँ पाप कम है, यह कहा जा सकता है। और आजकल तो शहरों के सामीप्य ने ग्रामो पर भी हाथ फेर दिया है। पर फिर भी वे सन्तों की बातें सुनने के लिए उत्सुक रहते हैं, यह भी मैंने वहाँ देखा। दोपहर की भयकर गर्मी मे भी वे लोग प्रवचन सुनने के लिए इकट्ठे हो जाते थे। वहाँ टाउन हॉल तो है नही, किसी वृक्ष की छाया के नीचे मैं बैठ जाता और वे लोग मेरे चारों ओर बैठ जाते। कितने प्रेम से वे मेरी बातें सुनते। केवल सुनते ही नहीं वे उन्हें अपने जीवन में भी उतारते।

यहाँ शहरी लोगो में मेरे प्रवचन की प्रशसा करनेवाले बहुत मिल जायेंगे। मेरे स्वागत मे लम्बे-लम्बे और लच्छेदार भाषण करनेवाले भी अनेक मिल जायेंगे, पर मै अगर उनसे किसी व्रत की माँग कर लूँ तो शायद वे धरती कुरेदने लग जायेंगे या आकाश की ओर देखने लग जायेंगे। सस्कृत में एक वाक्य आता है—'वैयाकरण खसूचि'। जब किसी वैयाकरणी को प्रश्न का उत्तर नही आता है तो वह आकाश की ओर देखने लग जाता है। उस अवस्था को कहते हैं—'वैयाकरण खसूचि'। शहरी लोग भी शायद किसी व्रत का नाम सुनकर आकाश की तरफ देखने लग जायेंगे। पर गाँव में मैंने देखा पचासों वर्ष से तम्बाकू पीनेवाले लोगो ने भी थोडा सा

उपदेश सुनकर उसी वक्त मेरे सामने अपनी चिलमें तोड डाली और आजीवन तम्बाकू नही पीने का व्रत ले लिया। यह क्या कम बात है? यहाँ शहरो में ऐसे उदाहरण कम मिलेंगे।

तेरापंथ के आद्य प्रवर्त्तक भिक्षुस्वामी ने अनेक बार कहा है—वास्तव में कार्यक्षेत्र तो गाँव ही है। एकबार वे किसी शहर में चातुर्मास बिताकर आये। दूसरे गाँव में आने पर किसी ने उनसे कहा—"महाराज! अबकी बार तो आपने शहर में अच्छा उपकार किया।" स्वामीजी ने कहा—'हाँ भाई! अनेक लोगो ने हमारी बाते सुनी, समझी। हमने खेती की तो है पर वह गाँव के गोरवें (किनारे)। यदि गधे उसे उखाड न दें तभी उसकी सफलता है।" कितना मर्म था उनके कहने का। इसका कारण यह है कि शहरो में अनेक लोग रहते हैं। उन सबके विचार भी अलग-अलग होते हैं। बुरे विचारो का असर बहुत जल्द और बहुत ज्यादा होता है। अत शहरों में व्रत-नियम की बातें कैसे जड पकड पाएँगी। वहाँ तो अनेक ऐसे आकर्षण रहते हैं कि वे त्याग के प्रति आस्था ही नही जमने देते। पर गाँवो में ऐसा नही होता। अब भी जहाँ शहरो में दूध में प्राय पानी मिलाया जाता है वहाँ गाँवो में दूध बेचा तक नही जाता। उलटे वे लोग तो यह कहते हैं—दूध और पूत क्या बेचे जाते हैं? अनेक गाँवो में तो हमारे साथवाले गृहस्थ दूध लाने के लिए जाते तो उन्हें दूध नही मिलता। वे लोग कहते तुम चाहे जितना दूध ले जाओ पर हम उसके पैसे नही लेंगे। श्रावक भी मुफ्त मे दूध कैसे लेते। अत वे घूम-फिरकर वापस आ जाते पर उन्हें पैसो में दूध नही मिलता।

यहाँ शहरो का जीवन कितना कृत्रिम हो गया है। जयपुर में हम गये। वहाँ हमें यह भी पता नही चलता कि आकाश में चन्द्रमा उदय होता है या नही। क्योकि वहाँ तो हमेशा बिजली की चकाचौंध रहती है। और उस कृत्रिम प्रकाश ने मनुष्य का अन्तर-प्रकाश, सहज प्रकाश छीन लिया है।

तो शहरी-जीवन मे आज इतनी विकृतियाँ आ गई हैं कि वहाँ आत्मा की आवाज बडी मुश्किल से सुनी जाती है। पर मुझे तो सभी जगह काम करना है। अत. मैं शहरो को भी कैसे भूल सकता हूँ? पर आपसे मैं यह स्पष्ट कह देता हूँ कि केवल शाब्दिक स्वागत को मैं स्वागत नही मानता। मेरा स्वागत तभी हो सकता है जब आप अपने-अपने जीवन की बुराइयाँ मुझे अर्पित कर स्वय हलके हो जायेंगे।

४५ : जिज्ञासु और जीगीषु

मनुष्य मे जिज्ञासा अवश्य रहनी चाहिए। और इसीलिए चर्चा का भी जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। पर वह जय और पराजय के लिए नही की जाए। जहाँ जय और पराजय का प्रश्न है वह चर्चा अहिंसक चर्चा नही होती। साधु किसी की हार-जीत चाहता ही नही। यहाँ तक कि शास्त्रो में कहा गया है—'देवाणं मणुस्साण च तिरियाण च वुग्गहे। अमुयाणं जओ हो माऊ वा होउत्ति नो वए।' अर्थात् देव, मनुष्य और तिर्यंचो के आपस के कलह में साधु को यह नही कहना चाहिए कि अमुक की जय हो और अमुक की पराजय। तव चर्चा में भी जय-पराजय का प्रश्न उठाना हिंसा है यह स्पष्ट समझा जा सकता है।

यद्यपि साधु यह चाहता है कि सत्य की विजय हो। पर वह विजय की कामना व्यक्तिपरक नही। व्यक्तिपरक विजय की कामना राग है। इसी आधार पर तो स्वामीजी ने कहा था—किसी विजय और पराजय में मत पडो। निर्वल और सवल का ससार में झगडा हमेशा से चला आ रहा है। आज भी तो वाद और राष्ट्र के नाम पर यह निर्वल और सबल का ही तो झगडा है। ऐसी स्थिति में शक्तिवान की जय और निर्बल की पराजय हिंसा नही तो और क्या है? उन्होंने कहा था—"एकण रे दे चपेटी, एकण रो दे दुख मेटी।" ए तो रागद्वेष नो चालो, दशवैकालिक सम्भालो।' एक आदमी को पुचकारना और एक आदमी को मारना यह राग-द्वेष का परिणाम है। इसी प्रकार शास्त्रार्थ भी जय और पराजय के लिए नहीं होकर ज्ञान-विकास के लिए होना चाहिए। यदि ऐसा हो तो फिर चर्चा ५ दिन भी चले वहाँ उत्तेजना नही होगी। उत्तेजना तो वहाँ होती है जहाँ प्रतियोगिता होती है।

प्रतियोगिता बडी बुरी चीज होती है। आपने देखा होगा कभी-कभी मोटरो में प्रतियोगिता हो जाती है। इसमें यात्रियो को तो लाभ होता है पर उनका क्या हाल होता है? एक आदमी कहेगा कि वह यहाँ से वहाँ तक का ५ आने किराया लेगा। दूसरा उसे ४ आने में ही ले जाने को तैयार हो जायेगा। उसमें फिर प्रतिस्पर्द्धा पैंदा होगी और वह ३ आने में भी तैयार हो जायेगा। यह बदहालत यहाँ तक पहुँच जाती है कि कभी-कभी तो विना किराये ही सवारी को वैठा लिया जाता है। यह अक्ल का दैन्य नही तो और क्या है?

अत. चर्चा का लक्ष्य प्रतियोगिता नही होना चाहिए। हर मनुष्य को जिज्ञासु होना चाहिए जिगीषु नही। जिज्ञासा तो एक भूख है। मैं समझ

नही सकता कि इसके बिना मनुष्य को चैन कैसे पडता है? यदि किसी व्यक्ति को भूख नही लगती हो तो उसे जगाने के लिए दवा लेनी पडती है। तो इस ज्ञान की भूख को जगाने के लिए दवा क्यो नही लेनी चाहिए? जिगीषा का मतलब है जीतने की इच्छा। यह अच्छी नही होती। इसे मिटाने के लिए सत्संगति की अनुपम औषधि लेनी चाहिए।

४६ : जैन-धर्म जन-धर्म कैसे बने?

साधु लोग एक चलती फिरती हाट है। जैसे हाट लगती है, तब तो अनेक लोग वहाँ सामान खरीदने व बेचने के लिए आ जाते हैं और जब वह उठ जाती है तो पीछे से कही पत्थर, कही ईंट और कही कुछ अवशेष रह जाते हैं। इसी प्रकार जहाँ साधु जाते हैं, वही लोग इकट्ठे हो जाते हैं। वे अप्रतिबन्ध बिहारी हैं। अतः आज यहाँ है तो कल कही जाकर ठहरेगे। उनका काम है स्वयं की साधना करना और दूसरो को भी उस ओर आकृष्ट करना। अतः जगह-जगह उपदेश करना भी उनका कर्तव्य है। युग जिसे चाहे और हमारी साधना मे उससे अगर कोई बाधा न हो तो वैसा करने में हमारा क्या नुकसान है? इससे अगर एक भी व्यक्ति सन्मार्ग पर आता है तो यह कितना बडा उपकार है? केशी मुनि और प्रदेशी राजा का वृतान्त आप लोगो ने सुना होगा। एक व्यक्ति का उपकार होते हुए देख कर केशी मुनि ने कितना लम्बा बिहार किया था। मान लीजिये किसी समय लाभ न हो, कोई भी व्यक्ति न समझे पर इससे हमारा क्या नुकशान हुआ? हमारी अपनी प्रवृत्ति का लाभ तो हमें हो ही चुका। अतः केवल पुरानी बू में ही बहते रहना यह कोई तत्त्व की बात नही है। जिस काम के करने में फायदा हो उसे करने में कोई सन्देह नही करना चाहिए।

जैन साधुओ की तो यह विशेषता रही है कि वे घर-घर मे जाकर प्रचार करते रहे हैं। बीच के कुछ काल में इस बात की कमी भी आई, और इसी कमी के कारण मध्यकाल में जैन-तत्त्व जनता तक नही पहुँच पाया। जो जैनधर्म इतना व्यापक था, वह आज इतना सकुचित क्यो हुआ? इसीलिए कि उसमें सकीर्णता आ गई। भगवान् महावीर के श्रावक सभी जाति और सभी वर्ग के थे। पर मध्यकाल में यह बात भुला दी गई। यह मान लिया गया कि जैन-धर्म तो ओसवाल महाजनो का ही है। इसी दायरे ने जैनधर्म को संकुचित बना दिया, और दूसरे लोग भी यह मानने लगे कि जैनधर्म उनका नही है। यह ठीक है कि ओसवालो ने उस समय

बुराइयो, कुव्यसनों, गलत खान-पान का त्याग किया था। पर इसके बाद में क्या कुछ हुआ, यह भी ध्यान देने की बात है। जबतक धर्म जाति-पाँति के वन्धन से मुक्त नही होगा, तव तक उसका फैलाव असम्भव है। यदि दूसरे लोगो को उसका परिचय ही नही होगा तो लोग उसे स्वीकार भी कैसे करेंगे ? आप एक छोटी-सी बात वोट को ही लीजिये। उसके लिए भी जानकारी की कितनी आवश्यकता रहती है। उम्मीदवार को अपना परिचय जनता तक पहुँचाना पडता है। अपना सम्पर्क बढाना पडता है। विना जाने-बूझे आखिर वोट दिया भी किसे जाय ? इसी प्रकार धर्म-प्रचारको का सम्पर्क भी जबतक जनता से नही होगा तब तक उसे कैसे स्वीकार कर सकेगी ? अभी दिल्ली से वापिस जाते वक्त मैं एक गाँव मे ठहरा। वहाँ के लोगो ने समझा—महाराज आ रहे हैं। न जाने कितने साधु उनके साथ आएँगे ? कितने सेवक उनके साथ आएंगे ? कितना आटा उनके लिए चाहेंगे आप ? कितना घी ले लेंगे ? और कम से कम सोने के लिए भी न जाने कितने विस्तरों की आवश्यकता होगी ? इसी चिन्ता में वे बेचारे घबडा गये और पहले हमसे दूर-दूर रहे। आहार-पानी कर लेने के बाद जब हम प्रतिक्रमण करने लगे तो उन लोगो ने देखा—इन सन्तो ने रोटी-पानी तो हमसे नही माँगा। बाद में वे हमारे पास आये। हमने उन्हें उपदेश सुनाया। सुनकर उनकी आँखें खुल गईं और विशेष बात जो उन्होने सोची थी कि न जाने कितने विस्तरो की आवश्यकता होगी, उनकी यह शका भी दूर हो गई। क्योकि हमलोग अपने ही कपडे पर सोते हैं। फिर प्रात जब हम अगले गाँव के लिए प्रस्थान करने लगे तो वे लोग इकट्ठे होकर हमारे पास आये और कहने लगे—महाराज ! हमें तो आपका पता ही नही था कि आप ऐसे साधु हैं। हमने तो सोचा था—न जाने ये लोग क्या-क्या करेंगे, पर आपका तो किसी पर एक पाई का भी बोझ नही, यह देखकर हमें आपमें बड़ी श्रद्धा हुई है। आप चलिये और हमारे घरो से भिक्षा लीजिये। मैंने कहा—भाई ! हमें अभी आगे जाना है। हम अभी रुक नही सकते। भिक्षा लेने में हमे देर हो जाएगी और विशेषतः हम प्रात काल भिक्षा लेते भी नही है। अत अभी जायेंगे ही। उन्होने वडी भक्तिपूर्वक कहा—अच्छा महाराज ! आज तो आप जायेंगे पर अव कभी इधर से आना हो तो हमारा गाँव भूलना मत। हाँ तो मैं कह रहा था कि बिना परिचय के लोगो में भ्रान्तियाँ रहनी स्वाभाविक है।

वास्तव में हमारा धर्म कितना सस्ता है। इसमें एक पाई का भी खर्च नही है। अगर कोई हमारा धर्म स्वीकार भी करता है तो हम उसे यही त्याग दिलायेंगे कि हमारे लिये रोटी भी नही बनाये। खर्च की तो बात

ही कहाँ रही ? एकबार औरंगाबाद छावनी में भी इसी प्रकार हम एक बडे पुलिस अफसर के घर ठहरे थे। लोगों ने जगह माँग ली। जान-पहचान का आदमी था। बेचारा अस्वीकारता कैसे ? पर मन ही मन सोचने लगा—इस बडे हाथी को मैंने अपने घर पर बुला लिया है। न जाने महाराज कैसे आयेंगे, कैसे ठहरेंगे और क्या-क्या करेंगे ? खैर हमलोग वहाँ चले आये। आहार-पानी से हम निवृत्त होकर आये थे। आकर बैठ गये। प्रतिक्रमण किया। पहले वह हमें दूर-दूर से देखने लगा। न जाने ये लोग क्या होंगे ? पर हमारे प्रतिक्रमण करने के पश्चात् कुछ संकोच दूर हुआ और सभ्यता के नाते आकर पूछने लगा—महाराज ! आपके भोजन की व्यवस्था। मैंने कहा—भाई ! हम तो भोजन करके आये हैं। तो दूध पीयेंगे ? नही, हम रात को कुछ खाते-पीते नही। उसने सोचा होगा—चलो इतनी बला तो टली। थोड़ी देर बाद पूछा—अच्छा महाराज आपको सोने के लिए कितने बिस्तरे चाहिए ? मैंने कहा—नही, हम अपने बिस्तर अपने पास ही रखते हैं। दूसरो के बिछौने पर नही सोते। उसने दो कमरे हमे दिये थे। उनमें बिजली जल रही थी। हमने उसे समझाया कि भाई रात को बिजली जलती रहने पर ये कमरे हमारे काम नही आएँगे। तो क्या बिजली बुझा दूँ ? पर गरमी बहुत है। आप बाहर नही सोते ? पखा तो खोल दूँ ? हमने समझाया कि जिस प्रकार हम बिजली के नीचे नही सोते, उसी प्रकार पखे के नीचे भी नही सो सकते। उसे बडा आश्चर्य हुआ। रात को तो वह चला गया। दूसरे दिन वह वापिस हमारे पास आया और बोला—अच्छा महाराज ! आप शौच तो लैट्रिन में जाएँगे ? मैंने कहा—नही, हम बाहर जगल में जाते हैं। अब उसके अन्तर के द्वार खुल गये। कहने लगा—आचार्यजी ! आप तो गजब हैं। मैंने तो आपके बारे मे न जाने क्या-क्या सोचा था पर आप तो और ही निकले। अब मैं आपसे छिपाता नही, सारी बात कहना चाहूँगा। मैंने तो यही समझा था कि और-और सन्त-महन्तो की तरह आप भी कोई बडे ठाट-बाट से आयेंगे। आप की सादगी और आचार देखकर मेरे मन में आपके प्रति श्रद्धा उमड पडी है और मैं सोचता हूँ कि सारे ही साधु अगर इसी प्रकार के हो तो क्या हमारा देश सुधर नही जाये ? रात मे हमने उसे और उसकी पत्नी तथा बच्चो को कुछ उपदेश दिया और अणुव्रत-आन्दोलन के बारे में भी बताया। वे लोग बड़े भक्त बन गये और कहने लगे—प्रात काल का नाश्ता तो आप को हमारे यहाँ करना ही होगा। हमने उन्हें अपनी विधि बताई और आखिर उनकी भक्ति देखकर थोडा दूध तथा एक दो चपातियाँ (रोटियाँ) उनके घर से ली।

तो कहने का मतलब है कि जबतक लोग परिचय मे नही आते, तब तक यह भाव रहता ही है। अत अगर हम जनता के परिचय में आये तो इसमें हमारे लिये कोई बाधा नही और उन्हें यदि एक स्वाभाविक तत्त्व मिलता है तो इसमें हमें आपत्ति नही होनी चाहिए।

आप कहेंगे—आप इतने लोगो के परिचय मे आये, कितने लोग जैनी बने ? मै कहूँगा—इन बातो को आप एक दफे रहने दीजिये। यह सोचिये कि कितने लोग हमारे निकट आये और कितने लोगो ने सम्पर्क से अपने जीवन शुद्ध किये ? क्या यह कम बात है ? मुझे अपनी इस ७००० मील की यात्रा में इस सम्बन्ध के न जाने कितने अनुभव है। लोगो के सम्पर्क में आकर मैंने बहुत कुछ पाया है और सोचता हूँ—अगर हमारा थोड़ा प्रयास रहे तो हजारो नही लाखो आदमी भगवान् महावीर के सदेश को सुनने के लिए तैयार है। पर थोडा प्रयास अवश्य अपेक्षित है।

मेरी तरह आप लोगो के सम्पर्क में भी अनेक लोग आते होगे। हमारी बहनो के सम्पर्क में भी न जाने कितनी बहने आती होगी और वे आप लोगो का आदर भी करती होगी। पर क्या आपने कभी यह कष्ट किया है कि अपने सम्पर्क में आनेवाले लोगो को जैन-तत्त्व की जानकारी दी जाये। आपने तो समझ लिया होगा—शायद धर्म करने का अधिकार तो हमारा ही है। ये छोटी जाति के लोग क्या धर्म कर सकेगे ? समझना तो दूर रहा आपने कही यह तो नही मान लिया है कि उनसे बात करने से हम नीचे हो जायेंगे। तब तो सबसे नीचे हम साधु ही होगे। क्योकि हम प्रत्येक व्यक्ति के सम्पर्क में आते है। उनसे बोलते है, उन्हे उपदेश देते है। अतः आप यह भ्रान्ति अपने दिल से निकाल दें कि ये नीच आदमी क्या धर्म कर सकेंगे ? आवश्यकता इस बात की है कि उन्हें साधुओ का सम्पर्क कराया जाय और जैन-तत्त्व की जानकारी करायी जाये। आप उन लोगो को छोड दीजिए जो सुनना नही चाहते। पर इसके बाद भी एक बड़ी सख्या शेष रह जाती है, जोकि सुनना चाहती है। आप उनको मौका क्यो नही देते ? माना उनको काम रहता है। पर यह कोई जरूरी नही है कि वे रोज ही यहाँ आयें। जब कभी ५-४ दिनो मे उन्हें समय मिले वे सम्पर्क कर सकते है। तो इसमे उन्हें नुकसान भी क्या है ? आज लोगो की दृष्टि में आप हमें बहुत ऊँचे मानते हैं। पर सम्पर्क में नही आने के कारण दूसरे लोग उल्टी हमारी खिल्लियाँ उडाते है। हम यह चाहते हैं कि उनसे सम्पर्क करे और करते भी है। पर इनमें हमें समाज का सहयोग नही मिलता। इसका मतलब यह नही है कि आप हमें आर्थिक सहयोग दें। हम आप का निरवद्य सहयोग चाहते हैं और अगर

आप देगे तो सहर्ष स्वीकार करने में हम कोई संकोच नही करेगे।

भद्रवाहु का उद्धरण देकर कई लोग कहते हैं—उन्होने कहा है कि—"वेस्स इत्थो धम्मो भवइ"। पर आप इसकी गहराई को सोचें। धर्म किसी जाति-विशेष के हाथ में नही रहता। वह तो उसी के हाथ में रहता है जो उसे अपनाता है और आज तो जातिवाद की शृखला भी टूटती जा रही है।

दिल्ली मे कुछ हरिजन मेरे पास आये और कहने लगे—आचार्यजी! कुछ लोग हमें बौद्ध बनाना चाहते हैं पर हम चाहते है कि हम जैन बनें। अत: क्या आप हमें जैन बना सकते है? मैंने कहा—भाइयो! मै यह नही चाहता कि आप जैन बनने का प्रदर्शन कर कोई हुडदग पैदा कर दें। आप लोगो मे जो समझदार हो, वे लोग पहले जैनधर्म का अध्ययन करे और फिर अगर आपको ये विचार अच्छे लगें तो इस से आपको मनाही करने वाला कौन है? उन्होने कहा—आप कहते है, यह बात ठीक है। हम भी ऐसा प्रदर्शन नही चाहते। पर हम चाहते है कि जैन-समाज का सहयोग हमे मिलता रहे।

मैंने अपने जैन-समाज की ओर देखा। पर वहाँ इतनी तैयारी कहाँ है? हम काम करते है और काम करके जब समाज की ओर देखते है तो वड़ी निराशा होती है। मोर नाचता है और उसे बडा अच्छा लगता है। वह घूम-घूम कर नाचता है। अपने लावण्य को देखकर हर्ष विभोर हो उठता है। पर नाच लेने के बाद जब वह अपने पैरो की ओर देखता है, तो उसकी आँखों से आँसू निकल आते है। इतने सुन्दर शरीर के साथ इन कुरूप पैरो का क्या सयोग? पर क्या किया जाये, प्रकृति की विचित्रता है। इस प्रकार समस्याएँ एक नही अनेक है। जैन-समाज के लोग इन तथ्यो के बारे मे ध्यानपूर्वक सोचें और अपना दायरा विशाल बनाएँ। जैन-तत्त्व किसी जाति-विशेष का ही नही है। यह जन-तत्त्व है। अत इसे जनता में प्रसूत होने दीजिए। भगवान् महावीर ने अपने उपदेशकी भाषा सस्कृत नही रखकर प्राकृत रखी। क्यो? इसलिए कि सस्कृत वहुत थोडे लोग जानते है और प्राकृत जन-भाषा है। अत उस भाषा मे उपदेश कर जनता को उपदेश करना है। मै आज ही पढ रहा था वुद्ध के एक शिष्य ने उनसे कहा—भन्ते! सस्कृत-भाषा देवभाषा है। अत. आप भी पाली भाषा छोडकर संस्कृत भाषा में ही अपना उपदेश करें। वुद्ध ने कहा—नही आयुष्मान्! मै यह नही चाहता कि मेरी भाषा कुछ एक पडितो की भाषा रहे जो मठो में ही पढी जाय। मै चाहता हूँ कि मेरी भाषा को जनसाधारण भी समझें। अत सस्कृत को

मैं नही अपना सकता।" इसी प्रकार भगवान् महावीर ने भी साधारण जनता तक पहुँचने के लिए प्राकृत भाषा को अपनाया था। उन्होने समझा कि हमारा साहित्य उन भाषाओं मे ही होना चाहिए। तो आप सोचिए इसके पीछे जनसाधारण तक पहुँचने की उनकी कितनी गहरी दृष्टि थी।

स्वय आप तो साधारण जनता मे पहुँचते ही कहाँ है? साधु भी कही जाते है तो उल्टी उनकी आलोचना करने को तैय्यार हो जाते है। हालाँकि वे आपकी आलोचना से घबराने वाले नही है। आपका विरोध देखकर वे सत्य सिद्धान्त को छोड देनेवाले नही है पर तो भी वे देखते है, चलो इस कार्य से व्यर्थ ही कोई असन्तुष्ट हो जाता है तो अपने और बहुत सारे कार्य है, हम उन्हें ही करे। पर फिर भी इस तथ्य को मैं आपके सामने विना रखे नही रहूँगा कि जैन-धर्म व्यक्ति और जाति विशेष का धर्म नही है वह जन-धर्म है और उसे जैनधर्म हाने दिया जाये यही मेरी तडफ है। मै तो इस तरफ प्रयत्न करने की वात सोच रहा हूँ और आप लोगो से भी मेरा यही कहना है कि आप हमें निरवद्य सहयोग दें। अगर आपने थोडा-सा ही प्रयास किया तो मै समझता हूँ कि आप दो ही वर्षों मे इसका फल देख सकेंगे और इसके साथ जो सबसे वडी आवश्यकता है वह यह कि आप अपने स्वयं का जीवन-निर्माण करे। यह तो मूल कार्य है ही अगर आपका जीवन ज्वलित होगा तो दूसरे लोग भी स्वय इससे प्रेरणा पाएगे और स्वय ही जैन-धर्म की ओर आकृष्ट होगे।

४७ : प्रतिष्ठा और दुर्बलताएँ

समाज के वढे हुए आर्थिक वोझको देख कर मन में आता है आखिर ये लोग आँखे मूँदे क्यो सो रहे है? पर किया क्या जाए? घर मे चाहे कुछ भी हो या न हो पर शादी के अवसर पर तो वैसे ही पैसे उडाये जायेंगे। सब सोचते है, पर देखते है घर की 'पोजीशन' नही रहेगी। हमारे पिताजी ने हमारी शादी में इतना खर्च किया था तो हम अगर उससे कम खर्च करेंगे तो लोग हमे क्या कहेगे? एक नही, मन ही मन सारे अपने घावो को सहलाते हैं पर आगे कोई नही आना चाहता। कोई देखता है—मैंने तो अपनी सारी लडकियो की शादी कर दी है, एक लड़की की शादी शेष रही है, क्यो अपने किये कराये पर पानी फेरूँ? कोई देखता है—पाँच लडकियों की शादी करनी है, पहली ही शादी मे हाथ कडा रखूंगा तो फिर वाकी के इन गट्ठरो को ले कौन जायेगा? कोई देखता है—मुझे

आप देंगे तो सहर्ष स्वीकार करने मे हम कोई सकोच नही करेगे।

भद्रवाहु का उद्धरण देकर कई लोग कहते हैं—उन्होने कहा है कि—"वेस्स इत्थो धम्मो भवइ"। पर आप इसकी गहराई को सोचें। धर्म किसी जाति-विशेष के हाथ में नही रहता। वह तो उसी के हाथ में रहता है जो उसे अपनाता है और आज तो जातिवाद की शृखला भी टूटती जा रही है।

दिल्ली मे कुछ हरिजन मेरे पास आये और कहने लगे—आचार्यजी! कुछ लोग हमे बौद्ध बनाना चाहते हैं पर हम चाहते है कि हम जैन बनें। अत: क्या आप हमें जैन बना सकते है? मैंने कहा—भाइयो! मैं यह नही चाहता कि आप जैन बनने का प्रदर्शन कर कोई हुडदग पैदा कर दें। आप लोगो में जो समझदार हो, वे लोग पहले जैनधर्म का अध्ययन करे और फिर अगर आपको ये विचार अच्छे लगे तो इस से आपको मनाही करने वाला कौन है? उन्होने कहा—आप कहते हैं, यह बात ठीक है। हम भी ऐसा प्रदर्शन नही चाहते। पर हम चाहते है कि जैन-समाज का सहयोग हमें मिलता रहे।

मैंने अपने जैन-समाज की ओर देखा। पर वहाँ इतनी तैयारी कहाँ हैं? हम काम करते हैं और काम करके जब समाज की ओर देखते हैं तो बड़ी निराशा होती है। मोर नाचता है और उसे बडा अच्छा लगता है। वह घूम-घूम कर नाचता है। अपने लावण्य को देखकर हर्ष विभोर हो उठता है। पर नाच लेने के बाद जब वह अपने पैरो की ओर देखता है, तो उसकी आँखों से आँसू निकल आते हैं। इतने सुन्दर शरीर के साथ इन कुरूप पैरो का क्या सयोग? पर क्या किया जाये, प्रकृति की विचित्रता है। इस प्रकार समस्याएँ एक नही अनेक है। जैन-समाज के लोग इन तथ्यो के बारे मे ध्यानपूर्वक सोचें और अपना दायरा विशाल बनाएँ। जैन-तत्त्व किसी जाति-विशेष का ही नही है। यह जन-तत्त्व है। अत इसे जनता मे प्रसृत होने दीजिए। भगवान् महावीर ने अपने उपदेशकी भाषा संस्कृत नही रखकर प्राकृत रखी। क्यो? इसलिए कि सस्कृत वहुत थोडे लोग जानते हैं और प्राकृत जन-भाषा है। अत उस भाषा में उपदेश कर जनता को उपदेश करना है। मै आज ही पढ रहा था' वुद्ध के एक शिष्य ने उनसे कहा—भन्ते! सस्कृत-भाषा देवभाषा है। अत. आप भी पाली भाषा छोडकर सस्कृत भाषा में ही अपना उपदेश करे। वुद्ध ने कहा—नही आयुष्मान्! मै यह नही चाहता कि मेरी भाषा कुछ एक पडितो की भाषा रहे जो मठो में ही पढी जाय। मैं चाहता हूँ कि मेरी भाषा को जनसाधारण भी समझें। अत सस्कृत को

मैं नहीं अपना सकता।" इसी प्रकार भगवान् महावीर ने भी साधारण जनता तक पहुँचने के लिए प्राकृत भाषा को अपनाया था। उन्होंने समझा कि हमारा साहित्य उन भाषाओ में ही होना चाहिए। तो आप सोचिए इसके पीछे जनसाधारण तक पहुँचने की उनकी कितनी गहरी दृष्टि थी।

स्वय आप तो साधारण जनता मे पहुँचते ही कहाँ हैं? साधु भी कही जाते है तो उल्टी उनकी आलोचना करने को तैय्यार हो जाते है। हालाँकि वे आपकी आलोचना से घवराने वाले नही है। आपका विरोध देखकर वे सत्य सिद्धान्त को छोड देनेवाले नही है पर तो भी वे देखते है, चलो इस कार्य से व्यर्थ ही कोई असन्तुष्ट हो जाता है तो अपने और वहुत सारे कार्य है, हम उन्हे ही करे। पर फिर भी इस तथ्य को मैं आपके सामने बिना रखे नही रहूँगा कि जैन-धर्म व्यक्ति और जाति विशेष का धर्म नही है वह जन-धर्म है और उसे जैनधर्म होने दिया जाये यही मेरी तडफ है। मैं तो इस तरफ प्रयत्न करने की वात सोच रहा हूँ और आप लोगो से भी मेरा यही कहना है कि आप हमें निरवद्य सहयोग दें। अगर आपने थोड़ा-सा ही प्रयास किया तो मैं समझता हूँ कि आप दो ही वर्षों में इसका फल देख सकेंगे और इसके साथ जो सवसे वडी आवश्यकता है वह यह कि आप अपने स्वयं का जीवन-निर्माण करे। यह तो मूल कार्य है ही अगर आपका जीवन ज्वलित होगा तो दूसरे लोग भी स्वय इससे प्रेरणा पाएंगे और स्वय ही जैन-धर्म की ओर आकृष्ट होगे।

४७ : प्रतिष्ठा और दुर्बलताएँ

समाज के बढे हुए आर्थिक बोझको देख कर मन मे आता है आखिर ये लोग आँखें मूँदे क्यो सो रहे हैं? पर किया क्या जाए? घर में चाहे कुछ भी हो या न हो पर शादी के अवसर पर तो वैसे ही पैसे उडाये जायेंगे। सब सोचते हैं, पर देखते हैं घर की 'पोजीशन' नही रहेगी। हमारे पिताजी ने हमारी शादी में इतना खर्च किया था तो हम अगर उससे कम खर्च करेंगे तो लोग हमें क्या कहेंगे? एक नही, मन ही मन सारे अपने घावो को सहलाते हैं पर आगे कोई नही आना चाहता। कोई देखता है—मैंने तो अपनी सारी लडकियो की शादी कर दी है, एक लड़की की शादी शेष रही है, क्यो अपने किये कराये पर पानी फेरूँ? कोई देखता है—पाँच लडकियो की शादी करनी है, पहली ही शादी में हाथ कडा रखूँगा तो फिर बाकी के इन गट्ठरो को ले कौन जायेगा? कोई देखता है—मुझे

तो एक ही लडकी है, इसकी शादी मे भी यदि मै जी खोलकर खर्च नही करूँगा तो फिर करूँगा ही कब ? अत यही अवसर है जिसमे मुझे खुलकर खर्च करना चाहिए। और इसका असर दूसरे लोगो पर पडता है। वे सोचते है—उन्होने इतना किया है तो हमे भी इतना तो करना ही चाहिए। कोई जान-बूझकर करता है तो कोई विवश हो खर्च करता है। उतनी आमदनी नही रही है। कोई गहने बेचकर खर्च करता है तो कोई कर्ज लेकर खर्च करता है। और फिर जीवन भर उसके नीचे पिसता है। उसे पूरा करने के लिए तरह-तरह के अनैतिक कार्य करता है और आर्त्त-रौद्र ध्यान की चक्की मे पिसता है।

एक भाई से सुना था—मेरा छोटा भाई एक गाँव में छोटी-सी दुकान करता है। बिल्कुल सच्चाई से काम करता है। बडा सुखी जीवन है उसका। न तो सेलसटैक्स की चोरी करता है, न इन्कमटैक्स की, और न गलत खाते रखता है। उसे न तो किसी ऑफिसर का डर है और न किसी नौकर का। ऑफिसर लोग आते है तो उसके खाते देखते ही नही। कहते है—यह ईमानदार है, इसके खाते क्या देखें ? ग्राहक भी दूसरो की अपेक्षा ज्यादा आते है। देखते है वहाँ माल अच्छा मिलेगा। सारे गाँव भर मे उसकी प्रतिष्ठा है। वह अपने आप मे सन्तुष्ट है। मैंने उससे पूछ लिया—भाई ! तुम भी वैसा करते हो या नही ? उसने उत्तर दिया—"नही महाराज ! मै तो वैसा नही कर सकता। मैंने पूछा—क्यो ? उसका उत्तर था"—"मेरी कमजोरी।"

मै समझ नही पाता कि आखिर आप जानते हुए भी मेरी बात क्यो नही मानते ? या तो यह बात है कि मै अपनी बात को आपलोगो के गले नही उतार सकता या फिर आपलोग ही ऐसे है कि मेरी बात को अपने गले नही उतरने देते। कुछ भी हो यह स्थिति अच्छी नही है। क्या आप यह सोचते है कि ज्यादा कमाकर आप उसे अपने पास रख सकेंगे ? पर अब तो सरकार खाया-पिया सब निकलवा लेनेवाली है। पहली बात है कि आप इन्कमटैक्स की चोरी करके रुपये यहाँ ले भी आये, पर अब तो वह भी पचनेवाला नही है। अगर आप खर्च करते है तो सरकार आपसे पूछेगी यह रुपया आप कहाँ से लाए ? दूसरी बात है अब आपके खर्च पर भी टैक्स लगेगा। पहले जमाने में लोग रुपये को खर्चकर यह तो मानते थे कि उन्होने उसका सार खीचा है पर अब तो वह भी मुश्किल हो गई है। अत सभी दृष्टियो से मुझे तो यही लगता है कि आप अपने जीवन को हल्का बनाए।

दूसरे चाहे जितना भी खर्च क्यो न करते हो पर आपको तो अपनी

स्थिति का ध्यान रखना आवश्यक है। पर क्या किया जाये आज तो सारे अपने को इसी बाट से तौलते हैं कि उन्होने क्या किया? उसने यदि बारात में इतने आदमी बुलाये तो मेरे तो इतने से ज्यादा आने चाहिए? उसने यदि बारातियो की इतनी खातिरदारी की तो मुझे भी इतनी करनी चाहिए। उसने यदि वारातियो को तेल, साबुन, रसाल दिलाई तो मुझे तो उससे कुछ नया कार्य करना ही चाहिए। और कुछ नही तो उनकी बूट पॉलिश ही करवानी चाहिए। क्या वताया जाये, लोग एक पुरानी रूढि को छोडना चाहते हैं पर पाँच नई रूढियो को पकड लेते है। 'भूत मर कर पलीत हो गया'—वाली कहावत चरितार्थ हो रही है। एक खर्च घटता है तो दूसरे पाँच बढ जाते हैं। कैसे पार पाया जा सकता है इनसे?

युवक लोग भी, जो यह कहते है—नवयुग का भार हमारे कन्धो पर है, वृद्धो पर नही हैं। जहाँ रूढियो के मिटाने का प्रश्न आयेगा वे बडी आतुरता के साथ उन्हे मिटाने की छटपटाहट दिखायेगे। पर वे स्वयं कितनी रूढियो को जन्म देते है यह भी उन्होने कभी देखा या नही? मै समझ नही पाया उनका यौवन और वह तेज आज कहाँ चला गया है। क्रान्ति की वातें वनाने मे कुछ लोग आगे भी रहते हैं पर उनके अपने घर में काम पडे तो वे भी सफलता पूर्वक पीछे खिसक जायेगे। मै समझता हूँ उनमे वह ओज भी आज नही रहा है जो नौजवानो मे होना चाहिए। नही तो भला वे क्या नही कर सकते?

मुझे बड़ा दुख होता है जब मैं यहाँ आनेवाले लोगो के चेहरो पर विषाद की रेखाएँ देखता हूँ। मै जानता हूँ आप यहाँ सामायिक करने आते हैं पर सामायिक में आपके मन मे क्या क्या कल्पनाएँ आती होगी। आपको हजार तरह की चिन्ताये रहती है, यहाँ आने पर भी। कभी आप सोचते होगे—हमारी दुकान मे पीछे क्या हो गया होगा, हमारे घर पीछे से क्या हो गया होगा, हमारे समाज में पीछे क्या हो गया होगा। अत. जब तक आपका जीवन स्वच्छ नही हो जाता तब तक ये चिन्ताएँ आपका पीछा छोडने वाली नही है।

कुछ लोग मुझे यह कहते है—महाराज को इन बातो से क्या मतलब? वे अपनी धर्म-ध्यान की बातें करें। समाज के बारे में उन्हें बोलने की क्या जरूरत है? पर आप एक बार इन बातो को छोड दीजिये। अपनी बातें मै स्वयं सोचूंगा। जो दूसरो की भूल निकालने जाता है और स्वय पहले मन्त्रित नही हो जाता वह उल्टा उसके ऊपर आ जाता है। अत. अपनी वात को मै स्वय सोचूंगा पर आपसे मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि आप पहले अणुव्रती वन जाइए। फिर हम यह विचार भी करेंगे कि

यह सामाजिक काम है या धार्मिक? समाज और धर्म का आपस में क्या सम्बन्ध है?

आखिर हमारा काम लोगो को प्रेरणा देना है। अपना काम तो उन्हें स्वय ही करना पडेगा। हमलोग कोई आपलोगो को उठानेवाले नही हैं। उठना तो आपको स्वयं पडेगा। हम तो केवल सहारा मात्र दे सकते हैं। हनुमानजी ने रामचन्द्रजी को लका-दहन के बारे में कितना सुन्दर कहा·

प्रतापेन तु रामस्य, सीता निःश्वसितेन च।
पूर्वं दग्धा तु सा लंका, पश्चाद्वह्नि वशंगता॥

अर्थात् आपकी प्रतापरूपी अग्नि और सीताजी के नि श्वासो से वह (लका) तो पहले ही जल रही थी, मैंने तो केवल जलती हुई लका मे कुछ ईंधन डाला था। इसी प्रकार अपनी कमजोरियो को तो आपको स्वय ही मिटाना पडेगा। हम तो आपका थोडा बहुत सहयोग कर सकते हैं। वह सहयोग अगर आप लेना चाहे तो हम सहर्ष देने के लिए तैयार हैं।

बीदासर,
५ जून, '५७

४८ : धर्म और सम्यकत्व

लोगो में नीति के प्रति निष्ठा पैदा हो। कोई अणुव्रती बने या नहीं यह दूसरी बात है पर कम से कम लोगो को इसकी जानकारी मिल जाये यह तो आवश्यक ही है। कुछ लोग कहते हैं—अणुव्रत क्या है जी? यह तो नेतागिरी करने का साधन है। किसी प्रकार देश में प्रसिद्धि हो जाये यही इसका उद्देश्य है। पर यह निरा भ्रम है। धर्म का नाम आज कितना बदनाम हो गया है यह किसी से छिपा नही है। आज ही मैं अखबार पढ रहा था। एक जगह मैंने पढा—धर्म परिवर्तन के नाम पर हिन्दुओ और बौद्धो के बीच आपस में लडाई हो गई। मुझे यह बडा खेद हुआ। क्या धर्म वास्तव मे दगा-फसाद पैदा करने के लिए ही है? यदि इसीलिए धर्म है तो फिर और ससार मे शान्ति कर ही कौन सकता है? कोई बौद्ध हो जाये इतने मात्र से दूसरे उन्हे कोसे, कोई मन्दिर को न माने इतने मात्र से दूसरे उसे गाली दें, क्या धर्म का स्वरूप यही है? पर आये दिन यह होता रहता है। इसीसे आज धर्म बदनाम हो गया है। अत· धर्म के नाम पर आज लोगो को आकृष्ट करना जरा मुश्किल है। इधर अनीति भी कोई कम जोर पर नही है। उसे मिटाना भी आवश्यक है। धर्म

का नाम लोगो को सुहाता नही। अत' हमने सोचा कोई ऐसी चीज सोची जाए जिससे लोग साधुओ के सम्पर्क मे तो आ सके। इस विचार ने ही अणुव्रत को जन्म दिया। इसके माध्यम से हम अनेक लोगो के सम्पर्क में आये और उन्हें नैतिकता की ओर आकृष्ट करने मे सफल भी हुए।

कुछ लोग कहते हैं—इससे तो आप सम्यक्त्वियो और मिथ्यात्वियों को एक कर देते है। पर सोचने की बात है कि क्या पास बैठने मात्र से सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी एक हो जाते हैं। सम्यकत्वी के पास बैठने से ही अगर मिथ्यात्वी में सम्यकत्व चला आता है तो बहुत अच्छी बात है। इससे तो उसका भी कल्याण हो जायेगा। और मिथ्यात्वी के पास बैठने से ही उसका मिथ्यात्व आपमे आ जाता है तब यह तो बडी चिन्ता की बात है। मैं ऐसे कच्चे सम्यकत्व को सम्यकत्व ही नही मानता जो पास बैठने मात्र से चला जाता हो। वास्तव मे पास बेठने मात्र से सम्यकत्व और मिथ्यात्व न तो आता है और न जाता है। यह तो अपनी वृत्तियो पर निर्भर है।

एक भाई ने पूछा—"यह सम्यकत्व क्या है और यह कैसे आता है, तथा कैसे जाता है?" मैंने उत्तर देते हुए कहा—"सम्यक्—ठीक देखने को ही सम्यकत्व कहते है। सम्यक् से मतलब है यथावस्थित। जो वस्तु जैसी है उसे वैसी ही समझना, जैसे धर्म-अधर्म आदि तत्वो को जिस रूप मे वे है उस रूप में समझना यही सम्यक्-दृष्टि है। जो जड है उसे जड़ मानना, जो चेतन है उसे चेतन मानना यही सम्यकत्व का स्वरूप है। मोहनीय कर्म के उदय होने से मनुष्य को सम्यकत्व की प्राप्ति नही हो सकती। यद्यपि है तो यह आत्मा का स्वभाव ही और इसीलिए वह आत्मा में ही रहता है पर कर्मोदय के कारण वह आवरित रहता है। जिस प्रकार मिट्टी में ही घडे का आकार छिपा रहता है, काष्ठ मे ही कपाट का अस्तित्व रहता है उसी प्रकार सम्यकत्व प्रत्येक आत्मा में रहता ही है। पर जबतक उसके आवरक कर्मों का नाश नही हो जाता तब तक वह मनुष्य को प्राप्त नही हो सकता।"

अब प्रश्न है वह आता कैसे है? शास्त्रो मे उसके दो कारण बताये हैं—"**निसर्गादधिगमाद्वा।**" निसर्ग अर्थात् स्वभाव से और अभिगम अर्थात् प्रयत्न से। जिस प्रकार कुएँ पर प्रतिदिन घडा रखने से अपने आप वहाँ एक खड्डा बन जाता है या काठ पर दीमक इस प्रकार से लगी कि वहाँ अपने आप 'क' आदि अक्षरो का आकार बन जाता है उसे निसर्ग कहते हैं। इसी प्रकार बिना ही किसी तीव्र प्रयत्न के स्वय ही घिसते-घिसते मोह-कर्म जब क्षीण पड़ जाता है तो सम्यकत्व की प्राप्ति हो जाती

है और उसे निसर्ग सम्यकत्व कहते है। अधिगम सम्यकत्व का मतलब है प्रश्नोत्तरो के द्वारा या तपस्या के द्वारा मोहकर्म के क्षय होने पर प्राप्त होने वाला सम्यकत्व। जिस प्रकार सम्यकत्व आने के दो प्रकार हैं उसी प्रकार आये हुये सम्यकत्व के जाने के भी दो कारण होते है। या तो वह स्वभावत ही कर्मोदय से चला जाता है या फिर किसी दुर्जन की सगति से चला जा सकता है।

कौन सम्यकत्वी है और कौन नही, यह मै नही जानता। यह तो निश्चयपूर्वक केवल ज्ञानी ही कह सकते है। पर व्यवहार मे ऐसा लगता है कि जिसकी सद्गुरु, सद्धर्म और सदागम मे रुचि हो वह सम्यग्-दृष्टि समझा जा सकता है। वैसे जैनी व तेरापथी बनने मात्र से कोई सम्यकत्वी नही हो जाता और न मेरे पास आनेमात्र से ही कोई सम्यकत्वी बन जाता है। यदि मेरे पास आने से ही कोई सम्यकत्वी बन जाता, तब तो यह पट्ट जिसपर मै बैठा हूँ यही मेरे सबसे पास मे है। इसमे ही सम्यकत्व सबसे पहले आना चाहिए। पर सम्यकत्व तो अपने पौरुष से प्राप्त होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने परिश्रम के द्वारा ही उसे प्राप्त कर सकता है। हम किसी को सम्यकत्वी या मिथ्यात्वी नही कर सकते। हम तो उसको प्रेरणा दे सकते है।

यदि कोई कहे कि अणुव्रतियो में सम्यकत्वी कितने है तो मेरे पास कोई इसका लेखा-जोखा नही है। अणुव्रती क्या—जैनी और तेरापथी लोगो मे कितने सम्यकत्वी है यह बताया जाना भी असम्भव है। बाहरी लक्षणो के द्वारा हम इसकी पहचान कर सकते है।

बीदासर,
१३ जून, '५९

४९ : भगवान् महावीर

जैन-धर्म एक सार्वजनिक धर्म है। इसके सिद्धान्त—अहिंसा और सत्य—जन-जन के अपनाने के लिए हैं। यह किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति नही है। लोग कह देते हैं—अमुक धर्म अमुक जातियो का है, परन्तु वास्तव मे धर्म किसी जाति-विशेष का नही होता। भला आत्मोत्थान का पथ किसी पथिक विशेष के लिए कैसे हो सकता है ? जैन जाति नही, धर्म है। जैन शब्द का प्रादुर्भाव 'जिन' अर्थात् राग-द्वेष को जीतने वाले शब्द से हुआ है। जहाँ अन्य धर्मावलम्वी ईश्वर का अवतार रूप में जन्म लेना मानते है, वहाँ

जैन-दर्शन इसका खडन करता है। वह तो ईश्वर की स्तुति ही काफी वतलाता है, यदि शुद्ध भाव से की जाय। वह ईश्वर का नही, महान आत्मा का अवतरित होना ही मानता है, जो धर्म-प्रचार और अधर्म-विनाश करता है। यदि ईश्वर ही ऐसा करे तो फिर धर्म विनाश हो ही क्यो ? महान् भगवान् महावीर देवायुष्य पूर्णकर इस भूमि पर अवतरित हुए जिसका वर्णन आचाराग के २४ वें अध्ययन में है।

भगवान् महावीर के पाँच कार्य एक ही नक्षत्र उत्तरा-फाल्गुनी मे हुए—स्वर्ग से च्युत होकर गर्भागमन, गर्भ-सक्रमण, जन्म, दीक्षा और केवल ज्ञान की प्राप्ति। सिर्फ निर्वाण स्वाति नक्षत्र मे हुआ।

भगवान् महावीर अवसर्पिणी के चौथे आरे (विभाग) के ७५ वर्ष ८।। महीने वाकी रहे, तब आषाढ सुदी ६ को उत्तरा-फाल्गुनी नक्षत्र मे दक्षिण ब्राह्मण कुण्डपुर ग्राम मे ऋषभदेव की पत्नी देवनन्दा ब्राह्मणी के गर्भ मे आये। उस समय उनमे तीन ज्ञान—मति, श्रुति और अवधि—विद्यमान थे। आसोज वदी १३ को बयासी रात्रियाँ पूरी हो जाने पर उत्तरा-फाल्गुनी नक्षत्र में तिरासवी रात्रि को देवता द्वारा गर्भ-सक्रमण किया गया, अर्थात् देवानन्दा के गर्भ से वालक को उठाकर उत्तरी क्षत्रिय कुण्डपुर सिद्धार्थ की पत्नी त्रिशला की कुक्षि से अशुभ पुद्गलों को निकाल कर शुभ पुद्गलो का सक्रमण कर महावीर को वहाँ रखा गया। लोगो के मन मे यह प्रश्न उठेगा कि यह क्यो किया गया ? क्या ब्राह्मण एक नीची जाति है ? वस्तुस्थिति ऐसी है कि जितने भी तीर्थंकर हुए, वे सब क्षत्रिय हुए। हो सकता है, इस परम्परा को चालू रखने के लिए देवताओ ने ऐसा किया हो या फिर भवितव्यता—अर्थात् ऐसा ही होना था, मानना पडेगा। या ब्राह्मणी का दुर्भाग्य और त्रिशला के सौभाग्य के सिवा और क्या कहा जाय।

जव वे त्रिशला के गर्भ मे आये, माता को सिंह, हाथी, वृषभ, अग्नि, समुद्र, सूर्य, चन्द्र, कुम्भकलश, रत्नो की राशि, महेन्द्रध्वज आदि चौदह तरह के शुभ स्वप्न आये। जब कोई महान् आत्मा गर्भ में आती है, तभी ये स्वप्न या इनमें से कुछ स्वप्न आते है। ब्राह्मणी माता ने भी स्वप्न देखे, पर उसे ऐसा मालूम हो रहा था, कि स्वप्न जा रहे है।

त्रिशला की कुक्षि से ६ माह ७।। दिन बाद चैत्र शुक्ला १३ को उत्तरा-फाल्गुन नक्षत्र में भगवान् का जन्म हुआ। इस समय भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी, वैमानिक आदि सभी देवो ने उद्योग किया, जो तीनो लोको मे फैला। इससे नरकवासियो (नैरियो) को भी कुछ देर के लिए शान्ति मिली। अमृत, सुगन्ध, सोना, चाँदी, फूल, रत्नादि सात प्रकार की वर्षा हुई। देवियो ने प्रसूति-कार्य किया। इनके जन्म के बाद परिवार में धन,

धान्य आदि की अभिवृद्धि हुई, अत बालक का नाम वर्द्धमान रखा गया। फिर स्नानादि शुद्धि के बाद रिश्तेदारो को भोज और याचको को भिक्षा दी गई। इस तरह भगवान् महावीर रत्न-जटित आँगन में पाँच दाइयों के द्वारा पाले गये। फिर ये बडे हुए, ज्ञानी हुए और इनका विवाह भी हुआ।

आपके तीन नाम थे—वर्द्धमान, श्रमण, और महावीर। इनके पिता के भी तीन नाम थे—सिद्धार्थ, श्रेयास् और यशस्वी। माता के भी त्रिशला, विदेह-दिन्ना और प्रियकारिणी—ये तीन नाम थे। काका का नाम सुपार्श्व, वडे भाई का नाम नन्दिवर्द्धन और बडी बहन का नाम सुदर्शना था। भगवान् की पत्नी का नाम यशोदा था, जो कौंडिन्य गोत्र की थी। इनकी पुत्री के दो नाम अनवद्या और प्रियदर्शना थे। दौहित्री के भी दो नाम थे। शेषवती और यशोमती।

भगवान् के माता-पिता पार्श्वनाथ भगवान के साधुओ के श्रावक थे। उन्होने श्रावकाचार का काफी वर्ष तक पालन किया, साधना की। अन्त में आहार-पानी का त्याग (सथारा अनशन) करके बारहवें देवलोक में गये। वहाँ से वे महाविदेह-क्षेत्र में अवतरित होकर निर्वाण प्राप्त करेगे।

भगवान् महावीर की प्रतिज्ञा थी कि माता-पिता के जीवन-काल में दीक्षा न लूंगा। प्रतिज्ञा पूरी होने पर अर्थात् माता-पिता की मृत्यु हो जाने के बाद वे सयम लेने के लिए तैयार हुए। यहाँ लोग कहेगे—माता-पिता की मृत्यु होने पर ही सयम लेंगे, यह कैसी प्रतिज्ञा ? जब भगवान गर्भ मे थे, तब सोचा कि मैं यह जो हलन-चलन किया करता हूँ, इससे माता को दु ख होता होगा और क्रिया बन्द कर दी। इससे माता के मन में सन्देह हुआ कि गर्भ गल गया है या और कुछ हो गया है। यह सुनते ही जहाँ चारो ओर खुशी छाई हुई थी उदासी फैल गई। रगरलियाँ भग हो गईं। भगवान् यह सब ताड गये। किया कुछ और ही विचार कर और हुआ कुछ और ही। अत हलन-चलन फिर शुरू कर दिया। फिर क्या था, चारो ओर वही खुशी का वातावरण प्राप्त होने लगा। भगवान् ने विचारा—जब इतने से ही माता-पिता वेचैन हो गये, तव सयम लेने से तो और ज्यादा दु ख होगा। अत आपने प्रतिज्ञा कर ली कि जब तक वे जीवित रहेंगे मैं सयम नही लूंगा। उनकी मृत्यु के वाद जव २८ वर्ष की अवस्था मे आपने दीक्षा लेने का विचार किया, तव वडे भाई (नन्दिवर्द्धन) ने कहा—मेरा क्या हाल होगा ? एक साथ माता-पिता का वियोग, फिर तुम भी अलग हो रहे हो। ज्येष्ठ भाई के अनुरोध से आपको दो वर्ष फिर रुकना पडा। इस तरह आप ३० वर्ष तक गृहवास में रहे, फिर सयम लिया। सयम से एक वर्ष पूर्व आप दान वाँटने लगे। वे दिन के पहले प्रहर तक एक करोड

आठ लाख सौनैये (सोने के सिक्के) दान देते थे। यह धन (गड़ा निधान, जिसका कोई मालिक नहीं) देवता ला-लाकर देते थे। देवता यह भी कहते—'भगवान जागो' दुनिया दु खी है, उसको ज्ञान दो, उसका मार्ग-दर्शन करो, सारा ससार सतप्त है, उसे आपके सिवा शाति देनेवाले और है ही कौन ?'

भगवान् ने मार्गशीर्ष वदी १० के सुव्रत नामक दिन व विजय मुहूर्त में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र मे दीक्षा ली। नाना प्रकार के अभिग्रह किये और तास्याएँ की। आपने देवों, दानवो और मानवो द्वारा दिये गये कष्टो को समभावपूर्वक सहन किया। दीक्षा लेते ही भगवान् को मन पर्यव ज्ञान उत्पन्न हो गया था, जिसके द्वारा वे ढाई द्वीप तथा दो समुद्र में रहे हुए सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो के मनोगत भावो को जानने लगे। इस प्रकार भगवान के पास चार ज्ञान हो गये।

भगवान् ने एक शिष्य भी बनाया, जिसका नाम गोशालक था। वह बडा अविनीत निकला। उसने लब्धि से दो साधुओ को जला डाला। भगवान् का शरीर भी ऊपर से जला दिया, जिसका वर्णन भगवती सूत्र के पन्द्रहवें शतक मे आया है।

भगवान् की कष्ट-सहिष्णुता को देखकर इन्द्र ने सभा मे आपकी प्रशसा की, इस पर सगम नामक एक देव इनकी परीक्षा करने आया। उसने छः महीनों में भगवान को बीस मरणात कष्ट दिये, तो भी आपने समभावपूर्वक उन्हें सहन किया। देव हारकर चला गया।

इस प्रकार साढे बारह वर्ष करीब कष्ट सहन करते-करते और तपस्या करते-करते आपने मोहनीय आदि चार कर्मों का वैशाख सुदी १० को उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में क्षय कर डाला और केवल ज्ञानी हुए। देवता महोत्सव करने आये। इन्द्रभूति आदि पण्डितो ने इसे इन्द्रजाल समझा और वे भगवान को जीतने के लिए आये, परन्तु भगवान ने बिना पूछे ही इनकी नास्तिकता को बताया और आस्तिक विचार उनके दिमाग में बैठाये। इसपर वे भगवान के शिष्य हो गये।

इस प्रकार भगवान् जैन-धर्म का प्रचार करते रहे। अन्त में स्वाति नक्षत्र में भगवान का निर्वाण हुआ। आप के दो पट्टधरो (सुधर्मा स्वामी, जम्बू स्वामी) तक को केवल ज्ञान रहा। भगवान् के निर्वाण चले जाने के बीस वर्ष बाद सुधर्मा स्वामी और चौसठ वर्ष बाद जम्बू स्वामी ने निर्वाणपद प्राप्त किया। इसके बाद छ पाट तक श्रुतकेवली रहे, जिनमें अन्तिम श्रुतकेवली भी भद्रबाहु स्वामी थे। श्री स्थूलीभद्र स्वामी, कालिकाचार्य

(दस पूर्वधर) आगमो को लिपिबद्ध करनेवाले थे। बाद मे क्रमश देवर्धिगणी क्षमाश्रमण तक एक पूर्व का ज्ञान रहा।

बीदासर,
२८ जून, '५७

५० : साधु की श्रेष्ठता

पानी बहता भला, साधु रमता भला। पानी की उपयुक्तता तथा साधु की श्रेष्ठता तभी सुस्थिर रह सकती है जबकि वे दोनो अबाध गति से एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचते रहे। साधुओ के इस प्रकार विचारण में स्व-कल्याण के साथ-साथ परोपकार की भावना भी अन्तर्निहित है।

सन्तो के आगमन से लोगो को एक अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति होने लगती है पर उनके लिए किसी भी प्रकार की तैयारी अपेक्षित नही है। सत तो अपने ढग के निराले ही मेहमान होते हैं जिनका एकमात्र ध्येय लोगो को सन्मार्ग-दर्शन है।

क्रोध का शमन सतो की सहनशीलता की पराकाष्ठा है। मनुष्य के जीवन में ऐसे प्रसंग उपस्थित हो जाते हैं जबकि उसके हृदय मे अनायास ही क्रोध की उत्पत्ति हो जाती है। पर ऐसे प्रसंग-जनित क्रोध को सत सहज भाव से टाल जाते है। सन्त तुकारामजी एक गृहस्थ रूप में सन्त थे जो कि गन्ने बाँट देने के कारण अपनी पत्नी के कोप-भाजन बने। अवशिष्ट गन्ने से अपनी पत्नी द्वारा पीटे जाने पर भी सन्त तुकाराम ने उसे विनोद का रूप दिया और प्रहार के फलस्वरूप टूटे हुए एक गन्ने के दो टुकडो को आपस मे बाँट लेने को कहा।

सन्तो का आगमन लोगो के लिए हितकर अवश्य है परन्तु उनके लिए विशिष्ट तैयारियो का उपक्रम आत्म-प्रवंचना व अहितकर है। अगर अपने लिए की जाने वाली तैयारियाँ हम पसन्द करे तो फिर मठाधीशो और जैन-साधुओ मे अन्तर ही क्या रह जायेगा ?

बीदासर,
२८ जून, '५७

५१ : निर्भयता का स्थान

एक जमाना वह था जबकि बाजार व्यक्ति की सुरक्षा एव अभय का स्थान समझा जाता था। गली कूंचो में चलता हुआ अप्रत्याशित आक्रमण

से भयभीत मानव बाजार मे पहुँचकर अपने आप को सुरक्षित पा सुख की साँस लिया करता था। पर आजकल तो बाजार भय का अड्डा बन गया है कि कही दुकानदार कान न कतर लें। बाजार जो निर्भयता का स्थान था, पुन वैसा ही बने।

सुजानगढ़,
६, जुलाई, '५१

५२ : अणुव्रत की आधारशिला

आधार भेद से व्रत भी अणुव्रत और महाव्रत इन दो भागों में विभक्त हो जाता है। महाव्रत यानी पूर्णव्रत, अणुव्रत यानी छोटे-छोटे व्रत। यह कोई व्रतो का विभाग नही है पर ग्रहण करनेवालो की क्षमता के आधार पर व्रत भी महा और अणु इन रूपों में आ जाते है। जो महाव्रत का पालन नही कर सकता वह अणुव्रतों को ग्रहण करता है। जैसे कोई एक व्यक्ति पूरी रोटी खा लेता है, दूसरा एक साथ पूरी रोटी नही खा सकता तो वह टुकडे-टुकडे करके कई बार मे खाता है। ठीक इसी प्रकार जो महाव्रत का पालन नही कर सकता वह अणुव्रतो का पालन करता है। इसीलिये अणुव्रतो को कोई भी ग्रहण कर सकता है। एक किसान, स्वर्णकार, नेता, वैद्य, वकील, कार्यकर्त्ता, भाई, बहन सब कोई अपना-अपना धन्धा करते हुए भी अणुव्रती बन सकते हैं। अणुव्रत का लक्ष्य है—कोई भी चाहे जैसा करता है पर उसमे विकृति नही आनी चाहिए। इस प्रकार अणुव्रत हरएक को अपने-अपने क्षेत्र में रहकर जीवन को माँजने की बात बताता है।

अणुव्रत की आधारशिला है—'सयम'। इसलिये हम संयम के आधार पर ही जन-जीवन का परिवर्तन करना चाहते हैं। कई लोग परिस्थितियो को बदलकर जीवन को बदलने में विश्वास करते हैं। पर बाहरी रूप से यह कुछ सही लगते हुए भी अन्तत पूर्ण सही नही है। क्योकि परिस्थिति के परिवर्तित हो जाने पर जीवन का परिवर्तन हो ही जाये यह एकान्त संभव नही है। यद्यपि अत्यन्त विपन्न अवस्था में परिस्थितियाँ मनुष्य को अपने कर्त्तव्य-पथ से विचलित कर सकती है। 'बुभुक्षित किं न करोति पापम्'। पर कुछ ऐसे उदाहरण भी सामने आते है जहाँ अति सकट और अभाव में रहकर भी मनुष्य अपनी मानवता की रक्षा करते है, और शायद आज तो नैतिक लोगो में उनकी सख्या ज्यादा होगी जो अभाव में पलते हैं। वे देश जो साधन सम्पन्न है और जहाँ अभाव शायद बहुत कम है वहाँ भी

अनैतिकता न हो ऐसी बात तो नही है। इसलिये अनीति को केवल अभावोत्पन्न मान लेना ही उचित नही लगता। फिर भी अभाव को मिटाने के लिए कुछ लोग प्रयत्न करते ही हैं। हमारा काम है—परिस्थिति के रहते हुए भी मनुष्य को सयम की ओर प्रेरित करना। साधना का पहला सूत्र ही यही है कि मनुष्य परिस्थिति के रहते हुए भी अपनी मानवता की रक्षा करे। यद्यपि यह साधना कठिन है, पर है उत्कृष्ट कोटि की। यह कोई बडी बात नही है कि धन प्राप्त हो जाने पर मनुष्य अनीत्ति करे। पर बड़ी बात तो यह है—'**तच्चित्रं यदि निर्धनोपि मनुजः पापम् न कुर्यात् क्वचित्**'' अर्थात् निर्धन होकर भी मनुष्य पाप कर्म नही करे। विकार के साधन रहने पर भी जो मनुष्य विकारग्रस्त नही वह महान् है। शास्त्रो मे कहा है—

वत्थ गन्ध मलंकारं इत्थिओ सयणाणिय।
अच्छंदा जे न भुंजन्ति न से चाइत्ति वुच्चइ॥
जेयकन्ते पिए भोए लद्धे विपिट्ठी कुव्वइ।
साहीणे चयइ भोए से हु चाइत्ति वुच्चइ॥

साधन सामग्री के प्राप्त नही होने पर जो उनका उपभोग नही करता है वह त्यागी नही है। त्यागी तो वह है जो उनके प्राप्त होने पर भी उन्हे ठुकरा देता है। इस दृष्टि से अणुव्रत का लक्ष्य है—परिस्थिति के रहते हुए भी उसका सामना किया जाये।

एक और बात जिसे मै स्पष्ट कर देना चाहता हूँ वह यह है कि अब तक भी कुछ लोग अणुव्रत को साम्प्रदायिक मानते है। पर अब जबकि सारे राष्ट्र मे इसे मान्यता मिल चुकी है, इसे तेरापथ का नवीनीकरण मानना विलकुल गलत है। अणुव्रत किसी भी धर्म-विशेष का आन्दोलन नही है, वल्कि सब धर्मों का समन्वित रूप है। दूसरी दृष्टि से नैतिक पक्ष पर विशेष बल देने से अणुव्रत आन्दोलन धार्मिक की अपेक्षा नैतिक आन्दोलन है। इसीलिये अपने जीवन को नैतिक बना कर एक मनुष्य किसी भी धर्म-विशेष को मानता है तो अणुव्रत उसका हाथ नही पकडता। एक अणुव्रती यदि वह अपने जीवन को उन्नत बना लेता है फिर चाहे वह मूर्ति-पूजा करता है, चाहे वह मस्जिद में जाता है या और भी किसी धर्म-विशेष की उपासना करता है तो इससे अणुव्रत में वाधा नही आती। यद्यपि अणुव्रत को अपना कर मनुष्य धार्मिक वनता है पर वह किसी धर्म-विशेप की मान्यता को प्रधानता देता है या नही यह प्रश्न कोई विशेष महत्व नहीं रखता। एक अणुव्रती तेरापथी हो ही यह आवश्यक नही है। इस दृष्टि से अणुव्रत धार्मिक की अपेक्षा नैतिक ज्यादा है।

अणुव्रत-आन्दोलन व्रत का आन्दोलन है। जो अणुव्रती वनता है उसे कुछ व्रत ग्रहण करने पडते हैं। पर यह ध्यान रखने की बात है कि केवल व्रत ही सब कुछ नही है। व्रत तो जीवन की एक दिशामात्र है। इससे व्यक्ति को आगे वढने का रास्ता मिल जाता है, पर वास्तव मे तो यह भावना मूलक है। व्रत का भग नही हो, यह ध्यान रखना आवश्यक है पर इसके साथ-साथ व्यवहार को देखना भी अति आवश्यक है। एक काम करने में व्रत का भंग तो नही होता, पर व्यवहार अच्छा नही लगता तो अणुव्रती को उससे वचना चाहिए। इस दृष्टि से अणुव्रत नियम से आगे भी वहुत कुछ है और वह है जीवन को सरल वनाना।

एक प्रश्न है—अणुव्रती को कौन-सा व्यापार करना चाहिए? पर इस सम्वन्ध में मैं क्या कहूँ? जब कि मै स्वय व्यापार नही करता तव इसके बारे मे वताऊँ भी क्या? व्यक्ति जो काम करता है उसे उस काम के बारे में वताने का अधिकार हो सकता है। जो व्यक्ति स्वयं कुआँ न बनाये और दूसरो को कुआँ बनाने का उपदेश दे यह कैसा न्याय? अतः जो व्यापार नही करता तो उसे व्यापार का उपदेश देने का क्या अधिकार? और वास्तव में अणुव्रत की तो यही दृष्टि है कि कोई व्यक्ति चाहे जो भी काम करे, पर उसमे अनैतिकता नही बरते। यह आवश्यक नही कि अणुव्रती अपने-अपने क्षेत्रो से उखड कर एक ही व्यापार के पीछे लग जायें। इससे अणुव्रत एक क्षेत्र-विशेष मे बँध जाता है।

अणुव्रत तो एक खुली चीज है। हर एक व्यक्ति के लिए चाहे वह किसी भी क्षेत्र मे हो, अनैतिकता न करे यह आवश्यक है। जो अनैतिक व्यापार हैं वे तो स्वयं पहले ही छूट जाते हैं। अत उनमें नैतिकता का प्रश्न ही क्या? पर इसके वाद जो व्यापार शेष रह जाते हैं उनमें अनैतिकता नही हो यह अणुव्रत का लक्ष्य है। इस दृष्टि से अणुव्रत का क्षेत्र बहुत आवश्यक हो जाता है।

कई लोगो का ख्याल है—अणुव्रती तो वे ही वन सकते हैं जो व्यापार से निवृत्त हैं। जो व्यापार करते हैं उन्हे अनेक प्रकार के अनैतिक काम करने पडते हैं। इसलिये वे व्यक्ति जो रिटायर्ड हो चुके हैं, अणुव्रती वन सकते हैं। पर यह विचार सही नही है। कल ही एक भाई सुना रहा था उसने व्यापार में एक वात अपनायी—किसी भी चीज के दो मूल्य नही बताना। बच्चा, वूढा, युवक, महिला, ग्रामीण कोई भी खरीदनेवाला आये तो उसे एक ही मूल्य वताना। सच्चाई और ईमानदारीपूर्वक उसे माल देना। तो इसका असर इतना हुआ कि उसकी दुकान सारे गाँव में अच्छी चलने लगी। दूसरे दुकानदार भी इस अनुभव से प्रभावित हुए और

उन्होने भी अपनी दुकान पर यही विधि अपना ली। इस प्रकार नैतिक व्यापार के द्वारा उसकी अपनी ही दुकान अच्छी नही चलने लगी बल्कि सारे गाँव में एक प्रकार का नैतिक वायु-मडल बन गया। वह भाई कोई रिटायर्ड भी नही है। अच्छी तरह से उसका व्यापार भी चलता है। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि अणुव्रत तो निवृत्त आदमियो के लिए ही हो सकता है? लोग केवल डरते है—अणुव्रत का वे कैसे पालन कर सकेंगे। पर आप मेरा कहना मानें, अणुव्रत डरनेवाली चीज नही है। आप उसका अनुभव कर देखें, इससे आपको एक प्रकार की अनुपम शान्ति मिलेगी।

सुजानगढ़,
७ जुलाई, '५७

५३ : जीवन की सही रेखा

इस अल्प मानव जीवन में परिवर्तन की बडी आवश्यकता है। विचार-शक्ति की दुर्बलता के कारण मनुष्य अपने आप को बदल नही पा रहा है। अतः सर्व प्रथम विचारो की सुदृढता वाछनीय है। जब एक छोटी सी घटना भी जीवन में आमूल परिवर्तन ला देती है तो इस परिवर्तनशील युग में आप क्यो पिछड रहे हैं? अच्छा होगा ससार बदलने से पहले ही आप सँभल जाये अन्यथा युग के थपेडो से तो आप को बदलना ही पडेगा।

मैं नही चाहता कि आप लोग भिक्षुक बन जायें पर कम से कम अपने जीवन में अनैतिकता व भ्रष्टाचार को तो न पनपने दें। आप केवल एक मूलमत्र अपना लें, बेईमानदारी से "बे" को दूर कर दें। फिर देखिये आप का जीवन कैसा सर्वाङ्गमय सुन्दर हो जाता है। व्यापारियो द्वारा किया जानेवाला शोषण व लूट अमानवीय है। अगर आप अपने भाई को ही ठगना चाहते हैं तो मैं कहूँगा कि साथ ही साथ आप अपनी आत्मा एव ईश्वर को भी ठगने से वचित नही रखते।

सही जीवन निर्माण के लिए आप अपने आप को अणुव्रत के ढाँचे में बदल डालें। व्यक्ति २ का जीवन किस प्रकार ऊँचा उठे, इसीलिए हमें प्रयत्न करना है और हमारे आगमन का एकमात्र उद्देश्य यही है। मैं आपको केवल मानव बनाना चाहता हूँ, देवता नही। आज जब मानवता ही नही तो फिर देवता बनने की बात ही क्या?

एक प्रश्न है—'जीवन की परिभाषा क्या है?' पर जीवन जब स्वय

सामने है तो उसका प्रश्न कैसा ? फिर भी प्रश्न होता है क्योकि इसके कारण है। कारण यह है कि भिन्न-भिन्न लोग उसकी भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ करते हैं। हमारी और आपकी परिभाषा मे भी अन्तर होगा क्योंकि सन्तो और साधारण जनो की दृष्टि में जरूर कुछ अन्तर होगा ही। इसीलिए गीता मे कहा गया है .

> **या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।**
> **यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।**

यानी साधारण लोगो के लिए जो रात है उस समय सन्त पुरुष जागते है—धर्म-चिन्तन करते हैं। जब दूसरे मनुष्य जागते है उस समय सन्त लोग नीद लेते है। यह एक रूपक है जिसका व्याप्ति क्षेत्र सारा लोक है। इसके अनुसार सन्तो की और साधारण लोगो की प्रवृत्ति में वडा अन्तर पड़ जाता है। साधारण मनुष्य जहाँ भोजन में आनन्द मानता है वहाँ सन्त लोग उपवास में आनन्द मानते हैं। साधारण मनुष्य बगीचे मे जाकर फूलों की मधुर-मधुर सुगन्ध प्राप्त कर सुख का अनुभव करता है वहाँ सन्त लोग एकान्त में सुख का अनुभव करते है। कितना अन्तर है यह ? यद्यपि सन्त लोग भी सुख का अनुभव करते है पर उनके सुख के कारण भिन्न हैं। एक सस्कृत श्लोक में कहा है

> **मही रम्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता, ।**
> **वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोयमनिलः ।।**
> **स्फुरद्दीपश्चन्द्रो विरति-वनिता संगमुदितः, ।**
> **सुखं शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृ प इव ।।**

इसमें एक मुनि और एक राजा के सुख की बराबर तुलना की गई है। राजा यदि सोता है तो उसके लिये शय्या की आवश्यकता होती है, मुनि भी शय्या पर सोता है किन्तु स्वच्छ भूमितल ही उसकी शय्या है। राजा अपने सिरहाने तकिया रखता है तो मुनि का अपना हाथ ही तकिया है, उसे वह अपने सिर के नीचे दे लेता है। राजा की शय्या के ऊपर वितान होता है तो मुनि के लिए सारा आकाश ही वितान है। राजा को दीपक की आवश्यकता होती है तो मुनि के लिए सुधास्रावी चन्द्रमा ही दीपक है। राजा को गर्मी में पखे की आवश्यकता होती है, मुनि के लिए अनुकूल पवन ही पखा है। राजा अपनी पत्नी को साथ लेकर सोता है तो मुनि भी अपनी विरक्ति रूपी पत्नी को कही और जगह छोडकर नही सोता अर्थात् सोते समय भी उसमें विरक्ति रहती है। तब फिर राजा और मुनि के सुख में अन्तर क्या रहा ? अन्तर केवल इतना ही है कि राजा जिन साधनो में सुख मानता है मुनि उनसे भिन्न साधनों में सुख मानता है। इसी प्रकार साधारण लोग जहाँ भोग में

सुख मानते है वहाँ मुनि त्याग में शान्ति का अनुभव करता है। यह है साधारण लोगों के और मुनि के दृष्टिकोण में अन्तर। अतएव हमारी और दूसरे लोगो के जीवन की परिभाषा में भी फर्क पड़ जाता है दूसरे लोग खाने-पीने और ऐश-आराम में ही जीवन की सार्थकता मान लेते है वहाँ हम कहते है—'सयम ही जीवन है।'

पर यदि जीवन की यह परिभापा सही है तो वह केवल हमारे लिए ही क्यो ? दूसरो को भी उस मे सुख की अनुभूति होनी चाहिए नही तो फिर वह सही परिभाषा नही है। इसका उत्तर यही है कि मिश्री मीठी होती है और सब के लिए मीठी होती है पर उस मनुष्य को जिसे साँप काट खाता है, मिश्री भी खारी लगने लगेगी। इसी प्रकार जब तक मनुष्य में वासना का जहर रहेगा तब तक उसे सयम का सुख अनुभव नही होगा। जब वह जहर बाहर निकल जायेगा तब उसे भी सयम में सुख का अनुभव हुए बिना नही रहेगा। सयम का मतलब केवल सन्यास ही नही है। क्योंकि मै जानता हूँ कि यहाँ अगर मै सन्यास की चर्चा करूँगा तो वह बहुत कम लोगो के काम की बात होगी। बिना मूल्य के एक शब्द कहना भी गलत है। एक कवि ने कितना सुन्दर कहा है -

वचन रतन मुख कोट है, होठ कपाट बनाय।
समझ-समझ के हरफ काढिये, मत परवश पड़ जाय॥

अत मुझे आप से वही बात कहनी है जो आपके लिए उपयोगी बन सके। सब से पहली बात है—आप खाने मे सयम रखे। वास्तव में संयम ही जीवन की सही रेखा बन सकती है। यदि कोई मनुष्य खाने मे सयम न रखे और खाता ही खाता चला जाये तो उसकी क्या दशा होगी ? स्पष्ट है उसका जीवन खतरे में पड़ जायेगा। अत यह समझना नितान्त आवश्यक है कि सयम के बिना जीवन भी नही चल सकता। तब फिर मनुष्य उसकी ओर ध्यान क्यो नही देता ? भोजन करने बैठे तब उसे यह ध्यान रहना चाहिए कि ४ ग्रास कम लिये जायँ। यद्यपि यह कठिन है। उपवास हो सकता है पर अनुकूल वस्तु सामने आ जाने पर ४ ग्रास कम ले लिए जायँ यह बड़ी मुश्किल बात है। इसीलिए शास्त्रो में इसे तपस्या कहा गया है और यह तो नगद धर्म है जो कोई इसका आचरण करेगा तत्काल उसे स्वय ही एक अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव होगा। थोड़े से खाने के असवरण के कारण कई बार दिन भर आलस्य आता रहता है। अत. इस ओर थोड़ा-सा ध्यान रखा जाये तो इससे भी बचा जा सकता है। वाणी का सयम भी आवश्यक है। वाणी के थोड़े से अविवेक के कारण कितने दगे हो जाते है, इसका साक्षी इतिहास है। अतः एक-एक शब्द को तौल कर

बोलना चाहिए। इसी प्रकार चलने में भी सयम रखना आवश्यक है बिना देखे चलने पर दूसरे जीव तो मरते ही हैं पर कभी-कभी स्वयं भी ऐसी ठोकर खाता है कि जिसे जीवन भर भूलना मुश्किल हो जाता है। इसीलिए कहा गया है—'दृष्टिपूतं न्यसेत् मार्गम्।' सुनने में भी सयम की मात्रा रहनी चाहिए। यद्यपि 'शब्द गुण माकाशं' के अनुसार आकाश मे शब्द तो व्याप्त रहते ही हैं और वे कानों में भी पडते हैं। पर वह सब कुछ याद करने का नही होता। जो भूलने का होता है उसे तो भुला ही देना चाहिए। प्रश्न है—सयम को स्वीकार कौन कर सकता है? वही, जो उसे स्वीकार करना चाहता है। यह अवश्य है कि सयम उसी मनुष्य में ठहर सकता है जिसका जीवन पवित्र हो। 'धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ' यह शास्त्र-वाक्य इसी ओर तो सकेत करता है। जिसका जीवन जितना पवित्र और ऊँचा होगा उसमें सुख की मात्रा भी उतनी ही अधिक होगी। फलितार्थ मे संयम का विकास ही सुख का विकास है। मै आप को यह कैसे समझाऊँ कि विलास में सुख नही है। यह कोई पदार्थ होता तो उसे मैं आप के सामने रख देता पर यह तो अनुभव है और अनुभव बिना आचरण की प्राप्ति नही हो सकती। अगर आप वास्तव में ही सुख चाहते हैं तो मेरी बात मानिये और सयम का रास्ता स्वीकार करिये। फिर आप निश्चित ही भूल जायेंगे कि विलास में भी कभी सुख होता है।

सयम शब्द का अर्थ तो मै क्या करूँ? यदि किसी को सूर्य को बताने की आवश्यकता होती है तो सयम को बताने की आवश्यकता होगी। वह तो स्वय ही इतना प्रकट है कि उसे बताने की कोई आवश्यकता नही। पर फिर भी शब्दो में उसे आप जानना चाहेंगे तो नियम, प्रतिज्ञा, नियंत्रण निग्रह, अपने पर काबू रखना यही इसका मतलब है।

५४ : धर्म चर्चा का विषय नहीं

अहिंसा नाम आते ही भगवान् महावीर और जैन-धर्म का नाम भी सहसा याद आ जाता है, क्योकि उन्होने अहिंसा को जितनी गति से प्रस्तुत किया उतनी गति से शायद औरो ने नही किया। पर आज तो ऐसा लगता है जैसे जैनो ने इसे भुला ही दिया हो। अत आज यह आवश्यकता है कि वे लोग अहिंसा को पुन जागृत करने में अपना सहयोग दें। जिस जैन-धर्म ने सारे ससार को शान्ति का उपदेश दिया उसके ही अनुयायी आज आपस में लडें यह उन्हें शोभा नही देता। स्वय जैनो ने ही आज जैन-धर्म को कितना संकुचित बना दिया है यह देखकर बडा आश्चर्य होता है। जैन-

धर्म का आज अर्थ लिया जाता है बनियो का धर्म। इसीलिए हम जहाँ भी जाते है पहले हमे यह स्पष्टीकरण करना पडता है कि जैन-धर्म बनियों का धर्म नही है, वह तो सभी का है और उसीका है जो उसका पालन करता है या करना चाहता है। अन्य लोगो की यह भ्रान्ति उसके अनुयायियो की बडी भारी भूल का परिणाम है। जैन-धर्म तब तक जैन-धर्म नही बन सकता जबतक आप उसे अपना मान अपने आप से ही चिपकाये रहेगे। हो सकता है इस प्रकार वह आप का व्यक्तिगत कल्याण करे पर वह समूची मानवता का कल्याण नही कर सकता। अत वस्तुत ही अगर जैन-धर्म मे मानवता के कल्याण की ताकत है तो हमें सभी के लिए उसके दरवाजे खोल देना चाहिए।

अणुव्रत-आन्दोलन के माध्यम से हमने यही काम शुरू किया है। इससे जैनो की स्वय की शुद्धि तो होगी ही पर दूसरे लोग भी जैन-तत्त्व से बहुत बडा कल्याण कर सकेंगे। कुछ लोगो ने मुझसे कहा—महाराज ! आपने तो जैन-धर्म के इस घेरे को तोड कर बहुत बडा काम किया है। पर मै समझता हूँ मैने इसमे कौन सा बडा काम किया है ? अभी तक तो हमने अपनी भूल को सुधारी है। क्या धर्म मे भी कभी सम्प्रदाय के भेद होते हैं ? वह तो पतित पावन है। जो भी कोई उसमें अवगाहन करना चाहे करे पर उसपर अपना अधिकार कैसा ?

आज तो साधुओ का भी एक समाज बना है, और वास्तव में ही आज उनके लिए एक स्वर्णिम अवसर है कि वे समाज को एक नई प्रेरणा दें। अगर आज उन्होने इस दिशा मे काम किया तो समाज उनका युग-युग तक ऋणी रहेगा। साधु केवल अपने घमड में बैठे रहे यह आज चलने वाला नही है। आज तो उन्हे अपनी अकर्मण्यता को छोडकर जरूर कुछ सक्रियता अपनानी पडेगी। साधुओ की यही बडी साधना है कि वे अपने कल्याण के साथ-साथ दूसरो के जीवन को ऊँचा उठाने की कोशिश करे। वह साधु कोई ऊँचा साधु नही है जो केवल लाखो का नेतृत्व करे और मठो में बैठा रहे। सच्चा नेतृत्व तो वह है जो अपने अनुयायियो के सुधार के लिए कुछ प्रयत्न करे। केवल समाज बनाने मात्र से ही कुछ हो जानेवाला नही है यदि उन्होने अपने मठो का मोह नही छोडा।

आज एक विपर्यय भी हो रहा है। लोग समझने लगे है कि जैन लोग सारे ही लखपती है—धनकुबेर है। पर दरअसल बात यह नही है। उनमें ज्यादा लोग मध्यम वर्ग के हैं। कुछ लोगो के पास पैसा है भी तो उनको जैन-धर्म की इतनी चिन्ता ही नही है जितनी अपनी पूंजी को सुरक्षित रखने की है। वैसे धनिक भी सारे गलत ही है ऐसी बात नही है। पर

जो लोग अनैतिक तरीको से अर्जित कर केवल सग्रह ही करना चाहते है उन्होने जैन-तत्त्व को समझा है या नही यह सोचने की बात है। केवल नाम से ही तो कोई जैन नही हो जाता। मुझे वडा दुख होता है जब कुछ स्वार्थी लोग इस पवित्र नाम का भी दुरुपयोग करते नही सकुचाते। कई जगह दुकानो पर लिखा होता है—'जैन-स्टोर'। उन्हे देखकर मेरे मन में आता है कि क्या वहाँ पर प्रामाणिकता बरती जाती है? क्या वहाँ पर अनैतिक तरीके नही अपनाए जाते? यदि वहाँ भी ऐसा ही होता है तो क्या सचमुच ही यह 'जैन' शब्द का गलत उपयोग नही है? कई महाशय अपने नाम के पीछे 'जैन' की पूछ लगाते है पर जब उनके आचरण देखे जाते है तो सकोच महसूस होता है। इसी प्रकार जूतो और बीड़ियों पर भी जैन की छाप लगी देख कर लगता है क्या यह इस नाम का दुरुपयोग नही है?

सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ।

अर्थात्—शुद्ध आत्मा धर्म कर सकती है या धर्म करने पर ही आत्मा शुद्ध हो सकती है, यह तो विवाद का विषय है, ठीक वैसा ही जैसा भाग्य और पुरुषार्थ का। भाग्य होने से ही पुरुषार्थ हो सकता है या पुरुषार्थ से भाग्य का निर्माण होता है? हम इस विवाद मे अभी नही जायें पर इतना तो तय है कि जैसा हम करेंगे वैसा हमें भोगना पडेगा और अवश्य भोगना पडेगा। इसीलिये कहा गया है **'यत्कृतं तदऽवश्यं भोक्तव्यम्।'**

उसी प्रकार धर्म भी शुद्ध आत्मा में ही टिक सकता है। फूटे घड़े मे पानी कभी नही टिक सकता। उसी प्रकार धर्म के लिए भी पात्रता की आवश्यकता है। विद्या के लिए उपनिषद् मे कहा गया है.

विद्या वै ब्राह्मण मा जगाम गोपाय मां शेवधिऽष्टेऽहमस्मि असूयकाय।
अष्टजवे अयताय न मा ब्रूयाः वीर्यवती तथा स्याम्॥

अर्थात—विद्या ब्राह्मण से कहती है—ब्राह्मण मै तुम्हारी निधि हूँ। तुम मेरी उन तीन प्रकार के व्यक्तियो से रक्षा करो जिससे मै वीर्यवती बनूं। पहले तुम मुझे किसी ईर्ष्यालु व्यक्ति को मत देना। दूसरे किसी कुटिल को मत देना और तीसरे मुझे आलसी मनुष्य को मत देना। तो जिस प्रकार विद्या भी बिना ऋजु निष्कपट हृदय के नही ठहर सकती तो धर्म भी बिना सरल बने कैसे आत्म-स्थित होगा? बचपन मे मनुष्य को विद्या ज्यादा आती है, वडे होने के बाद नही आती। इसका क्या कारण है? यही कि बचपन वडा निष्कपट होता है। इसलिये उसमें ज्ञान ठहरता है। अतः अगर आपको धर्म-तत्त्व की प्राप्ति करनी है तो पहले अपने आपको निष्कपट तथा सरल बनाना होगा। उसी प्रकार जिस प्रकार बच्चे का हृदय होता है।

उसमे छिपाने की प्रवृत्ति नही होती। इसी प्रकार धार्मिक को भी अपने आपको छिपाने की आवश्यकता नही है।

प्रश्न है—वह धर्म है क्या? क्या वही धर्म जिसने इतिहास के पृष्ठ खून से रगे? क्या वही धर्म जिसने भाई-भाई के बीच दरारें बनाईं? आज भी बहुत से लोग कह देते हैं—मेरे धर्म को बुरा कह दे तो बदमाश की आँख निकाल लूँ। पर भाई! यह कहकर तुमने स्वय ही अपने धर्म को बुरा नही बता दिया है? ससार में लडाई की तीन बातें बताई गई हैं। एक कवि ने कहा है :—

तीन बात है बैर की, जर, जोरू, जमीन।
सरूपदास तिहुंपे अधिक मत की बात महीन ॥

यानी ससार मे धन, स्त्री और जमीन के कारण लडाइयाँ होती है। पर इन तीनो से ही लडाई होने का एक बहुत बडा कारण है—वह है धर्म। इसकी बात बडी सूक्ष्म है। पर यह सब धर्म का स्वरूप नही है। धर्म तो मनुष्य को मिलना सिखाता है। जो मनुष्य को आपस में लडाये वह वास्तव मे धर्म ही नही है।

आज धर्म के प्रश्न को लेकर अनेक अखाडे बन गए है। पर यह सच्चे धर्म का स्वरूप नही है। एक बार सर्वाजित नाम के एक व्यक्ति के सिर पर सबको पराजित करने की धुन सवार हुई। वह सबके पास जाता और चर्चा करके उन्हें हरा देता। इस प्रकार हराते-हराते उसने अपनी दृष्टि से किसी को बाकी नही छोडा। अब वह अपनी माँ के पास आया और कहने लगा—माँ! मैंने सबको चर्चा में हरा दिया है, अत तुम मुझे अब सर्वजित कहो। माँ ने कहा—नहीं, अभी तुमने सबको नही हराया है। कबीर अभी तक बाकी है। जब तक तुम कबीर को नही हरा देते मैं तुम्हें सर्वजित नही कहूँगी। वह कबीर का पता पूछ कर उनके पास आया और बोला—मैं तुमसे चर्चा करना चाहता हूँ। कबीर ने कहा—मुझ से क्यो चर्चा करते हो भाई? उसने कहा—जब तक मैं तुमको हरा नही देता तब तक मेरी माँ मुझे सर्वाजित नही कहती। तो इसमें चर्चा की क्या बात है भाई! कबीर बोले—लो मैं तुमसे बिना चर्चा किये ही हार जाता हूँ। उसने कहा—नही, ऐसा नही होगा। तब कबीर ने कहा—अच्छा, तो तुम ऐसा करो, एक पत्र लिख लो "कबीर हारा सर्वाजित जीता", मुझे स्वीकार है—उसने कहा—यह ठीक है और अपने हाथो पर एक पत्र लिख लिया—कबीर हारा, सर्वाजित जीता। उस पत्र को लेकर वह उछ-लता-कूदता माता के पास आया और उसे वह पत्र दिखाया। माता ने पत्र पढ़ते ही कहा—यह क्या? इसमे तो यह लिखा है—कबीर जीता,

सर्वाजित हारा। उसने भी गौर से पत्र को पढ़ा। फिर दूसरी बार और पढा पर उसमें तो यही लिखा हुआ था। बडा हैरान हुआ और वापिस मुड़कर कबीर के पास आया। कहने लगा—आपने मुझे यह क्या लिखाया ? कबीर ने कहा—भाई मैं क्या करूँ ? तुमने स्वय अपने हाथ से लिखा था इसमें मेरा क्या दोष ? अच्छा ऐसा करो, यह गलत है तो दूसरी बार लिख लो—कबीर हारा और सर्वाजित जीता। उसने वैसा ही किया और उसी प्रकार उछलता हुआ माता के पास आया। माता ने फिर उस पत्र को पढा। पर उसमे भी तो वही लिखा था—कबीर जीता, सर्वाजित हारा। वह फिर कबीर के पास गया। कबीर ने तीसरी बार भी यही कहा। वह पत्र लेकर पुन माता के पास आया पर उसमे तो फिर वही लिखा हुआ मिला। अब तो उसके आश्चर्य का पार नही रहा। माता ने अवसर देखकर कहा—पुत्र तुम भी कितने मूर्ख हो ? क्या ज्ञान से कभी किसी को हराया जा सकता है ? सोचो और अब तो आँखे खोलो। मनुष्य किसी को हराना चाहे, यह तो पाप का मूल है। जाओ और कबीर के चरणो मे पड जाओ। उसकी आँख खुली और वह कबीर के चरणो पर गिर पडा। तो इस उदाहरण से मैं आपको यह बताना चाहता हूँ कि धर्म चर्चा का विषय नही, वह आचरण का विषय है और उसका आचरण वही मनुष्य कर सकता है जिसका हृदय सरल हो, निष्कपट हो।

५५ : क्रान्ति के स्वर

आज का सारा ससार भयाक्रान्त है। इसी भय के कारण भीषण शस्त्रास्त्रो का निर्माण हो रहा है। कहा जाता है कि हम तो अपने बचाव के लिए ही इनका निर्माण करते है और वास्तव में ही अमरीका रूस से डरता है और रूस अमरीका से। दोनो आपस में एक-दूसरे से अपने बचाव के लिए डर रहे हैं। सचमुच आज की स्थिति को देखकर वह कहानी याद आ जाती है, जिसे मैं बहुधा कहा करता हूँ—एक शेरनी ने अपने नवजात शिशु से कहा—बेटा ! तू वीर्यवान् है, इसलिये जगल का राजा है, तुझमें असीम पौरुष है। अत तू कही भी निर्भय विहार कर सकता है। मुझे तेरी ओर से जरा भी चिन्ता नही है, पर पुत्र एक बात का ध्यान रखना। काले सिरवाले मनुष्य से हमेशा डरते रहना। वह बडा चालाक होता है। माता के इस शिक्षा वाक्य को शेरनी के बच्चे ने बडी सवेदना से ग्रहण किया। दिन पर दिन बीतते गये। अब वह काफी

बडा हो चला था। माता के सहवास की उसे आवश्यकता न थी। अत. जहाँ चाहता स्वतत्रतापूर्वक विहार करता। एक दिन घूमते-घूमते सहसा उसकी नजर एक काले सिरवाले प्राणी पर पडी। उसे समझते देर न लगी कि यह वही प्राणी है, जिसे मनुष्य कहकर माता ने मुझे हमेशा बचने को कहा था। वह कुछ भयभीत हुआ और थोडा-थोडा पीछे खिसकने लगा। इधर वह मनुष्य जो लकडी काटने के लिए जगल मे गया था, शेर को देखते ही सहम गया। सोचने लगा—दौडकर तो कहाँ जाऊँगा। शेर छोडनेवाला है नही, अत भयभीत-सा वही खडा रहा। पर वह देखता है—शेर पीछे की ओर खिसक रहा है। उसे बडा आश्चर्य हुआ। सोचने लगा—बडी विचित्र बात है, असीम शौर्यशाली शेर पीछे की ओर खिसक रहा है, जरूर इसमे कोई रहस्य है, उसमे कुछ साहस आ गया और उसने भागते हुए शेर को पुकारा। शेर उसका शब्द सुन कर और भी आतंकित हुआ और तेज गति से दौडने लगा। मनुष्य को और आश्चर्य हुआ। उसने इस रहस्य को जानना चाहा। पर मन ही मन वह इससे डरता भी था। तो भी उसने साहस कर शेर को एक बार फिर पुकारा। शेर ने पीछे मुड कर देखा वह स्वय तो डर ही रहा है। पर मनुष्य भी भय से अपने मे सिमट सा रहा है। उसने खडे होकर सोचा—आखिर ऐसी क्या बात है? वह इतना क्या बलशाली है? वह स्वय भी तो डर रहा है और वह मुझे पुकार भी तो रहा है। आखिर माता के वाक्यो की परीक्षा भी तो करनी चाहिए। और वह सोच-विचार कर मनुष्य की ओर आने लगा। मनुष्य ने देखा—सचमुच शेर तो आ रहा है। वह डरा और सोचा—मुझे अपना बन्दोबस्त कर लेना चाहिए। अत वह पास के एक पेड पर चढ गया। शेर नीचे आकर खडा रह गया। दोनो आपस मे बाते करने लगे। मनुष्य ने कहा—भाई! तुम इतने बलवान हो, फिर भी डरते क्यो हो? शेर ने उत्तर दिया—मेरी माता ने मुझे एक बार कहा था कि काले सिरवाले मनुष्य से हमेशा डरते रहना। वह बडा चालाक होता है। अत तुम्हारे डर से मैं तो भाग रहा था। पर मेरा तुम से एक प्रश्न है—तुम्हारे अन्दर ऐसी क्या ताकत है, जो मेरी माँ ने मुझे तुम से डरने के लिए कहा था? मनुष्य ने कहा—हाँ, भाई मुझ मे ताकत तो बहुत है, पर वह यो दिखाई नही जा सकती। शेर ने पूछा—तो वह कैसे दिखाई जा सकती है? मैं उसे देखना चाहता हूँ क्या तुम मुझे अपनी ताकत दिखाओगे? मनुष्य ने कहा—इसमे मुझे थोडे अवकाश की आवश्यकता है। क्या तुम मुझे इसके लिए कुछ समय देने के लिए तैयार हो? शेर ने 'हाँ' कह दिया। मनुष्य

नीचे उतरा और उसने वृक्ष को बीचोबीच चीर डाला। फिर उसने एक छोटी लकडी को तीखी कर कहा—तुम अपना सिर इस चीरी हुई लकडी के बीच में डाल दो। शेर ने वैसा ही किया। मनुष्य ने तत्क्षण उस तीखी लकडी से वृक्ष के इस टुकडे से उस टुकडे तक सिंह के शेर सहित बीध डाला। बस अब क्या था। मनुष्य ने कहा—बस यही है मेरी ताकत। अब तुम चाहे जितना जोर लगाओ, मुक्त नही हो सकोगे। शेर को अब भान हुआ। उसके सिर मे भयकर वेदना होने लगी। वह बडी करुण चीत्कार करने लगा। पर अब उसकी कौन सुनने वाला था। मनुष्य तो बस उसे वैसा ही छोड भाग चला। सोचने लगा—अगर मै इसे बन्धन मुक्त कर दूगा तो यह मुझे खाये बिना नही रहेगा। यही स्थिति आज रूस और अमेरिका की हो रही है। दोनो एक दूसरे से डर कर दूर भाग रहे हैं। कभी कोई एक दूसरे का आह्वान कर एक जगह इकट्ठे होते है, तो वहाँ किसी न किसी प्रकार दूसरे को फँसाने की कोशिश करेंगे। कभी कोई फँस जाता है तो शोरगुल भी मचाता है।

५६ : धर्म का क्षेत्र

अध्यात्मवादी की प्रत्येक प्रवृत्ति के मूल में अध्यात्म-भावना रहेगी। भूतवादी प्रत्येक बात को भौतिक दृष्टिकोण से देखेगा। यद्यपि प्रवृत्ति दोनो एक ही करते है पर लक्ष्य में बहुत बडा अन्तर आ जाता है। चन्द्रमा दोनो पखवारो में बराबर प्रकाश देता है पर लोग एक पखवारे को कृष्ण कहते है और दूसरे को शुक्ल। लोग जिस पखवारे में उसका प्रकाश देख पाते है उनके लिए वह शुक्ल पखवारा है। इसी प्रकार प्रवृत्ति दोनो की बराबर है पर उनके देखने का दृष्टिकोण भिन्न है। यद्यपि कोई नास्तिक यह नही कहेगा कि झूठ बोलना चाहिए। बन्धुता को कोई गलत नही बताएगा। पर उसकी साधना, उसका दृष्टिकोण रहेगा—यह जीवन सुखी कैसे रहे? अध्यात्मवादी सत्य और बन्धुता का आचरण केवल इस जन्म के लिए नही करता, वह उसे अपनी साधना मानकर जीवन शुद्धि के लिए करेगा। उपवास दोनो के लिए लाभप्रद है। पर उसमें अध्यात्मवादी का दृष्टिकोण रहेगा साधना का और भूतवादी का दृष्टिकोण रहेगा स्वास्थ्य लाभ का। लक्ष्य में अन्तर आने से क्रियाफल मे भी अन्तर आ जाता है।

बहुत से लोगो की आवाज है—धर्म केवल परलोक के लिए ही है। तो क्यो इसका मतलब यह है कि वह इस जीवन को बिगाडनेवाला है?

मेरी दृष्टि में वह धर्म ही नही है जो अगले जन्म को सुधारने के लिए इस जीवन को सक्लिष्ट बनाये—बिगाड़े। वस्तुत धर्म की कसौटी अगला जीवन नही यही जीवन है। जो मनुष्य धर्म का आचरण करेगा उसी क्षण उसे नवजागरण का अनुभव होगा। उसके मन मे एक अभिनव पुलक अबाध गति से बहता रहेगा। नैतिक मनुष्य का रहन-सहन और उसका चेहरा स्वय उसकी साधना की हामी भरेगा। अत यह आवश्यक है कि धर्म पहले इस जीवन को सुधारे।

धर्म का क्षेत्र व्यक्ति-सुधार का क्षेत्र है। व्यक्तियो का समूह समाज और समाज की एकता राष्ट्र है। अत इस दृष्टि से वह समाज सुधार और राष्ट्र-सुधार का भी साधन बन सकता है। धर्म का काम सफाई का काम है। जिस किसी क्षेत्र में बुराई हो उसकी सफाई करना धर्म का काम है। जो धर्म ऐसा नही करता है वह चित्र का धर्म है। जिस प्रकार चित्र का मनुष्य जरा भी हलचल नही कर सकता उसी प्रकार वह धर्म भी पगु है जो बुराइयो का प्रतिकार नही कर सकता। धर्म मन्दिरो और पुस्तको में नही रहता। वह तो आचरण की वस्तु है—जीवन-शुद्धि का साधन है। अत. वह जब व्यक्ति-व्यक्ति से सम्बद्ध है तो फिर समाज से भी अलग कैसे रह सकेगा? उससे विमुख होकर कोई भी व्यक्ति और समाज सुधर नही सकता।

परलोक की वात आप एक दफा छोड दीजिए। आपको यह जीवन भी सुखी बनाना है या नही? यदि जीवन मे सच्चाई नही तो उसमे कोई सुख भी नही हो सकता। जो ईमानदार नही होगा उसके मन में हमेशा डर रहेगा कि मुझे कोई देख न ले। जो व्यक्ति 'ब्लैकमार्केट' करता है उसके मन में हमेशा धडका रहेगा कि उसकी दुकान पर 'इन्क्वायरी' नही आ जाए। दूसरों की दुकान पर तलाशी होती देख कर उसका दिल दहल जायेगा कि कही मेरी दुकान में भी तलाशी नही आ जाए। इस प्रकार मन ही मन एक अव्यक्त वेदना का अनुभव करता रहेगा।

पर जाने क्यो लोगो को इस वात पर विश्वास नही होता। जब उन्हें यह कहा जाता है कि व्यापार मे अप्रमाणिकता मत वरतो तो वे कहेंगे आजकल सच्चाई से व्यापार चलता कहाँ है? पग-पग पर झूठ वोलना पड़ता है, चोरी करनी पडती है। पर यह गलत धारणा है। अनेक लोगो से वाते कर मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि अप्रमाणिक तरीको से व्यापार करना अनैतिक ही नही व्यक्ति के स्वय के लिए भी घातक है।

लोग कहते है सच्चाई से काम नही चलता। पर इतने दिनो तक उन्होने झूठ से व्यापार करके भी देख लिया। मैं उनसे पूछना चाहूँगा क्या

इतना करने पर भी उन्होने कोई बहुत बड़ा सुख पाया ? यदि नही तो फिर एक बार मेरा कहना भी मानें। प्रयोग के रूप में भी कुछ दिन अप्रमाणिकता नही बरतें। सभव है पहले-पहल उन्हें कुछ दिक्कतें भी सहनी पडे पर इसका अन्तिम फल सदा सुन्दर रहेगा ऐसा मेरा विश्वास है।

५७ : भोजन और स्वाद्वृत्ति

मनुष्य को भूख इतनी नही सताती जितनी लोलुपता—असयम सताता है। शरीर की भूख मिटानी तो बडी सरल बात है। थोडा खाया कि मिट गयी। पर इस अतृप्ति—आकाक्षा को कैसे मिटाया जाये ? एक कवि ने कहा है

तन की तृष्णा तनिक है तीन पाव के सेर।
मन की तृष्णा अमित है गिले मेर का मेर ॥

शरीर के लिए ज्यादा से ज्यादा आवश्यक है तो तीन पाव या सेर होगा। पर यह मन की तृष्णा इतनी बडी होती है कि मनुष्य इससे कभी तृप्त होता ही नही। ज्यादा खाने से मनुष्य को मृत्यु का डर रहता है। मनुष्य को अगर मरने का डर नही होता तो शायद वह भोजन पर से उठता ही नही, दिन भर खाता ही रहता। पर यह तो प्रकृति ने स्वय ही मनुष्य पर अकुश लगा दिया है। इसीलिए शास्त्रो में कहा है: **'इच्छाहू आगास समा अणंतिया'** अर्थात् मनुष्य की इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त है। ज्यो-ज्यो प्राप्ति होती जाती है, त्यो-त्यो वे और उद्दीप्त होती जाती है। अग्नि में ईंधन डालने से वह क्या कभी शान्त हुई है ? इसी प्रकार एक आकाक्षा की पूर्ति होते ही दूसरी और शुरू हो जाती है। और जिसको ज्यादा तृप्तियाँ होने लगती हैं उसकी अतृप्तियाँ भी उसी वेग से बढने लगती है। मारवाड की एक कहावत है—**बड़ी रात का तड़का ही बड़ा।** यानी रातें जितनी बडी होती है उनका उषाकाल भी उतना ही बडा हो जायेगा। बडी रातो में प्रकाश हो जाने के कितनी देर बाद सूर्य निकलता है। पर छोटी रातो मे पौ फटते ही थोडी देर मे सूर्य निकल आयेगा। उसी प्रकार जिन्हें थोडी आकाक्षाएँ है वे बडी जल्दी पूरी हो जाती हैं और उससे कुछ सन्तोष भी मिल जाता है। पर जिनकी आवश्यकताएँ बढ जाती हैं वे बढ़ती ही जाती है और यहाँ तक कि वे पूरी होनी भी बडी मुश्किल है। यद्यपि अप्राप्ति पर आकाक्षाएँ न बढें यह एकान्त नही है पर प्राय. बढी हुई आकाक्षाएँ ही उन्हें और बढाती हैं। इसीलिए शास्त्रो में कहा है: **'जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ'।**

हाँ, तो शरीर की आवश्यकता तो बहुत थोडी होती है। पर स्वाद वृत्ति वडी बुरी चीज होती है। मनुष्य जैसी अपनी वृत्ति बना लेता है वह वैसी ही बन जाती है। नमक को प्राय. भोजन में लोग आवश्यक मानते हैं। मैं नही कह सकता स्वास्थ्य के लिए यह कितना आवश्यक है और कितना नही। पर जीभ को जरूर इसका स्वाद आता ही है। कई महाशय तो ऐसे होते हैं कि कभी भूल से ही नमक कम या ज्यादा पड जाता है तो वे एकदम गुस्सा हो जाते हैं, मान लिया जाये कभी नमक कम या अधिक पड जाये तो उसे शान्तिपूर्वक समझाया भी जा सकता है। थोडी सी बात के लिए आपे से बाहर हो जाना सचमुच मानवता का नग्न नृत्य है।

लोग स्वाद के लिए शाक में मिर्च-मसाले डालते हैं पर मै समझ नही पाता कि इस स्वाद से वे क्या पाते हैं। जब सात्त्विक आहार से भी काम चल सकता है तो फिर इतने तले, भुंजे और मिर्च-मसालो की क्या आवश्यकता है। इससे तो उल्टा स्वास्थ्य भी ठीक नही रहता। हम तो साधु ठहरे। देश-देश में जाते है, वहाँ जैसा भोजन मिलता है उसी पर अपना गुजारा करना पड़ता है क्योकि हमारे लिए कोई अलग भोजन वनता नही। जैसा लोग खाते है, वैसा हमें मिलता है। अत. कभी-कभी हमको बडी दिक्कत हो जाती है। उधर गुजरात में हम गये। वहाँ शाक वडे सात्त्विक बनते है। अत· हमें भी वहाँ काफी अनुकूलता रहती और हमारे कई साधु तो इससे बडा सुख मानने लगे। पर हमें एक जगह तो रहना नही है। इधर महाराष्ट्र, मध्यभारत और राजस्थान में आये तो फिर वही मिर्च-मसाले शुरू हो गये। इससे कई साधुओ के तो मुँह में छाले हो गये। तब लगा—लोग क्यो व्यर्थ ही स्वाद के वश होकर तामसिक वृत्तियो को वढानेवाला भोजन करते हैं।

इस स्वादवृत्ति-अतृप्ति पर नियन्त्रण रखने के लिए जैन परम्परा में श्रावक के सातवें व्रत-उपभोग परिभोग व्रत का वडा महत्व है। उपभोग यानी एक दफा काम आनेवाली चीजें, जैसे—भोजन-पानी। परिभोग यानी बार-बार काम आनेवाली चीजें जैसे—वस्त्र-आभूषण। श्रावक उपभोग-परिभोग की सीमा करे यही इसका उद्देश्य है। वैसे संसार में अनेक द्रव्य है पर उन्हें सक्षेप की दृष्टि से २६ में वाँध दिया है। वहुत से जैन लोग तो अपने खाने-पीने पहनने-ओढने तथा और काम आनेवाली चीजो की दैनिक मर्यादा भी करते है। यह अच्छा है और इसका अभ्यास प्रत्येक मनुष्य को होना ही चाहिए। अणुव्रतो में शील और चर्या खाने में एक नियम है—प्रतिदिन एक दिन में ३१ द्रव्यो से अधिक द्रव्य नही खाऊँगा।

इसका भी यही दृष्टिकोण है कि इससे मनुष्य की वृत्तियों पर अकुश रहता रहे। ३१ द्रव्यो की सीमा तो सर्वाधिक दृष्टिकोण से रखी है। पर इसमें भी जितनी कमी रखी जाये यह अच्छा ही है।

५८ : जैन धर्म और तत्त्ववाद

किसी भी धर्म की मूल भित्ति उसका तत्त्ववाद होता है। उसके बिना कोई भी दर्शन स्थिर नही हो पाता। जो दर्शन तत्त्वो पर टिका हुआ होता है, उसके अनुयायी चाहे कम हो, पर मूल्य की दृष्टि से वह अधिक वजनदार संगत होता है। इस दृष्टि से जैनधर्म के तत्त्ववाद की हमें मीमासा करनी है। जैनधर्म किसी व्यक्ति या जातिपरक नही है। यह गुण और क्रियापरक है। जैसा कि इसके नाम से ही प्रतिध्वनित होता है। अन्य धर्म जैसे—बौद्ध धर्म और वैदिक धर्म दोनो ही ज्ञानपरक धर्म हैं। "बुध्यते अनेन इति बुद्ध" बुद्ध यानी ज्ञानी, उसका धर्म बौद्ध धर्म। इसी प्रकार "वेद्यते अनेन इति वेद"—वेद यानी ज्ञान। वेदो को मान्य करनेवाला वैदिक धर्म। पर जैनधर्म आचार-अनुशीलन-प्रधान धर्म है। जैन की व्युत्पत्ति है—"जयतीति जिन" यानी जो जीतता है उसे जिन कहते हैं। जैनधर्म यानी विजेताओ का धर्म—जैनधर्म। 'जीतना' यह शब्द युद्ध-फलित सा लगता है। जहाँ विजय होती है, वहाँ युद्ध, संग्राम अवश्य होगा ही, उसके बिना विजय हो नही सकती और युद्ध तो एक बहुत बडी क्रिया है। उसमें पौरुष अत्यन्त अपेक्षित रहता है। अत जैन-दर्शन केवल ज्ञानपरक नही होकर प्रमुखतया आचरण-परक है। जैन-दर्शन की यह मान्यता है कि ज्ञान होने के लिए तो किसी को पूर्व का ज्ञान भी हो सकता है, पर यदि चरित्र नही है तो इतने ज्ञान के होते हुए भी वह मिथ्या-दृष्टि है। जब तक दृष्टि मिथ्या रहती है, तब तक वह मुक्त नही हो सकता। इसी प्रकार जैनधर्म जातिपरक भी नही है। किसी भी जाति का मनुष्य जैन कहलाने का अधिकारी हो सकता है। बशर्ते कि वह अपनी श्रद्धा और आचरणो को शुद्ध बनाये। बिना आचरण को शुद्ध बनाये कोई भी जैन कहलाने का अधिकारी नही हो सकता। इससे यह और भी स्पष्ट हो गया कि जैनधर्म वृत्ति-शोधन पर अधिक बल देता है।

पर सबके सब लोग आत्म-विजेता बन जायें, यह कम सम्भव है। ऐसी अवस्था में जो पूर्ण विजयी हो चुके है, उनके पथ का अनुसरण करने वाला भी जैन हो सकता है। इससे सब कोई पूर्ण विजेता हो ही, यह आवश्यक

नही रह जाता। पर वे लोग जो पूर्ण विजेताओ के बताये हुए पथ का आशिक अनुसरण करते है, वे भी विजेता ही हो जाते है। इससे जैनधर्म में 'अ' से लेकर 'ह' तक और 'एक' से लेकर 'सौ' तक को स्थान है। यानी जिस व्यक्ति की जितनी शक्ति है, वह उतना आचरण करे। पर उसकी दृष्टि सम्यक् होनी चाहिए। उसके सामने यह लक्ष्य रहना चाहिए कि उसे पूर्ण विजेता बनना है।

जैन के लिए पहले जो युद्ध का जिक्र आया, उसका अर्थ यहाँ कोई घमासान नही है। घमासान तो बाह्य युद्ध का परिणाम है। पर यह तो अन्तर-युद्ध है, अपने आपसे किया जानेवाला युद्ध है। इसीलिए शास्त्रो में कहा है—**अप्पणा चेव जुज्झाइ, कि ते जुज्झेण बज्झओ। अप्पणा मेव मप्पाणं जइत्ता सुहं मेहए** **'आत्मना युध्यस्व'**—यदि तुम्हें युद्ध ही करना है तो अपने आप से करो। इन बाह्य युद्धो से क्या होने वाला है? हिरण आदि कमजोर प्राणियों को मारकर क्या अपनी शूर-वीरता दिखाते हो? यदि तुम्हें किसी को मारना ही है तो अपने मन को मारो। सारे ससार को जीत लिया और अपनी आत्मा को नही जीता तो यह कमजोरी है, नादानी है। अत. वास्तव मे ही विजेता बनना है तो अपनी आत्मा पर नियन्त्रण करो।

प्रश्न हो सकता है—आत्मा से युद्ध करो। तो क्या इसका मतलब यह है कि आत्मा को खत्म कर डालो। आत्मा के गुण और क्रिया आखिर आत्मा ही तो हैं। चेतन के गुण और क्रिया चेतन, जड़ के गुण और क्रिया जड। उसी प्रकार आत्मा के गुण और क्रिया आत्मा ही हैं। अतः अपनी दुष्प्रवृत्तियो के साथ लड़ना अपनी आत्मा के साथ ही लडना है। जिनका भी यही अर्थ है—**'जयति आत्मन इति जिनः'** या **'जयति रागद्वेष इति जिनः'**—जो अपनी आत्मा को जीते या राग-द्वेष को जीते, उनको जो आराध्य मानते है, अनुसरण करते है, वे भी जैन ही है।

पर उनका अनुसरण करने का मतलब यह नही है कि उनकी समाधि पर पुष्प-हार चढा दो या वहाँ बैठ कर उनके भजन-स्तवन कर लो। इतने मात्र से उनका अनुसरण मान लेना यह गलत है। ये सब बाह्य लोक-पद्धतियाँ है। तत्त्वत उनके पथ को अपना पथ बनाना ही उनका अनुसरण करना है। जैन-दर्शन बताता है कि कोई मनुष्य यदि जैन बनना चाहता है तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह विजेता के पथ पर अपने कदम बढाये।

जैन का पुराना नाम क्या था, यह कहना कठिन है। बहुत सम्भव है, पहले उसका नाम निर्ग्रन्थ प्रवचन रहा हो। नाम चाहे कुछ भी हो बात

एक ही है। बौद्ध-ग्रन्थो में जहाँ भगवान् महावीर का प्रसंग है, वहाँ उन्हें 'निगंठ नायपुत्त' कहा गया है। ज्ञात-पुत्र उनका नाम है, यह उनके पीछे विशेषण है। इसी प्रकार जैन-साहित्य में भी अनेक स्थानो पर इसी अर्थ में निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग हुआ है। आज के जैन लोग यह नही भूले कि उनका मूल नाम 'निर्ग्रन्थ' शब्द में ही यह तत्त्व भरा है कि वे धन-कुवेर बनने की चाह न रखें। धन-संग्रह करना उनका लक्ष्य नही है। उसके अर्जन के पीछे एक ही तत्त्व रहता है कि वे ऐसा लौकिक जीवन-निर्वाह के लिए ही करते हैं। धन के पीछे पड जाना उनका ध्येय नही होना चाहिए। आज के जैन यह सोचें कि वे अपने लक्ष्य को याद रख रहे है या भूल गए। वे यदि अधिक उपार्जन का लोभ रखते है तो यह उनके तत्त्व के अनुरूप नही है। आज जैनो को यह भी सोचना चाहिए कि वे निकम्मी रूढियाँ, जिनमें सार कम है, उनको क्यो पकडे बैठे है। शास्त्रो में साधुओ के आहार के बारे में एक प्रकरण आता है कि वह आहार साधु को नही लेना चाहिए जिसमे सार तो कम हो और निस्सार अधिक। उसी प्रकार वे रूढियाँ जो व्यर्थ ही जीवन को बोझिल बनाती है, उन्हे अपने ऊपर से बुद्धिमानी पूर्वक हटा देनी चाहिए। महारम्भ और महापरिग्रह मे अपना जीवन खपाएँ, यह उनके उसूल के अनुकूल नही है। यहाँ आरम्भ का अर्थ शुरूआत नही है। यहाँ आरम्भ का अर्थ है—हिंसा। हिंसा के बारे में जैन-दर्शन मे तीन विकल्प हैं। अनारम्भ, अल्पारम्भ और महारम्भ। जो हिंसा का सर्वथा त्याग कर दे वह अनारम्भ है। वह तो साधु ही हो सकता है। क्योकि साधु न तो हिंसा करता है, न करवाता है और न करते हुए को अच्छा समझता है। वह हिंसा के सब कार्यों से निवृत्त रहता है। इसीलिए वह भोजन भी न तो स्वयं पकाता है, न दूसरो से पकवाता है और न पकाते हुए को अच्छा ही समझता है। साराशत अपने जीवन को चलाने के लिए भी वह किसी प्रकार का आरम्भ नही कर सकता। न मन से, न वाणी से और न क्रिया से। जिस काम को वह स्वयं नही करता उसका दूसरो को उपदेश भी नही दे सकता। अपने आचरण के विरुद्ध उपदेश देना "जहा वाई तहा कारी" के सिद्धान्त के भी विपरीत है।

दूसरी श्रेणी है—अल्पारम्भ की। इस श्रेणी के अन्तर्गत वे मनुष्य आते हैं जो सर्वथा त्यागी नही हैं। उन्हें अर्य—यानी आवश्यक आरम्भ करना पडता है। अत वे अल्पारम्भी कहलाते है, पर महारम्भी तो वे है जिन्हें हिंसा का कोई ज्ञान ही नही रहता। उनका कोई लक्ष्य भी नही होता। जिस प्रकार तेली के बैल का कोई लक्ष्य नहीं होता,

वह घाणी (धुरी) के चारो ओर सिर्फ चक्कर लगाता रहता है, उसी प्रकार जो दिन-रात हिंसा में तल्लीन रहते है, उनमें और "तिल पेल नेल कीगतो" बैल में क्या अन्तर है? चक्की भी जिस प्रकार अपनी कीली के चारो ओर चक्कर लगाती रहती है, कभी रुकती ही नही उसी प्रकार वे लोग भी जो दिन-रात आरम्भ में पडे रहते हैं, कभी अपने जीवन पर ध्यान नही देते। चक्की भी रुकती तो है पर या तो पीसनेवाले के थक जाने पर या अन्न समाप्त हो जाने पर। वही गति महारम्भी लोगो की होती है। महारम्भी यानी जिसकी आकाक्षाओ की कोई सीमा नही होती और जिनका हिंसा-अहिंसा की तरफ कोई चिन्तन ही नही होता।

मोक्ष के पथ में आरम्भ अर्गला है, पर फिर भी गृहस्थ सम्पूर्ण हिंसा से बच नही सकता। इसका मतलब यह नही कि हिंसा आदेय है या हिंसा के बिना धर्म हो नही सकता। हिंसा धर्म का अविनाभावी कारण है—इस मान्यता को जैन-धर्म कभी प्रश्रय नही दे सकता। जो हिंसा को धर्म की भूमिका या मोक्ष की सीढी कहते है, उन्होने अभी जैन-दर्शन का अध्ययन ही नही किया है। कुछ लोग कहते है—हम साधुओ के दर्शन करने मोटर मे जाते है, तो क्या साधु-दर्शन के इस धर्म-कार्य में मोटर को साधन रूप मानने से उसका **हिंसा जनित परिग्रह** भी धर्म नही हो जाता? या घर पर साधु भिक्षा लेने के लिए आएँ, तब हम अगर भोजन नही पकाते है, तो उन्हें क्या देंगे? भोजन बिना हिंसा के बनता नही। अत. हिंसा के बिना पात्र-दान कैसे हो सकता है? इस प्रकार एक नही अनेक उदाहरण हो सकते है, जिनमें हिंसा भी धर्म-कार्य में अपेक्षित रहती है। यहाँ हमारा दृष्टिकोण है कि हिंसा में धर्म मान लेना, यह मार्ग से भटकने जैसा है। हाँ, यह अवश्य है कि गृहस्थ जीवन में सम्पूर्ण हिंसा का त्याग नही हो सकता। उन्हें कदम कदम पर हिंसा करनी ही पडती है। इसीलिये तो उन्हें अनारम्भी नही कहकर अल्पारम्भी कहा जाता है। पर जितनी हिंसा वह करता है, उसको धर्म का साधन तो नही माना जा सकता। हाँ, वह सुविधा का साधन हो सकता है। इसी प्रकार मोटर में बैठकर दर्शन करने के लिए आना सुविधा का साधन हो सकता है, धर्म का नही। बहुत से लोग मोटरो में बैठकर आए है तो बहुत से लोग पैदल भी आए है। यदि मोटरे ही दर्शनो का साधन होती तो दूसरे लोग कैसे आ सकते थे? इससे पता चलता है कि वह दर्शन करने का कारण नही है पर चूंकि मोटर सुविधा का साधन है, अतः उसे धर्म का साधन मान लेना उपयुक्त नही होगा। यदि सुविधा और असुविधा का ध्यान न रखा जाए तो बिना हिंसा भी दर्शन हो सकते है। अत. मोटरे दर्शन का अनन्तर (अभिन्न) निमित्त नही हैं,

हाँ, परस्पर निमित्त हो सकती है। परस्पर निमित्त तो मोटर क्या और भी बहुत-सी बाते हो सकती है, पर वे धर्म नही मानी जा सकती। इसी प्रकार भोजन के सम्बन्ध में समझना चाहिए। क्योकि गृहस्थ के घर में हिंसा तो होती ही है, पर वह धर्म नही है। धर्म तो उस हिंसा से जो निष्पन्न हो चुका है, उसके त्याग में है। यहाँ पर भी त्याग-वृत्ति धर्म है न कि उसे तैयार करना। अत हिंसा को धर्म मानना यह एकान्त असत्य है।

अहिंसा, अहिंसाजन्य ही होनी चाहिए। इसी प्रकार हिंसा भी हिंसा-जन्य ही है। अत उसमे धर्म नही हो सकता। स्वामीजी ने इस सम्बन्ध में एक पद्य कहा—"**हिंसा किया धर्म हुए तो जल मथियां घी आवे**" यदि हिंसा से धर्म हो सकता है, तो जल मथने से भी घी निकल सकता है। इसका मतलब यह नही कि गृहस्थ हिंसा से मुक्त हो जाये। उसके साथ वह तो जुडी हुई है। इसीलिए उसे धर्माधर्मी—व्रताव्रती कहा गया है। उसमें व्रत और अव्रत का मिश्रण है। गेहूँ और ककड दो है, दोनो का अपने अपने स्थान पर उपयोग है। गेहूँ खाने के काम में आता है तो ककड नीव जमाने के काम में आता है, पर जो उपयोग गेहूँ का है, वह ककड का नही हो सकता। उन दोनो को मिला देना, यह तो बडी भारी भूल होगी। हिंसा का भी अपने स्थान पर उपयोग है, पर वह मोक्ष-साधना का मार्ग नही है। मोक्ष-साधन का मार्ग अहिंसा ही है, गृहस्थ को कुछ आवश्यक हिंसा करनी पडती है और कुछ अनावश्यक हिंसा भी उसके द्वारा होती है। कुछ हिंसा अज्ञानवश हो जाती है तो कुछ हिंसा प्रमादवश भी हो जाती है। उदाहरण के लिए दातुन की कुछ आवश्यकता हुई तो बहुत सारे दातुन तोड लाए। जो काम आया सो काम आया, बाकी को यो ही फेंक दिया। यह अनावश्यक हिंसा है। साग के लिए जो बनस्पति लायी जाती है, वह अनावश्यक हिंसा है। इसी प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु की हिंसा भी उसके लिए अनावश्यक हो जाती है। अल्पारभ गृहस्थ का "छादा" है, पर वह धर्म नही, और महारम्भ तो निश्चित ही नरक का हेतु है। अनारम्भ, अनुपद्रव, अनभिद्रोह, अनाक्रमण और अहिंसा—ये सब धर्म के मौलिक रूप हैं।

किसी को बलात् धर्म का अनुशीलन करवाना भी धर्म नही है। किसी को गुलाम व दास बनाना तो बहुत बडी हिंसा है। मनुष्य को क्या, किसी पशु-पक्षी को भी बन्दी बनाना अधर्म है, हिंसा है। करने को बहुत से लोग पशु-पक्षियों की बहुत हिफ़ाजत करते है, उन्हें अच्छा खाना देते है और कहते है—हम उनकी सेवा करते हैं, पर सत्य यह है कि वह उनकी सेवा नही,

असेवा ही है। यदि आप किसी की सेवा करना चाहते हैं तो किसी को बन्दी नही बनाइये, किसी को मारे पीटें नही, यही सबसे बड़ी सेवा है।

हाँ, अहिंसा को भी जितनी शक्ति हो अपनाएँ। किसी भी खेत में यह नही होता कि गेहूँ अलग पैदा होता है और भूसा अलग पैदा होता है। बिना भूसे के कभी अनाज पैदा होता नही देखा गया और न दोनों को एक भाव बिकते देखा गया। इसी प्रकार धर्म के साथ पुण्य होता है, पर धर्म और पुण्य एक नही हो सकते। जो जैसा है, उसे वैसा ही समझना चाहिए। यही सम्यक्त्व है, जो जैनधर्म का मूल है। सब अहिंसक नही बन सकते, यह ठीक है। पर हिंसा को अहिंसा तो नही मान लेना चाहिये। उससे उल्टा मिथ्यात्व आता है। अत. यह बिना मतलब की गलती तो नही करनी चाहिए।

इसी प्रकार अपरिग्रह, अल्प-परिग्रह और महापरिग्रह का हिसाब है। सर्वथा अपरिग्रही तो अकिंचन सन्यासी ही हो सकते हैं, जिनके पास एक कौडी भी नही मिल सकती। प्रश्न है—यदि काम पड जाए तो ? पर उनसे किसका काम पड़े ? उन्हें कोई विवाह-शादी तो करनी नही है। रोटी, कपड़ा मकान आदि वे माँग कर ले लेते है! रोटी भी अगर मिल जाती है तो खा लेते है, नही मिलती है तो उसमें भी आनन्द मनाते हैं। इन सब बातो को वे जान-बूझकर ही इस मार्ग में प्रविष्ट करते हैं।

जब मैंने दीक्षा ली तो मेरे बडे भाई साहब दीक्षा के दिन मेरी परीक्षा के लिए सौ रुपए का एक नोट देते हुए कहा था—देखो साधु-जीवन में बड़ी कठिनाइयाँ आती हैं। कही आहार मिलता है, कही नही मिलता। अत· तुम पास में यह एक सौ रुपए का नोट रखो और जब कभी आवश्यकता पड़े तो इसका उपयोग करना। मुझे उस समय इतनी हँसी आयी कि वह रोके न रुकी। बाद में मैंने उनसे कहा—यह तो परिग्रह है। साधुओ को परिग्रह से क्या मतलब ? वे कहने लगे—इसमें परिग्रह क्या है ? यह तो कागज का टुकडा है, पर जब मैंने उसे लेने से बिल्कुल इन्कार कर दिया तो उन्हें अन्तिम परीक्षा से और अधिक विश्वास हो गया।

हाँ, तो मै यह कह रहा था कि साधुओ को पैसे की आवश्यकता ही क्या रह जाती है? यदि साधुओ को भी पैसे की जरूरत हो गयी तो समझना चाहिए, उनकी साधना समाप्त है।

सुजानगढ़,
(क्षमा-याचना-दिवस)
२२ अगस्त, '५७

५६ : योग्य दीक्षा

दीक्षा-महाव्रत एक धार्मिक संस्कार है। उसपर सरकार की ओर से प्रतिबन्ध लगवाने का अर्थ है—धार्मिक स्वतन्त्रता मे हस्तक्षेप। आज तो कुछ लोग ऐसा कहते है कि वालदीक्षा नहीं होनी चाहिए। पर कल शायद यह भी कहा जा सकता है कि अणुव्रती नही बनना चाहिए, यह जनता की धार्मिक स्वतन्त्रता पर आघात है। हो सकता है प्रस्ताव बुराइयो को मिटाने के लिए किये जाते है, पर उसके साथ-साथ अच्छाइयाँ विकसित नही हो सकें, यह उचित नही लगता।

कुछ लोग कानून से बुराइयाँ मिटाने की वात सोचते है, पर उन्हें ठडे दिमाग से सोचना चाहिए कि क्या कानून से सब बुराइयाँ मिट ही जाती है? मेरा ख्याल है कानून से कही कही बुराइयाँ अधिक पनपती हैं, क्योकि जो लोग अच्छे नही है, वे तो कानून की परवाह करने वाले हैं नही, और जो अच्छे हैं उनके लिए कानून अवरोधक बन जाएगा। अत. दोनो ही तरफ से ऐसा लगता है कि इससे समस्या सुलझने वाली नही है।

पिछली वार जयपुर मे वाल-दीक्षा के विरोध के अवसर पर जब जयप्रकाश बाबू वहाँ आए थे तो मेरे साथ वातचीत के बीच उन्होने भी यही कहा था—"मै यह नही चाहता कि कानून के द्वारा वाल-दीक्षा रोकी जाय। वह तो स्वय धर्माचार्यों के सोचने का विषय है कि वे अपनी व्यवस्था इस प्रकार बना लें कि किसी को विरोध करने का अवसर ही न मिले। आज भी देश के ऊँचे विचारक यही सोचते है। भारतवर्ष का सविधान बनाते समय जब बाल-दीक्षा के प्रतिरोध का प्रश्न आया तो सरदार पणिकर ने कहा था—कानून के द्वारा इसका प्रतिरोध करने का मतलब है जनता के मौलिक अधिकारो पर प्रहार। अत कानून के द्वारा बाल-दीक्षा को रोकना किसी भी दृष्टि से उचित नही लगता।

मैं इस वात का कभी समर्थक नही हूँ कि बाल-दीक्षा के नाम पर अयोग्य दीक्षा दी जाए। यदि कही पर भी वहकाकर, धमकाकर या फुसला कर दीक्षा दी जाती है तो मै उसका पहला विरोधी हूँ, और यह भी सत्य है कि अनेक जगह अयोग्य दीक्षाएँ भी होती हैं, पर उन्हें रोकने के लिए यह तरीका उचित नही लगता। उचित तो यह हो कि स्वय साधुओ में ही ऐसा विकास किया जाए कि अनुचित दीक्षा देने का अवसर ही नही आये।

अपनी बात मैं कह सकता हूँ कि हमारे संघ में दीक्षा पूरी जाँच

के वाद ही होती है। मुझे इस सम्बन्ध मे रचमात्र रड़कन भी पसन्द नही। यहाँ अनेक नाबालिग तो दीक्षा की प्रार्थना करते-करते ही साबालिग हो जाते है। उनके माता-पिता भी पूर्णतया सहमत हो तभी मै दीक्षा के सम्वन्ध में विचार करता हूँ। हमारा आज तक का इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि हमारे यहाँ दीक्षा पूरी परीक्षा के बाद ही होती है।

इस अवसर पर मै धर्माचार्यों से भी यह कहना चाहूँगा कि वे इस बात पर गहराई से सोचें। उनकी जरा-सी भी असावधानी का असर जनता पर बुरा होता है। बाल-दीक्षा के सम्बन्ध में भी अगर पूर्ण सतर्कता नही बरती जाए तो वह जनता में आलोचना का विषय बन जाती है। आज जो नाबालिग दीक्षा प्रतिबधक विल लोग लाने की सोचते हैं यह उनकी असावधानी का ही परिणाम है। अब भी अगर वे इस ओर ध्यान नही देंगे तो समस्या और भी जटिल हो सकती है। अत. आज धर्माचार्यों को अपने-अपने सघ और सम्प्रदायो को टटोलने की आवश्यकता है कि उनके यहाँ कोई अयोग्य दीक्षा तो नही होती है? मेरा यह कोई आग्रह नही है कि बाल-दीक्षा ही होनी चाहिए। मैं योग्य दीक्षा का समर्थक हूँ। कोई बालक योग्य हो ही नही सकता, यह मै नही मानता। अत. बाल-दीक्षा पर प्रतिवन्ध लगाने का अर्थ है सारे संसार के बालको को अयोग्य करार देना। मेरा आग्रह है योग्य दीक्षा हो। फिर वह चाहे बालक हो, चाहे युवक हो, और चाहे वृद्ध हो।

९० : श्रद्धा : उर्वरा भूमि

वीज विकास पाता है किन्तु उर्वरा भूमि मिले तव। कुछ भूमि सहज उर्वरा होती है, कुछ प्रयत्न से वनायी जाती है। व्रत के लिए भी यही वात है। व्रत के लिए उर्वरा भूमि है श्रद्धा। श्रद्धा की उर्वरा में व्रत शत शाखी वन जाते है। सहज श्रद्धा के लिए आन्दोलन जरूरी नही होता। किन्तु श्रद्धा को जगाने के लिए आन्दोलन अवश्य चाहिए। शव्द की दृष्टि से यह अणुव्रतो का आन्दोलन है। भावना की दृष्टि से यह श्रद्धा-जागरण का आन्दोलन है। व्रत का स्थान दूसरा है, पहला श्रद्धा का है। हृदय श्रद्धा से वदलता है व्रत से नही।

मैं वहुधा कहा करता हूँ—अहिंसा और सत्य की कमी है, यह उतना चिन्तनीय विषय नही जितना कि—उनके प्रति श्रद्धा टूटती जा रही है, यह चिन्तनीय है। भौतिक वातावरण में पलनेवाली वुद्धि का विश्वास

हिंसा, कूटनीति, और शस्त्रो में ही जमता है। इसीलिए सत्यदर्शी मनीषियों ने कहा है—आत्मा को देखो, उसे समझो, उससे प्रेम करो, उसमें से समता का स्रोत बहा कर अभय वनो। अभय स्वतन्त्र व्रत नही है किन्तु यह व्रत-निर्माता है। भय वहाँ होता है जहाँ श्रद्धा का उत्कर्ष नही होता। श्रद्धा का उत्कर्ष ही अभय है। अभय आता है साधना निर्बाध हो जाती है। कष्ट और मौत का डर मिटता है और अहिंसा निखर उठती है।

अहिंसा ही व्रत है और सारे व्रत इसी के पहलू है।

व्यवहार की दुनियाँ में एक मित्र भी शान्ति और आनन्द का हेतु वनता है। वह दिन कितनी शान्ति और आनन्द का होगा जिस दिन सारे जीव हमारे सच्चे मित्र वन जाएगे। वैर-विरोध की आशंका से करोड़ो अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण करना पड रहा है। वह दिन कितना शुभ होगा जवकि सारे वैर-विरोधो की आशका धुल जाएँगे। शत्रु-भाव से मैत्री नही होती, घृणा से प्रेम, शस्त्रीकरण से अभय, और अशान्ति के साधनों से शान्ति नही लाई जा सकती। हमारी श्रद्धा अहिंसा में है, अभय और मैत्री में है। श्रद्धा सब में है, उसके विना कोई जी नही सकता किन्तु जिनकी श्रद्धा हिंसा, भय, घृणा और शत्रुता मे है उनकी श्रद्धा बदले इसी लक्ष्य के साथ हम चलें और चलते चलें।

अहिंसा-दिवस, '५७

६१ : समस्याओं का समाधान

आज देश में आचार की वड़ी भारी आवश्यकता है। इसके विना देश दरिद्र है। पैसा नही होने से कोई दरिद्र नही हो जाता। वास्तव में तो दारिद्रय अनाचार ही है। यदि पैसा नही होने से ही कोई दरिद्र हो जाता तो सब से वडे दरिद्र तो साधु होते। पर उनके सामने तो सम्राटों के सिर झुक जाते हैं। अत वे दरिद्र कैसे? आज मनुष्य का मूल्याकन पैसे से हो रहा है यह उचित नही है। मनुष्य सही स्थिति में सोचेगा तो उसे यह समझ में आ जाएगा कि यह उसने बडी भारी भूल की है, पर आज कहा किसे जाए। आज तो सभी यही सोचते हैं कि पैसा बड़ा है। एक राज्य-सभा की बात है—एक बार उसके सारे सदस्यो ने शराब पी ली। इससे सारे सदस्य नशे में झूमने लगे। केवल मत्री और राजा दो ही ऐसे थे जो उस समय नशे में नही थे। दोनो ने ही सदस्यों को वहुत समझाया पर

के बाद ही होती है। मुझे इस सम्बन्ध मे रचमात्र रड़कन भी पसन्द नही। यहाँ अनेक नाबालिग नो दीक्षा की प्रार्थना करते-करते ही साबालिग हो जाते हैं। उनके माता-पिता भी पूर्णतया सहमत हो तभी मै दीक्षा के सम्बन्ध में विचार करता हूँ। हमारा आज तक का इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि हमारे यहाँ दीक्षा पूरी परीक्षा के बाद ही होती है।

इस अवसर पर मै धर्माचार्यों से भी यह कहना चाहूँगा कि वे इस बात पर गहराई से सोचें। उनकी जरा-सी भी असावधानी का असर जनता पर बुरा होता है। बाल-दीक्षा के सम्बन्ध मे भी अगर पूर्ण सतर्कता नही बरती जाए तो वह जनता में आलोचना का विषय बन जाती है। आज जो नाबालिग दीक्षा प्रतिबधक बिल लोग लाने की सोचते है यह उनकी असावधानी का ही परिणाम है। अब भी अगर वे इस ओर ध्यान नही देगे तो समस्या और भी जटिल हो सकती है। अत आज धर्माचार्यों को अपने-अपने सघ और सम्प्रदायो को टटोलने की आवश्यकता है कि उनके यहाँ कोई अयोग्य दीक्षा तो नही होती है? मेरा यह कोई आग्रह नही है कि बाल-दीक्षा ही होनी चाहिए। मै योग्य दीक्षा का समर्थक हूँ। कोई बालक योग्य हो ही नही सकता, यह मै नही मानता। अत. बाल-दीक्षा पर प्रतिबन्ध लगाने का अर्थ है सारे ससार के बालको को अयोग्य करार देना। मेरा आग्रह है योग्य दीक्षा हो। फिर वह चाहे बालक हो, चाहे युवक हो, और चाहे वृद्ध हो।

६० : श्रद्धा : उर्वरा भूमि

बीज विकास पाता है किन्तु उर्वरा भूमि मिले तब। कुछ भूमि सहज उर्वरा होती है, कुछ प्रयत्न से बनायी जाती है। व्रत के लिए भी यही बात है। व्रत के लिए उर्वरा भूमि है श्रद्धा। श्रद्धा की उर्वरा में व्रत शत शाखी बन जाते हैं। सहज श्रद्धा के लिए आन्दोलन जरूरी नही होता। किन्तु श्रद्धा को जगाने के लिए आन्दोलन अवश्य चाहिए। शब्द की दृष्टि से यह अणुव्रतो का आन्दोलन है। भावना की दृष्टि से यह श्रद्धा-जागरण का आन्दोलन है। व्रत का स्थान दूसरा है, पहला श्रद्धा का है। हृदय श्रद्धा से बदलता है व्रत से नही।

मैं बहुधा कहा करता हूँ—अहिंसा और सत्य की कमी है, यह उतना चिन्तनीय विषय नही जितना कि—उनके प्रति श्रद्धा टूटती जा रही है, यह चिन्तनीय है। भौतिक वातावरण में पलनेवाली बुद्धि का विश्वास

हिंसा, कूटनीति, और शस्त्रों मे ही जमता है। इसीलिए सत्यदर्शी मनीषियों ने कहा है—आत्मा को देखो, उसे समझो, उससे प्रेम करो, उसमे से समता का स्रोत वहा कर अभय वनो। अभय स्वतन्त्र व्रत नही है किन्तु यह व्रत-निर्माता है। भय वहाँ होता है जहाँ श्रद्धा का उत्कर्ष नही होता। श्रद्धा का उत्कर्ष ही अभय है। अभय आता है साधना निर्बाध हो जाती है। कष्ट और मौत का डर मिटता है और अहिंसा निखर उठती है।

अहिंसा ही व्रत है और सारे व्रत इसी के पहलू है।

व्यवहार की दुनियाँ मे एक मित्र भी शान्ति और आनन्द का हेतु बनता है। वह दिन कितनी शान्ति और आनन्द का होगा जिस दिन सारे जीव हमारे सच्चे मित्र बन जाएंगे। वैर-विरोध की आशका से करोड़ो अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण करना पड रहा है। वह दिन कितना शुभ होगा जबकि सारे वैर-विरोधो की आशका धुल जाएँगे। शत्रु-भाव से मैत्री नही होती, घृणा से प्रेम, शस्त्रीकरण से अभय, और अशान्ति के साधनो से शान्ति नही लाई जा सकती। हमारी श्रद्धा अहिंसा में है, अभय और मैत्री में है। श्रद्धा सब में है, उसके बिना कोई जी नही सकता किन्तु जिनकी श्रद्धा हिंसा, भय, घृणा और शत्रुता मे है उनकी श्रद्धा बदले इसी लक्ष्य के साथ हम चलें और चलते चलें।

अहिंसा-दिवस, '५७

९१ : समस्याओं का समाधान

आज देश में आचार की बड़ी भारी आवश्यकता है। इसके विना देश दरिद्र है। पैसा नही होने से कोई दरिद्र नही हो जाता। वास्तव में तो दारिद्र्य अनाचार ही है। यदि पैसा नही होने से ही कोई दरिद्र हो जाता तो सब से बड़े दरिद्र तो साधु होते। पर उनके सामने तो सम्राटो के सिर झुक जाते है। अत वे दरिद्र कैसे? आज मनुष्य का मूल्याकन पैसे से हो रहा है यह उचित नही है। मनुष्य सही स्थिति में सोचेगा तो उसे यह समझ में आ जाएगा कि यह उसने वडी भारी भूल की है, पर आज कहा किसे जाए। आज तो सभी यही सोचते हैं कि पैसा वडा है। एक राज्य-सभा की वात है—एक वार उसके सारे सदस्यो ने शराब पी ली। इससे सारे सदस्य नशे में झूमने लगे। केवल मन्त्री और राजा दो ही ऐसे थे जो उस समय नशे में नही थे। दोनो ने ही सदस्यों को बहुत समझाया पर

नशे की हालत में उनपर क्या असर पडनेवाला था। उल्टे वे लोग ज्यादा नशे में पागल हो गए और जोर-जोर से नाचने-गाने लगे। नशे का वेग यहाँ तक बढ गया कि उन्होने अपने कपडे भी उतार दिए, और नाचते-कूदते राजा तथा मंत्री की ओर दौड़े। दोनो ने उन्हें फिर समझाया, पर असर उल्टा ही हुआ। उन्होने सोचा अब खैर नही है। आखिर बहुमत का ही जमाना है। यदि और उपदेश देगे तो जान पर जोखिम है। अत उन्होने भी कपडे उतार दिए और उनके साथ ही नाचने-गाने लगे। आज भी ऐसी ही स्थिति है। सारे लोग पैसे के पीछे पागल से दौड रहे हैं। कुछ लोग उन्हें समझाते भी हैं, पर कोई उनकी सुनता नही। उल्टे कई लोग तो उन्हें प्रतिकूलगामी तक कह देते है, पर समझदार लोग बहुमत के चक्कर मे पडनेवाले नही है। उन्हें सत्य पर विश्वास है। आखिर नशा उतरने पर ससार को भी यहाँ आना पडेगा, इसमे कोई सन्देह नही है।

अर्थ से अनेक समस्याएँ पनपती हैं। यह सब प्रत्यक्ष है। जिसकी जड़ ही समस्या है उसमें से समाधान आएगा कहाँ से ? किसी समय एक बाबा घूमते-फिरते राजस्थान के जगल मे पड गए। उन्हे भूख बडे जोरो से लगी थी। वहाँ खाने को क्या मिलता ? आखिर ढूंढ़ते-ढूंढते उन्हें एक 'तुम्बे' की बेल नजर आई। उस पर तुम्बे के फल देखकर उन्होंने सोचा यह शायद खाने का ही फल है। भूखे तो थे ही। झट फल तोड लिया और खाने लगे। पर एक टुकड़ा मुंह में रखते ही सारा मुंह खारा हो गया। उन्होने सोचा फल खारा है, शायद पत्ते मीठे होगे। अतः पत्ते तोड कर खाए। वे और भी खारे जहर थे। थू-थू करते हुए उन्होने डाली तोड कर मुंह में डाली, पर वह भी कम खारी नही थी। आखिर उन्होने उस बेल को उखाड़ कर उसकी जड़ को थोडा-सा चखा, पर उसने तो सब को मात कर दिया। वह तो हलाहल ही थी। अब उनके समझ में आया कि जिसकी जड ही खारी है उसकी डालियाँ, पत्ते और फल मीठे कहाँ से होगे ? इसी प्रकार अर्थ यदि समस्या है तो उसका समाधान कहाँ से आयेगा ? अत आज नही तो कल, अन्त में संसार को अपना दृष्टिकोण बदलना पडेगा कि अर्थ आखिर में समस्याओ का हल नही है। समस्याओं का हल सयम से ही होगा—आचार से ही होगा।

६२ : शान्ति का मार्ग

एक सद्‌गृहस्थ का जीवन अल्प परिग्रही होता है। उसके लिए पैसे की बस उतनी ही आवश्यकता रहती है, जितनी कि एक रोगी को दवा की

और एक भूखे को भोजन की। गृहस्थ भीख मांगे, यह उसके लिए शर्म की बात है। उसे अपने लिये, अपने परिवार और समाज के लिए श्रम करके कमाना पडता है, इसलिए वे अल्प-परिग्रही कहलाते हैं, पर महा-परिग्रही को सीमा की कोई चिन्ता नही होती। आज अधिकतर लोगो का यह दृष्टिकोण बन गया है कि जितना धन अधिक होगा, वह मनुष्य उतना ही बडा होगा, पर आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाए तो मनुष्य की जितनी आवश्यकताएँ कम होगी, उसे उतना ही आनन्द मिलेगा। जिसकी जितनी अधिक आवश्यकताएँ होगी, उसकी शान्ति भी उतनी ही खतरे मे रहेगी। यह हमारा भारतीय दृष्टिकोण है। पश्चिम के लोग इससे विल्कुल उल्टे चलते है। वे लोग कहते है—**आवश्यकताएँ बढ़ाओ, उससे उत्पादन बढ़ेगा और उससे शान्ति बढ़ेगी।** मै इस सिद्धान्त को नास्तिकवाद कहता हूँ। क्योकि वे लोग भोग को बढावा देते है। भोग को बढावा देना नास्तिकता नही तो और क्या है? यह दूसरी वात है कि मनुष्य को अपने जीवन निर्वाह के लिए कुछ आवश्यक साधन जुटाने पडते है। खाज आती है तो खुजलाना पडता ही है, पर ऐसा खुजलाना क्या, जिससे घाव ही पड जाए, यह तो अक्ल का दिवाला ही है।

जैन-दृष्टि के अनुसार जिस प्रकार परिग्रह का सग्रह पाप है, उसी प्रकार उसका व्ययदान या विनिमय भी धर्म नही है। कुछ इस तथ्य का दुरुपयोग भी करते है। यदि कोई व्यक्ति उनके पास चन्दा मागने के लिए आ जाए तो वे झट कह देते हैं—भाई! हमारे धर्म मे तो चन्दा देने में पाप कहा है, पर मै उन लोगो से इतना और पूछ लेता हूँ कि आपके धर्म में सग्रह करने में क्या धर्म कहा है? यदि उन्हे पाप का इतना डर है तो अपने पास इतना धन-सग्रह क्यो करते है? संग्रह करते समय तो उन्हें पाप का डर भी नही लगता और एक सामाजिक काम में चन्दा देते समय उन्हें पाप का ध्यान आ जाता है। यह पाप का डर नही है, धन के प्रति आकर्षण है और धर्म के साथ खिलवाड है। अपने हाथ से पैसा देना नही है, अत कोई न कोई वहाना तो निकालना ही पडता है। हमारी दृष्टि में तो परिग्रह मात्र पाप है। वह चाहे यहाँ रहे या कही रहे। उसके यहाँ-वहाँ रहने में पाप-धर्म नही हो सकता। आचार्य भीखणजी ने इसी तथ्य को समझाते हुए एक वडा सुन्दर उदाहरण दिया—एक मकान में आग लग गई। मकान मालिक ने अपना सामान निकाला और दूसरे मकान में डालना शुरू कर दिया, पर उस मकान में भी आग लग गई। अत. वह सामान वहाँ भी सुरक्षित न रह सका, जलकर भस्म हो गया। यही परिग्रह का हाल है। उसे अपने पास रखना जव पाप है, तब दूसरो को देने में धर्म कैसे हो जाएगा? परिग्रह का

शेष तो हुआ नही। देने मात्र से कोई त्याग नही होता। उसका तो मोह छूटना चाहिए। नही तो फिर और आकर जमा हो जायगा। मोह छूटने के बाद उस धन का क्या होता है, वह कौन काम में आता है, यह चिन्ता उसे नही हो यही परिग्रह से मुक्ति का मार्ग है।

पैसा वास्तव मे ही पाप का मूल है। वह पास में आ जाने से सचमुच मन में शान्ति नही रहती। गरीबी में जितना दूसरो के प्रति प्रेम रहता है, बहुधा पैसा पास में आ जाने से नही रहता।

दो भाई थे। बिल्कुल निर्धन। दोनो की रोटियाँ एक दाँत टूटती थी। दोनों ने मिलकर सोचा—अब हमें धन-उपार्जन के लिए कौन सा धन्धा करना चाहिए? समाधान रहा—यहाँ देश में काम-धन्धा है नही, परदेश में चले। वहाँ जाकर जीविका का कोई साधन करेगे। ऐसा ही हुआ। विदेश जाकर दोनो ने अच्छा धन कमाया। अब घर की याद आने लगी तो काम-धन्धा स्थगित कर वे घर की ओर चल पडे। रास्ते में जब वे चल रहे थे तो बडे भाई के मन में आया कि जब हम घर पहुँचेंगे तो धन का आधा-आधा हिस्सा हो जाएगा। अत. अच्छा हो, कि छोटे भाई को ही मार दूं। छोटे भाई के मन में भी यही भाव आया। पर वह जल्द ही सँभल गया। अत एक दिन जब बडा भाई सो रहा था, तो उसने रुपयो की झोली को पानी में बहा दिया। उसका शब्द सुनकर बडा भाई चौंक कर उठा और पूछने लगा—यह आवाज कैसी हुई? छोटे भाई ने सारा किस्सा कह सुनाया और कहा कि रुपयो को पाकर मेरे मन में पाप घुस आया। मैंने सोचा—यह धन ही पाप का मूल है, और मैंने इसे पानी में बहा दिया। बड़े भाई ने भी अपनी बात कह सुनायी। कहने लगा—यही भाव मेरे मन में आये थे। अत. अच्छा हुआ, तुमने मेरा रास्ता पहले ही साफ कर दिया। नही तो न जाने मै क्या कर बैठता? इसलिये अब हमें धन का सग्रह नही करना चाहिए? अब उनके मन का पाप भी धुल गया और प्रेमपूर्वक रहने लगे। यह एक उदाहरण है। पर इसका सत्य भी छिपने जैसा नही है। प्राय. देखा जाता है बडे-बडे धनवान भाई भी जब आपस में बँटवारा करते है तो एक-एक पैसे के लिए कोर्ट चले जाते है। यह पैसे के प्रति ममत्व-भावना है। ममत्व ही महापरिग्रह है। एक गृहस्थ को पैसे के साथ ठीक वैसा ही वर्ताव करना चाहिए जैसा कि एक धाय अपने मालिक के पुत्र के साथ करती है। उसका उसमें ममत्व का प्रेम नही होता। उसी प्रकार श्रावक को भी अपनी आजीविका का साधन चाहिए। उसमें ममत्व स्थापित नही करना चाहिए। यह दर्शन—विजयी का दर्शन है, जैन-साधना का दर्शन है।

विजयी का लक्ष्य मोक्ष होता है। विजय का मतलब है—शरीर के बन्धनो से मुक्ति। इसीलिए नवतत्त्वो में मोक्ष को अन्तिम तत्त्व गिना गया है। यही मौलिक तत्त्व है। जीव भी एक दृष्टि से मौलिक—प्राप्य तत्त्व नही है। किसी ने स्वामीजी से प्रश्न किया गया—जीव ग्राह्य है या त्याज्य? उन्होने उत्तर दिया—जीव त्याज्य है। उत्तर बडा विचित्र था। जीव भी त्याज्य है तब तो फिर प्राप्य रह ही क्या जायेगा? अत उन्होने उसका स्पष्टीकरण किया—हमारा जीव ससारी जीव है। उसमें अभी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दुर्गुण विद्यमान है जीव की प्रवृत्तियाँ भी जीव है। अत वे यदि त्याज्य हैं तो जीव ग्राह्य कैसे होगा? हाँ, जीव का शुद्ध स्वरूप ग्राह्य अवश्य होगा। वह तो मोक्ष होने पर प्राप्त हो सकता है, अत जीव नही, मोक्ष ही हमारा प्राप्य होना चाहिये। उसके साथ मोक्ष के साधन स्वरूप संवर और निर्जरा भी हमारे प्राप्य हैं।

६३ : जैन-धर्म और सृष्टिवाद

एक दृष्टि से सोचें तो सृष्टि क्या है, क्यो है, और कब से है? आदि प्रश्न हमारे लिए आवश्यक नही लगते। जब गौतम बुद्ध से यह पूछा गया कि—आत्मा है या नही? सृष्टि आदि है या अनादि? तो उन्होने इस विषय में कुछ नही कहा। वे मौन रहे। उनके इस मौन का कुछ लोगो ने यह अर्थ लगाया कि बुद्ध इस तथ्य के जानकार नही थे, अत. उन्होने कोई उत्तर नही दिया। कुछ लोग यह भी मानते है कि वे इन प्रश्नो को आवश्यक नही मानते थे, अत उन्होने इनका कोई उत्तर नही दिया। जैसा कि स्वय बुद्ध ने कहा है—"**ऐसा नहीं कि मै जानता नहीं हूँ, पर साधक जीवन में ये प्रश्न मुझे आवश्यक नहीं लगते। साधना का मार्ग आष्टांगिक मार्ग है। सम्यग्-प्रवृत्ति, सम्यग्-वाणी, सम्यग्-चिन्तन आदि साधक के लिए साधना आवश्यक है।**" अत साधक को इन अप्रासगिक प्रश्नो में नही उलझना चाहिए। इसीलिए उन्होने इन प्रश्नो को 'अव्याकृत' कहकर टाल दिया, पर भगवान् महावीर ने ऐसा नही किया। वे किसी विषय में मौन नही रहे। उन्होने कहा—"**कोई भी तत्त्व अज्ञेय नहीं है। सब तत्त्व जानने योग्य है।**" अत उन तत्त्वो से भिज्ञ होना आवश्यक है। यदि आत्मा, परमात्मा, मोक्ष, सृष्टि आदि विषयो को जानेंगे नही, तो फिर हमारी साधना ही क्या रह जाएगी। जो हमारा प्राप्तव्य है, उसके ज्ञान के बिना उसकी साधना केवल अन्धानुकरण है। हम अन्धानुकरण नही चाहते?

हम परमात्मा बनना चाहते हैं। परमात्म-स्वरूप को समझना भी आवश्यक है। मोक्ष हमारा प्राप्तव्य है, अत. उसका ज्ञान भी अपेक्षित है। साधना पक्ष को लेते हुए एक जगह भगवान् महावीर ने कहा है—"**जो जीवे वि न जाणइ, अजीवे वि न जाणइ। जीवा जीवे अयाणतो कहंसे नाहिय संयमं**"—जो जीव को भी नही जानता, अजीव को भी नही जानता, तो वह संयम को कैसे जानेगा? सयम का मतलब यही तो है कि किसी जीव को दुःख नही पहुँचाया जाय, पर जिसे जीव और अजीव का ज्ञान ही नही है, वह कैसे और किसकी दया करेगा? इसीलिये भगवान् महावीर किसी विषय में मौन नही रहे। छोटे-छोटे प्रश्नो से लेकर बडे-बडे प्रश्नो तक का उन्होने समाधान किया है।

हाँ, ऐसे स्थान पर जहाँ पाप का आगम न होता हो, वहाँ भगवान् जरूर मौन रहे हैं। उस समय जब अधुनोत्पन्न सुर्याभ नाम का देवता भगवान् के पास आया और बोला—भगवन् आप तो सर्वज्ञ है, सब कुछ जानते है। पर गौतमादि १४००० साधु छद्मस्थ हैं, उन्हें मैं अपनी दिव्य दृष्टि दिखाना चाहता हूँ, जो कि अभी-अभी मैंने देवता होकर प्राप्त की है। तब भगवान ने न तो उसकी बात को आदर दिया, न अच्छा समझा, मौन पूर्वक बैठे रहे। शास्त्रो में एक जगह कहा है—"**नो आढाए नो परिजाणइ तुषिणीए संचिट्ठइ**" और न उन्होने इसका निषेध ही किया है। क्योकि उस बात को आदर देना तो उनकी साधना के खिलाफ था। हाँ, कहने का मतलब—नाटक का अनुमोदन होता। एक प्रश्न हो सकता है—भगवान् ने उसे 'हाँ' तो नही कहा, पर उस पाप-प्रवृत्ति का निषेध तो कर सकते थे। अत उन्होने निषेध क्यो नही किया? भगवान निरर्थक शब्द भी बोलना नहीं चाहते थे। क्योकि वे यह जानते थे—मैं यदि निषेध करूँगा तो यह दूसरा बहाना निकालेगा। अत. न तो उन्होने उस नाटक का समर्थन किया और न निषेध किया। परिस्थितियो को देखते रहे। मौन बैठे रहे, या अगर वे कही मौन रहे हैं तो लडाई के स्थान पर मौन रहे हैं। उस समय जब एक साधु के सामने लडाई हो जाए तो भगवान् ने उसे अपनी आत्म-रक्षा के तीन उपाय बताए हैं—"**धम्मियाए पडिचोयणियाए, उखीषिए पडिचोहत्ता वालिया उठित्तावा, आया एगंत मवक्कमिज्जा।**" यदि साधु के सामने किसी में आपस में सघर्ष हो जाए तो साधु को उपदेश के द्वारा उन्हें समझाना चाहिए। यह पहला तरीका है। यदि उपदेश देने पर भी कोई समझे नही तो दूसरा उपाय है—साधु मौन रहे, क्योकि संसार भर के पाप मिटाने की जिम्मेवारी तो उसपर है नही। उनके उपदेश से कोई समझता है तो अच्छी बात है। नही समझे तो वे इसका

क्या कर सकते है? अतः जहाँ उपदेश काम नही करता है, वहाँ साधु को मौन रहना चाहिए। इस अवस्था में जबकि बैठे रहने से ही अपनी आत्मा मे उद्वेग पैदा हो जाता है, तो उसे वहाँ से उठकर एकान्त में चला जाना चाहिए। कोई कहे कि यह तो कायरता है, पर ऐसी वीरता भी किस काम की, जिससे अपनी आत्मा को विक्षोभ पैदा होता हो। अग्नि में पड़ कर मरना ही वीरता नही है। हाँ, तो वे ऐसे स्थान पर जरूर मौन रहे है, पर तत्त्वो का विवेचन करने मे उनकी वाणी अस्खलित रूप में प्रवाहित हुई है।

जब गौतम ने पूछा—**भयवं किं लोए?** भगवान् लोक क्या है? तो उन्होने उत्तर दिया—**"जीवा चेव अजीवाय एस लोए वियाहिए"** जीव और अजीव—जड और चेतन का संगम ही लोक है। वास्तव में ही ससार इसके अलावा और है ही क्या? ससार में जितनी भी चीजें है, वे जड और चेतन—इन दो तत्त्वो में समाविष्ट हो जाती है। जीव यानी चेतन द्रव्य, अजीव यानी जड। यहाँ जड का अर्थ मूर्ख नही है, जड़ यानी अचेतन। सर्दी में ठिठुर जाने पर मनुष्य कड़ा हो जाता है, उसे सस्कृत-साहित्य में "जाड्य" कहा है। उसका मतलब भी यही है कि सर्दी के कारण मनुष्य एक प्रकार से अपनी चेतना खो बैठा। आज तो सचमुच ही मनुष्य जड़—अचेतन पदार्थों के सम्पर्क से जड हो रहा है। यदि मोटर न हो तो उनका एक मील भी जाना दूभर हो जाता है। पखा नही हो तो उनका बैठना मुश्किल हो जाता है। यह चेतन पर जड की ही तो विजय है। इतना न भी हो तो भी प्रत्येक मनुष्य के पास कुछ न कुछ कपड़े तो अवश्य ही होते है। यह भी जड ही है, और भी सूक्ष्म मे जाएँ तो कर्म तो प्रत्येक मनुष्य के है ही। वे भी तो जड ही है। अत. ससार में रहते हुए प्रत्येक मनुष्य को जड़ के साथ कुछ न कुछ तो लगाव रखना ही पडता है। उसके पाच भेद है—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल।

धर्म और अधर्म—यह गति और स्थिति सहायक तत्त्व है। इसके बिना जीव और अजीव कोई भी गति या स्थिति नही कर सकता। तत्त्व-निरूपण के क्षेत्र में भगवान् ने इन दो विलक्षण तत्त्वों का प्रतिपादन किया है, जो कि अन्यत्र सिद्धान्तो में अलभ्य है और आज तो विज्ञान भी इस बात की पुष्टि करने लगा है कि बिना किसी सहयोगी तत्त्व के गति हो नही सकती। जिस प्रकार पानी के बिना मछली चल नही सकती, पटरी के बिना गाडी चल नही सकती, उसी प्रकार कोई भी पदार्थ धर्म के बिना गतिवान नही हो सकता। इसी प्रकार स्थिति में भी अधर्म का तत्त्व अत्यन्त सहायक है। यहाँ धर्म और अधर्म शब्द का प्रयोग पुण्य और पाप के या भले

और बुरे के अर्थ में नही किया गया है। यहाँ इसका अर्थ है—गति और स्थिति-सहायक तत्त्व। ये दोनों ही तत्त्व लोक-व्यापक हैं। दूसरे शब्दो में हम इन्हें लोक और अलोक के विभाजक भी कह सकते हैं।

तीसरा तत्त्व है—आकाश। आकाश का लक्षण है—अवकाशदान इसलिए वह अभावात्मक नही है। यदि वह अभावात्मक होता तो हमें आकाश कौन देता? यह लोक और अलोक दोनो ही जगह व्याप्त है। यहाँ हम जो बैठे हैं—यह इस मकान का आकाश है। इसी प्रकार जितने आकाश को जो अवगाहन कर लेता है, उसे तदाकाश कह देते है, पर तत्त्वत आकाश एक ही है। जितना आकाश जिस समय घड़े में बद्ध रहता है, वह घटाकाश कहलाता है, पर यदि घडा फूट जाए तो वह आकाश कहाँ जायेगा? वह तो यही रहेगा। क्योकि वह व्यापक है। हम उसे घटाकाश की जो सज्ञा देते है, वह तो काल्पनिक है।

चौथा तत्त्व है—"काल"। यह भी एक जड पदार्थ है। समूचे ससार को वृद्ध तो यही करता है। एक कपडा बिना काम में लाए स्टाक मे पड़ा-पडा ही पुराना हो जाता है। क्यो? क्योकि काल उसपर से बरत जाता है। उसका लक्षण भी बरतना है। क्योकि वह इकट्ठा होकर तो रहता नही है। काल के सूक्ष्म अश को "समय" कहते हैं। उसके दो टुकडे नही होते। हमारे एक चक्षु-स्पन्दन में असख्यात "समय" बीत जाता है, यह इसकी सूक्ष्मता का एक परिचय है।

अजीव के पाँच भेदो में काल के सिवाय चार अस्तिकाय है। अस्तिकाय यानी सावयव-द्रव्य। उदाहरण के लिए एक कपडे को ले लें। कपड़ा सूक्ष्म-सूक्ष्म तन्तुओ का एक सघात है। एक-एक तन्तु भी सावयवी है। क्योकि वह भी अनेक परमाणुओ से बना है। इसलिए एक छोटे-से-छोटा टुकडा भी अस्तिकाय है। कुछ तत्त्वो के टुकडे काल्पनिक ही हो सकते हैं और कुछ के वास्तविक। अस्ति यानी सद्वस्तु, काय यानी समूह। इसके पीछे धर्म आदि तत्त्वो को लगाने से उनका धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय नाम बन जाता है। काल द्रव्य अस्तिकाय नही है।

जितने पुद्गल स्कंध हैं, वे अस्तिकाय है। परमाणु अस्तिकाय नही होता। क्योकि उसके प्रदेश नही होते। जिनके प्रदेश होते हैं, उन्हें ही अस्तिकाय कहा जा सकता है।

काल अस्तिकाय नही है। क्योकि वह सगठित नही हो सकता। और सब चीजें संगठित हो सकती हैं, पर काल सगठित नही हो सकता।

इस प्रकार जहाँ जीव और अजीव दोनो हो, उसे लोक कहते हैं।

जहाँ केवल एक अजीव हो, उसे अलोक कहते हैं। लोक का यह स्वरूप बताने के बाद प्रश्न आता है—वह बना कैसे? इसका उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा है—"सासए, निच्चे अवट्ठिए" कभी ऐसा समय नही था जब यह लोक नही था। यह शाश्वत है, ध्रुव है, नित्य है। जब षट् द्रव्य शाश्वत है, तब उनकी आदि कैसे निकाली जा सकती है? कांच की चूडी को हाथ में देकर कोई कहे—इसका किनारा निकालो, तो यह कैसे सम्भव है? जब उसकी कोई आदि है ही नही, तब वह निकाली कैसे जाए। अत. जब लोक अनादि है तो उसकी आदि कैसे बतायी जा सकती है?

फिर प्रश्न होता है—यदि आदि नही तो नही सही, पर इसका बनाने वाला तो कोई होगा? पर जब हम इसे अनादि मान लेते हैं, तब बनाने का प्रश्न ही कहाँ रह जाता है। यदि कोई बनाने वाला मानें तो फिर अनेक समस्याएँ सामने आएँगी। पहली समस्या तो यह आएगी कि यदि सृष्टि को किसी ने बनाया है, तो उसको किसने बनाया? अगर वह अनादि है तो फिर सृष्टि को अनादि मानने में क्या आपत्ति है? अत जैन-जगत् किसी को सृष्टि का कर्त्ता-हर्त्ता नही मानता। वह तो अनादि है। सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील है, उसमें क्षण-क्षण परिवर्तन होता रहता है। पर पदार्थ की दृष्टि से वह शाश्वत है। क्योकि जो पदार्थ परिवर्तनशील होते हैं, वे समूल नष्ट नही हो जाते। पदार्थ का यदि समूल नाश हो जाए तो पदार्थ नाम का कोई तत्त्व ही नही रह जाता। पर चूंकि उसकी पर्यायें ही बदलती हैं, वह स्वयं स्थिर रहता है। अत उसका अस्तित्व रहता है। सापेक्ष दृष्टि से उसमें परिवर्तन भी होता है और स्थैर्य भी रहता है। उस परिवर्तन को ही यदि उत्पाद और विनाश मान लिया जाता है तो हमें कोई बाधा नही।

हाँ, तो यदि सृष्टि अनादि है तो क्या महाप्रलय नही होता? इसका समाधान है कि—वैसे तो प्रति क्षण सृष्टि में प्रलय हो ही रहा है। पहले क्षण जो है, वह दूसरे क्षण नही रहता। उसकी सारी पर्यायें बदल जाती हैं। इस दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ प्रति क्षण मरता ही रहता है, और जो मर जाता है, उसके लिए तो संसार में प्रलय ही हो गया। उससे भी बढ़ एक प्रलय होता है—बाढ, भूकम्प आदि और आज तो बम भी एक प्रलय का रूप ही बन गया है। हिरोशिमा और नागासाकी मे जो बम फूटे थे, वे क्या किसी प्रलय से कम थे? इस प्रलय का मनुष्य ने अपने हाथो निर्माण किया है। भूकम्प भी कभी-कभी इतने बडे होते हैं कि जल के स्थान पर स्थल हो जाता है और स्थल के स्थान पर जल हो जाता है। यहाँ राजस्थान में पहले कहते है—समुद्र था। पर अब तो

बालू के टीले ही टीले नजर आते है और सबसे बडा प्रलय तो छठे आरे के आदि में होगा। अभी पाँचवाँ आरा चल रहा है। इसका काल-मान २१ हजार वर्ष है। इसके बाद एक महाप्रलय होगा, पर वह स्वाभाविक पुद्गलों का परिणमन है। उसका करने वाला कोई नही होता। कई लोग कहते है प्रलय करनेवाला ईश्वर है, पर हम ईश्वर के माथे पाप मढना नही चाहते। जब एक मनुष्य को मारना ही पाप है तो सारी सृष्टि के प्रलय का पाप तो जाने कितना भारी हो जाता होगा। जैन-दृष्टि से वह प्रलय प्राकृतिक है। एक निश्चित अवधि पर पुद्गलो की तद्नुरूप परिणति हो जाना असम्भव भी नही है।

वह प्रलय भी सारी सृष्टि में नही होगा। विश्व के एक सीमित क्षेत्र में ही होगा। उसमें भी सारे प्राणियो का नाश नही हो जाता। बीज रूप में वहाँ भी प्राणी गिरि-कन्दराओ में लुक-छिप कर अपने प्राणो की रक्षा करेगे। एक निश्चित काल के बाद फिर सृष्टि का विकास शुरू होगा। धीरे-धीरे पृथ्वी मे उर्वरत्व आने लगेगा। सूर्य और दूसरे प्राकृतिक साधन भी जीवन के अनुकूल स्थिति पैदा करने लगेंगे। तब फिर एक महापुरुष पैदा होगा। मानवो मे जो प्रकृति से ही अतिक्रूर हो जाते है, पुन· मानवता का आरोपण करेंगे। सामाजिक और धार्मिक जीवन पुन· प्रतिष्ठित होगा। इस प्रकार प्राकृतिक, धार्मिक और सामाजिक जीवन के पुनरुत्थान से सभ्यता का अरुणोदय होगा और सृष्टि वर्तमान रूप में स्थिर हो जाएगी। जैन-दृष्टि के अनुसार कालक्रम के प्रभाव से विकास और ह्रास हमेशा से चलता आया है। अभी भी चलता है और आगे भी चलता रहेगा यही सृष्टि का स्वरूप है।

६४ : जैन-धर्म और साधना

जीवन विकास में ज्ञान का स्थान कम नही है, पर बिना आचार का ज्ञान इतना महत्त्व नही रखता। साधना कोई नयी चीज नही है। जितने तीर्थंकर हुए है उन्होने इसका विशद् विवेचन किया है। अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने भी इस विषय पर बहुत कुछ कहा है। पर उनका शासन-काल वक्र-जडता का काल था। वक्र-जड यानी तर्कबाजी। जिनकी बात में सार कम और निस्सार ज्यादा, तर्क ज्यादा। दुकानदार के पास जाकर कोई भावताव पूछे यह बुरा नही है, पर कोई मनुष्य बात तो पूछे ज्यादा और खरीदे बिल्कुल नहीं, उससे उसके मन मे भी झुंझलाहट सी आ जाती है। इसी प्रकार जो कोई तर्क के लिए तर्क करे, आचरण कम

करे, उसे वक्र-जड़ कहा जाता है। इसीलिए इस जमाने की साधना को कठिन साधना कही गई है। पहले तो साधना ही कठिन है। कोई दूसरा साधुत्व ले भी लेता है तो उसका पालन कठिन है, और पालन भी करता है तो उसे ठेट तक पहुँचाना और भी कठिन है, पर साधना आखिर साधना ही है। उसके लिए मर्यादा अत्यन्त अपेक्षित है। बिना मर्यादा का साधक जीवन निभना मुश्किल है। जहाँ मर्यादा होती है, वहाँ सघ तो स्वय ही बन जाता है, पर सघ का स्थिरत्व उसी अवस्था में रह सकता है जबकि मर्यादाएँ सुव्यवस्थित हो। इस दृष्टि से भगवान् महावीर ने बहुत बडा काम किया है। उनके सामयिक धर्म-सघो मे जितना स्थिरत्व भगवान् महावीर का रह सका है उतना किसी का नही रह सका। बौद्ध-सघ मे तो बुद्ध के निर्वाण के बाद ही अव्यवस्था हो गयी थी। इसका कारण भी यही था कि पहले तो उन्होने इस ओर ध्यान दिया नही। फिर पानी आ जाने के बाद पाल कैसे लगायी जा सकती है?

साधना के मौलिक नियम है वे तो है ही, पर भगवान् महावीर ने साधना के व्यवहार पक्ष को भी कम महत्त्व नही दिया। इसीलिये उन्होने यह व्यवस्था दी कि साधुओ और साध्वियो को अलग-अलग स्थान में रहना चाहिए। ब्रह्मचर्य की नववाड़ का विधान भी इसी दृष्टिकोण का फल है। यद्यपि स्त्री का स्पर्श हो जाने मात्र से, अकेली स्त्री से बात करने मात्र से ब्रह्मचर्य खण्डित हो जाये, ऐसी बात नही है, पर फिर भी साधना की सुरक्षा की दृष्टि से और व्यवहार की शुद्धि की दृष्टि से उन्होने यह विधान कर दिया कि साधुओ को स्त्री का स्पर्श नही करना चाहिए तथा अकेली स्त्री से बात नही करनी चाहिए। यही नही उन्होने साधु-साध्वी के लिए यहाँ तक नियम बना दिया है कि उन्हे ऐसे गाँव में नही रहना चाहिए जहाँ साधु और साध्वियो के जगल जाने का एक ही मार्ग हो। क्योंकि एक मार्ग होने से शरीर बाधा से निवृत्त होने के लिए एक ही स्थान पर जाना पडेगा। अत ब्रह्मचर्य की साधना के लिए उन्होने ऐसा नियम बना दिया। साधना को अक्षुण्ण रखने के लिए उन्होने यह भी कहा कि—साधु को अकेला विहार नही करना चाहिए। साध्वियो को ३ से कम विहार नही करना चाहिए। शरीर चिन्ता के लिए किसी साधु को रात मे बाहर जाना पडे तो अकेला नही जा सकता। साध्वियाँ दो से कम नही जा सकती। यही कारण है कि आज २५० वर्ष हो जाने के बाद भी जैन-शासन मे ये बुराइयाँ पनप नही पायी। गौतम बुद्ध ने पहले तो स्त्रियो को प्रव्रजित नही किया। और प्रव्रजित किया तब इतनी सुन्दर व्यवस्था नही रह पायी। जिससे उनके सघ में अनेक बुराइयो ने हमला कर दिया और

भिक्षुओं की साधना सुरक्षित नही रह पायी। भगवान् महावीर ने साधुओं और साध्वियो को समान महत्त्व दिया। उनकी दृष्टि में साधुओ की तरह साध्वियो को भी उपदेश और आत्म-शुद्धि करने का अधिकार था, पर नियन्त्रण उन्होने शुरू से ही रखा। साधुओ और साध्वियो का उतना ही सम्पर्क जितना उचित और आवश्यक समझा रखा और बाकी का निषेध कर दिया।

यद्यपि केवल मर्यादाए ही कोई त्राण नही है। उनके पीछे भावना रहनी जरूरी है, पर केवल भावना से व्यक्ति चल सकता है, सघ नही चल सकता। भावना नही होने के कारण मर्यादाए चाहे कितनी ही हो, फिर भी कभी-कभी गलती हो सकती है। अत भावना तो रहनी ही चाहिए, पर मर्यादा से भावना को वेग मिलता है।

इस प्रकार कुछ मर्यादाएं तो मौलिक होती है, पर कुछ मर्यादाएँ साम्प्रदायिक होती है। साम्प्रदायिक मर्यादा का मतलब है—सम्प्रदाय विशेष की मर्यादा। इस दृष्टि से भिक्षु स्वामी ने तेरापथ की अनेक विशेष मर्यादाएँ बाँधी है। भगवान् महावीर के बाद शायद ही कोई ऐसा आचार्य हुआ हो जिसने सघ-संगठन को इतना मजबूत किया हो। पिछले आचार्यो ने मर्यादाओ का सकलन किया है पर अपनी तरफ से नयी मर्यादाएँ बनाने वाले बहुत कम आचार्य हुए है। इस दृष्टि से स्वामीजी ने निश्चय ही एक बहुत वडा काम किया है। भगवान् ने यह कहा कि—साधु-साध्वियो को उस गाँव में इकट्ठा नही रहना चाहिए जहाँ जगल जाने का एक ही मार्ग हो, उन्होने यह नही कहा कि जहाँ अलग-अलग दरवाजे हो वहाँ साधु और साध्वी को इकट्ठा नही रहना चाहिए, पर स्वामी जी इससे भी आगे वढे। उन्होने कहा कि—साधुओ को उस गाँव में नही रहना चाहिए जहाँ पहले से साध्वियाँ ठहरी हुई हो और न साध्वियो को वहाँ रहना चाहिये जहाँ साधु पहले से ठहरे हुए हो। अगर रास्ते चलते कभी वहाँ ठहरने का मौका भी पड़ जाये तो एक रात से अधिक नही ठहरना चाहिए। गुरु तथा वडो की आज्ञा से यदि अधिक दिन रहने का मौका पड़ जाए तो भिक्षा के घरो का अलग-अलग वँटवारा कर लेना चाहिए। हाँ, पहले दिन जव वे आवे तो उनकी भक्ति करनी चाहिए। उन्हे गोचरी में नही जाने देना चाहिये। भिक्षा मे जो भी पदार्थ आये उसमें से अच्छा उन्हें देना चाहिये, पर इसके वाद सिवाय पक्खी के साध्वियो का साधुओ के स्थान पर और साधुओ का साध्वियो के स्थान पर आवागमन नही रहना चाहिए। यदि कारणवश कोई साध्वी आ भी जाए तो उसे अपने स्थान पर खडे रहने देना, वैठी रहने देना, चर्चा-वार्ता आदि नही करनी चाहिए। साध्वियो

को कोई भी चीज लेनी देनी नही। इसमे गुरु-आज्ञा का अपवाद तो है ही। पर बिना विशेष आज्ञा के सघ के सभी सदस्यो पर यह मर्यादा लागू होती है।

जहाँ आचार्य रहे वहाँ उनसे आज्ञा लेकर साधु केवल अपने पूर्व सम्बन्धी साध्वियों को सेवा करा सकते है, पर विना ज्ञातियो के किसी को किसी की सेवा करने और कराने का अधिकार नही है। यदि किसी कारणवश किसी से वात करनी भी पडे तो दूसरे दिन 'गत दिवस वार्ता' सुनाने के समय सारी बात आचार्य को निवेदन करनी चाहिए। एक बार जयाचार्य के पास एक साधु ने कहा—साध्वियो के पास जो बात हुई उसे पूर्णत याद कैसे रखा जा सकता है? जयाचार्य ने कहा, मर्यादा आखिर मर्यादा है। उसका पालन तो करना ही पड़ेगा। यदि किसी को याद नही रहता है तो उसे पन्ना और पेन्सिल अपने साथ ले जानी चाहिये। जो वातचीत, हो, उसी समय उसे लिख ली जाय ताकि दूसरे दिन वह आचार्य को निवेदन की जा सके।

ये सव मर्यादाएँ करने का उनका एकमात्र लक्ष्य था, जैसा कि उन्होने स्वय लिखा है—'सुखे सावुपन पालवानों उपाय किधो छै'—साधुपन किस प्रकार सुखपूर्वक पाला जा सके। यद्यपि अनेक साधु ऐसे हो सकते हैं कि जिनके सामने देवागनाएँ भी शृंगार करके आ जाएँ तो विचलित नही होते, पर तो भी उनके लिए भी यह वियान है कि उन्हें एकान्त में स्त्री के साथ नही रहना चाहिए। स्वामीजी ने नववाड की चौपाई में कहा है:

देवागना को देखकर, उसे चित्रवत् मानकर जो विचलित नही होता, उसे भी स्त्री के साथ एकान्त नही रहना चाहिए। और **'हत्थ पाय पडिच्छिन्नं कन्ननास विगप्पियं। अविवास सयं नारी बंभयारी विवज्जए'** नाक, कान, हाथ, पैर कटी हुई १०० वर्ष की बूढी स्त्री के पास भी ब्रह्मचारी को अकेला नही रहना चाहिए। क्योकि—**'बलवान् इन्द्रियग्रामो'**—इन्द्रिय समूह बलवान है। अग्नि के पास पडा हुआ मक्खन का पिघलने से बचना कम सम्भव है। अत ब्रह्मचारी को स्त्री-प्रसग से वचने पर अध्यात्म-अनुभूति प्राप्त सन्तों ने जोर दिया है।

सझ सिणगार देवांगना आई चलावन तिण आगे चलियो
नही तोही रहिणो एकान्तवासी हो ब्रह्मचारी

इसका यह मतलब नही कि साधुओ पर अविश्वास है। पर यह एक व्यवस्था है। वह चाहे छोटी भी क्यो न हो पर उसका पालन होना आवश्यक है। आज कोई छोटी व्यवस्था—मर्यादा की परवाह नहीं कर भग कर देगा तो कल वह बडी मर्यादा की भी क्या परवाह करेगा? अत:

मर्यादा के क्षेत्र मे छोटी और बड़ी का विभेद नही होता। मर्यादा के प्रति लापरवाही का मतलब है उनके निर्माता पर अविश्वास। यदि उनपर अविश्वास हो गया तब तो फिर सब कुछ साफ है। वहाँ क्या साधना होगी और क्या सयम होगा?

साधु को अगर वह आचार्य के पास हो तो प्रतिदिन गत दिवस वार्ता सुनानी चाहिए—यह स्वामीजी ने कहा था। गत दिवस वार्ता यानी कल उसने क्या-क्या किया था उसका आचार्य को निवेदन। प्रमुखतया इसमे यह रहता है—**कालोकाल स्वाध्याय की, आवस्सही, निस्सही, चउविसत्थव,** यथासमय किया, बड़े साधुओ को यथासमय वन्दना की, लिखत मे मिति की तथा गोचरी में पानी की धार बँधी। दीखने में तो ये बाते छोटी-छोटी लगती हैं पर इनका महत्त्व कम नही है। आगमो में कहा गया है—**'अंगाणं किं सारो? आयारो।'** अगो का सार क्या है? आचार ही अंगो का सार है। उसी प्रकार हमारे लिए स्वामीजी की मर्यादा सार है। इसीलिए प्रत्येक 'हाजरी' में और प्रतिदिन लेखपत्र मे हम इसका स्मरण और प्रत्याख्यान करते है। यह त्याग केवल प्रथा रूप से नही होना चाहिए। प्रथा रूप से होनेवाला त्याग केवल प्रदर्शन है। प्रदर्शन मे आत्मा नही होती। हमें आत्मश्रद्धा से त्याग करना चाहिए।

श्रावको का भी यह कर्तव्य है कि वे साधुओ की दिनचर्या और आचार-व्यवहार से परिचित रहे। इसका मतलब यह नही कि वे छिद्रान्वेषी बनें। पर सहज रूप से आचार-व्यवहार में यदि किसी की गलती ध्यान में आ जाए तो उसे नागवार करना भी उचित नही है। इसके लिए श्रावको को साधुओ के आचार से परिचित रहना भी आवश्यक है। इसीलिए प्रकट में श्रावको को सारी आचार-विधि बतायी जाती है।

९५ : आत्मशुद्धि का साधन

यह बात सही है कि कोई मनुष्य किसी को उन्नत नही बना सकता। और हमारी तो यह निश्चित मान्यता है कि स्वय ईश्वर भी किसी को उन्नत नही बना सकता। यह कहकर मै ईश्वर की अवज्ञा नही कर रहा हूँ, पर वस्तु-स्थिति ही ऐसी है कि मुझे यह बताना ही पडेगा। यदि ईश्वर ही किसी को उन्नत या सुखी बना सकता है तो ससार मे सुखी और दुःखी दोनो क्यों? उसे तो सब को सुखी ही सुखी बनाना चाहिए था। पर संसार में अनेक दु.खी भी है। और फिर ईश्वर तो समदर्शी है। वह किसी को सुखी या दुःखी बनाएगा ही क्यों? अत. स्पष्ट है कि अपने भाग्य

का निर्माता मनुष्य स्वयं ही है। हम जो ईश्वर से प्रार्थना करते हैं उसका उद्देश्य भी यही होना चाहिए कि हम उनसे प्रेरणा पाएँ। उनके बताए मुक्ति पथ का स्मरण करें। ईश स्तुति का यदि हमने यह सही अर्थ समझा और आचरण किया तो निश्चय ही हम अपने कर्तृत्व को दुनिया के समक्ष प्रस्तुत कर सकेंगे। इसी प्रकार प्रवचनकार भी किसी को उन्नत कर सकें यह सम्भव नही है। वे तो केवल प्रेरणा ही दे सकते हैं। उन्नत तो मनुष्य स्वय अपने आप होता है। हाँ, यह सही है कि प्रेरणा देनेवाला पहले स्वयं सुधरा हुआ हो, नही तो फिर उसके उपदेश से प्रेरणा मिले यह कम सम्भव है।

आज वहुत से लोग कहते हैं कि हम ससार की सेवा करना चाहते हैं। यह सही है या नही—यह तो मैं नही कह सकता, पर जवतक अपने जीवन को वैसा नही बनाया जायगा तब तक यह कहना भी ढोंग है। सुधारक होना वहुत छोटी वात नही पर वास्तव में सुधरा हुआ होना और वहुत वडी वात है। इसीलिए भारतवर्ष में यह माना गया है कि उपदेश देने का अधिकार उन्हे ही हैं जो पारदर्शी-सर्वज्ञ (Omniscient) है। हम भी जो उपदेश देते है वह पारदर्शियो द्वारा वताये गए तत्त्वो के आधार पर ही दे सकते हैं। अन्यथा हमें भी उपदेश देने का कोई अधिकार नही है।

अणुव्रत धर्म का आन्दोलन है या नही? यह प्रश्न अनेक वार आया करता है। मैं इसका उत्तर दिया करता हूँ यह धर्म का आन्दोलन है भी और नही भी। एक धर्माचार्य के मुंह से ऐसी बात सुन कर शायद आप चौकेंगे, पर मेरा तो सिद्धान्त ही स्याद्वाद जो ठहरा। अत इस प्रश्न को भी मुझे इस दृष्टिकोण से देखना पडेगा—एक अणुव्रती यदि अहिंसक बनता है, झूठ वोलना छोडता है, अपरिग्रही बनता है—यह धर्म नही तो और क्या है? दूसरी दृष्टि से यह जैन, बौद्ध, वैदिक और ईसाई आदि किसी एक का आन्दोलन नही है। अत यह धर्म का आन्दोलन भी नही है। इस दृष्टि से वह एक नीति का आन्दोलन है—सदाचार का आन्दोलन है, पर आज स्थिति दूसरी है। धर्म का नाम आते ही लोग नाक-भौंह सिकोडने लग जाते हैं। खेद का विषय है कि जो धर्म अमृत वनकर आया था उसे आज लोगो ने विष वना दिया है। जो धर्म मनुष्य की आत्मोन्नति का साधन वन कर आया था उसे आज आत्म-पतन का रास्ता बना दिया गया है। इसीलिए धर्म का नाम आते ही वुद्धिवादियो के विचार हिल उठते हैं। उसके कुछ कारण भी हुए हैं। किसी को कोई भी काम कराना हुआ वह सीधे तो होना सम्भव नही था। अत. हर काम को धर्म का जामा पहना दिया गया। धर्म के नाम पर खून की नदियाँ वही। धर्म के

नाम पर देश का विभाजन हुआ। सती प्रथा जैसी कुप्रथाएँ भी धर्म के नाम पर प्रचलित की गयी। आज भी धर्म के नाम पर अनेक काम करवाए जाते है। यह धर्म को ठीक प्रकार से नही समझने का ही परिणाम है। बहुत से लोग आज भी यह समझते है—गुरु का चरणामृत पीने मात्र से ही उनका कल्याण हो जाएगा, पर वास्तव में यह धर्म नही। कल्याण तो तब होने वाला है जब धर्म गुरुओ के द्वारा बताए गए मार्ग का अनुसरण किया जाएगा। उन्होने जो पथ अपनाया है, उसे अपना पथ बनाया जाएगा।

धर्म के साथ यह बहुत बडा अन्याय हुआ है कि उसे सब प्रकार के अनिवार्य कार्यों मे घसीट लिया गया। जिस कार्य को करने से अपना काम चले उसे ही धर्म मान लिया गया। यह धर्म के साथ अच्छा व्यवहार नही हुआ। जो धर्म आत्म-शुद्धि का साधन था उसे जीवन चलाने का साधन मान लिया। व्यापक अर्थ मे वह कर्तव्य जो संसार के लिए आवश्यक होता है उसे भी धर्म मान लिया जाता है, पर उस दृष्टि से फिर हिंसा भी धर्म हो जाएगी। देश पर आक्रमण होने पर प्रतिरक्षा के रूप युद्ध में होने वाली हिंसा भी धर्म हो जाएगी। कौरवो और पाण्डवो का युद्ध 'धर्म-युद्ध' कहलाया था, वह इसका ही परिणाम था। व्यापक परिभाषा में यह चलता है, पर वास्तव मे तो आत्म-शुद्धि का साधन ही धर्म है। जहाँ तलवार चले वहाँ धर्म होना मान लेना धर्म के वास्तविक अर्थ को नही समझने का सूचक है।

इसी प्रकार अनेको की रक्षा में थोडो की हिंसा को भी कई लोग क्षम्य मान लेते है। हिंसा आखिर हिंसा है। थोडी भी हिंसा अहिंसा नही हो सकती। अहिंसा का दृष्टिकोण है कि एक की भी हिंसा नही हो। इसीलिये तो साधु थोडी सी भी हिंसा मे अपना आत्मोत्सर्ग कर देते है, पर हिंसा नही कर सकते। राजनीति में यह चलता है, पर मुश्किल तो यह है कि लोग एक लाठी से सबको हाँकना शुरू कर देते हैं। यहाँ तक कि कई जैनाचार्यों ने भी यह कह दिया है कि "चुण्णिज चक्कवही सेणा मवि संघ कज्जम्मि"—संघ की रक्षा के लिए भले चक्रवर्ती की सेना को नष्ट कर दो, वह हिंसा नही है। यह उस युग की वाणी है जबकि धर्म सम्प्रदायो मे आपसी सघर्ष चलते थे। अपने सम्प्रदाय और जाति की रक्षा के लिए ऐसा कह दिया गया था, पर यह अहिंसा की वाणी नही है। वास्तव मे तो वह धर्म की रक्षा है ही कहाँ? हिंसा के द्वारा की जानेवाली रक्षा में अधर्म तो पहले ही हो चुका। अत उसे धर्म माना ही कैसे जाये? गाँधी जी ने भी यह कहा था—'अहिंसा से भले १०० वर्षो वाद स्वराज्य

मिले वह मजूर है। पर हिंसा से यदि आज भी स्वराज्य मिलता है तो मुझे वह नही चाहिये, क्योकि साध्य-शुद्धि में वे साधन-शुद्धि को भी उतना ही महत्त्व देते थे। इसी प्रकार निर्बल की रक्षा के लिए सबल को मार देना भी धर्म नही है।

अत· आज प्रत्येक बुद्धिवादी को यह सोचना है कि वह धर्म को बुरा नही बताए। तथाकथित धर्मात्माओ ने जिन्होने अपने स्वार्थ से धर्म को बदनाम किया, जरूर इसके कारण बने है। यह अपने स्वार्थ का ही परिणाम है कि कुछ लोगो ने धर्म को भी जाति-विशेष मे बाँध दिया। अमुक जाति को ही धर्म का अधिकार है, यह कहकर उन्होने निश्चय ही धर्म का गला घोंटा है। धर्म एक जाति मे क्या समूची मानव जाति मे भी नही बँधता। वह प्राणिमात्र के लिए है। क्योकि धर्म कही दूसरी जगह नही रहता। अपनी आत्मा में ही रहता है। अत किसी को भी उससे वचित नही किया जा सकता। बन्धुओ! मैं आपसे क्या कहूँ—मुझे तभी अत्यधिक प्रसन्नता होगी जब धर्म में जाति-पाति के भेद-भाव को बिल्कुल मिटा दिया जाएगा। जब कोई भी मनुष्य प्रत्येक स्थान को अपना घर मान कर धर्म करने मे स्वतन्त्र होगा। अणुव्रत ससार मे यही काम करना चाहता है। उसने कुछ काम किया है, बहुत कुछ करना बाकी है। अत आज के दिन में आपलोगो से यह कहना चाहूँगा कि आप उसकी भावना को समझें और अपने जीवन में उतार कर आन्दोलन को उत्तरोत्तर सफल बनाने की कोशिश करें।

अणुव्रत-प्रेरणा दिवस, '५७

६६ : शान्ति का निर्दिष्ट मार्ग

आज की दुनिया मे शान्ति कौन नही चाहता? आज प्रश्न तो यह है कि शान्ति के माने क्या? शास्त्रो में इस प्रश्न के उत्तर में कहा है—**"संति निरोह माहु"**—निरोध ही शान्ति है। जब तक वृत्तियाँ खुली रहेंगी तब तक शान्ति का निर्बाध पथ पाना भी असम्भव है। अत. कोई शान्ति चाहेगा तो उसे निवृत्ति का पथ अपनाना पडेगा पर अगर कोई पूर्ण निवृत्ति नही कर सके तो क्या करना चाहिए। उसके लिए शास्त्रो मे कहा गया है—**'सुद्धेण उवेइ मोक्ख'** शुद्ध क्रिया के द्वारा मोक्ष—शान्ति पायी जा सकती है। शुद्ध क्रिया करने का अर्थ है—अशुद्ध से निवृत्ति। उसका

निवृत्यंश तो शान्ति का साधन है, और शुद्धत्व भी शान्ति का साधन है। यथशक्ति अगर कोई अशुद्ध क्रिया से पूर्ण निवृत्त नही हो सकता तो कम से कम अशुद्ध प्रकृत्ति का त्याग करे। उसके त्याग के बाद शुद्ध स्वयं शेष रह जायेगा। वह भी शान्ति का ही सन्देशवाही है।

बहुत से लोग कह देते है कि जैन तो केवल निवृत्ति-त्याग मे ही विश्वास करता है। उनमें निषेध ही निषेध है, विधेय कुछ भी नही। अणुव्रतों के बारे मे भी कुछ लोगो का कहना है कि उसके नियम निषेधपरक अधिक है, विधेयक कम। यह सच है कि जीवन का विरोध पक्ष निर्बाध है। पर उसका विधेय पक्ष भी बन सकता है। इसीलिए कहा गया है—यदि तुम प्रवृत्ति भी करो तो शुद्ध करो। उसमें तुम्हे शान्ति—शाश्वत शान्ति प्राप्त होगी। अत आर्षवाणी के आधार पर मै आपसे कह सकता हूँ कि आप अपनी वृत्तियो का निरोध करे और यह यदि सम्भव नही है तो ज्यादा से ज्यादा सत्-प्रवृत्ति करें, यही अणुव्रत का सही मार्ग है।

इसी भावना को हम हिंसा और अहिंसा शब्द में समझ सकते है। अहिंसा यानी निवृत्ति तथा शुद्ध प्रवृत्ति। हिंसा यानी—अशुद्ध प्रवृत्ति। प्रश्न हो सकता है कि व्यापक हिंसा है या अहिंसा? कुछ लोग हिंसा को व्यापक मानते है। मेरी दृष्टि में अहिंसा व्यापक है। क्योकि यदि आप हिंसा करेंगे तो सम्भवत अपने शत्रुओ की करेगे। या कही आवश्यकतावश करेंगे। ज्यादा हुआ तो कुतूहल या, प्रमादवश किसी की हिंसा कर लेंगे। पर दिन के २४ घन्टो में से वह तो केवल सीमित काल के लिए हुई। कोई भी मनुष्य क्रिया रूप से प्रतिक्षण हिंसा नही कर सकता। अहिंसक—यदि वह चाहे तो प्रतिक्षण बन सकता है। तब व्यापक हिंसा हुई या अहिंसा? इस दृष्टि से अहिंसा के नियम बता दिये जायें तो हिंसा तो अपने आप निरुद्ध हो जायेगी।

निषेध तत्त्व व्यापक होते हुए भी वह थोडे समय में बताया जा सकता है। विधायक तत्व उस अपेक्षा कम व्यापक होते हुए भी थोडे में नही बताया जा सकता। इसलिये अणुव्रतो में निषेध को अधिक स्थान दिया गया है। वैसे निषेध और विधेय के दोनो रास्ते मैंने आपके सामने रख दिये है, आप अपनी शक्ति के अनुसार अपना निर्माण कर सकते है।

जबतक मनुष्य अणुव्रत-आदर्श को नही अपनाएगा, तब तक न तो उसका जीवन शुद्ध बनेगा और न उसकी दिशा। आज मनुष्य अतिशय क्रूर बन गया है। जो लोग रक्षक थे वे भी आज भक्षक बन गये है। एक जंगल में एक बार कुछ पशुओ ने सोचा—हम नाताकत है। अतः

कोई भी मार डालता है, पर अब हमें कोई ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे कोई भी जानवर हमारी तरफ आँख उठाकर भी देख न सके। यह सोच उन्होने अपनी सुरक्षा के लिए पितृहीन एक शेर के बच्चे को पाल लिया। इससे जानवर उससे डरने लगे, और उनके पास नही आते। इस प्रकार एक प्रकार से वे सारे अभय हो गये। थोडे दिन तक यह क्रम रहा। शेर का बच्चा भी अब धीरे-धीरे बडा होने लगा, पर अकस्मात् उस शेर ने—एक शेर को दूसरे जानवरो को मारते देखकर उसके भी सुप्त हिंसा-वृत्ति जाग्रत हो उठी। उसने भी अपना पजा उठाया और पास खडे एक पशु को एक पजा दे मारा। वह उसी क्षण धराशायी हो गया। शेर के बच्चे को भी अपनी शक्ति का भान हुआ और साथ ही साथ मास का स्वाद उसे अच्छा लगा। अब वह प्रतिदिन अपने गिरोह के जानवरो को मारने खाने लगा। जो रक्षक था, वही भक्षक बन गया। अब आप ही सोचिए—उन पशुओ की क्या स्थिति हुई होगी? क्या वैसी ही स्थिति आज के संसार की नही हो रही है? वे ही लोग जिन्हे रक्षा के लिए रखा गया है, दूसरो का विनाश करते नही सकुचाते। वे ही वैज्ञानिक साधन, जिनका निर्माण सुरक्षा के लिए हुआ था, आज मनुष्य के ध्वस के साधन बन गए है।

मनुष्य के हाथ मे सब कुछ है। वह चाहे तो अपने प्राप्त साधनो का दुरुपयोग कर सकता है और चाहे तो सदुपयोग कर सकता है, पर आज उसका अधिकतर दुरुपयोग ही हो रहा है। आवश्यकता है—उस दुरुपयोग को सुधारा जाए, पर यह भी तो एक बहुत बड़ी समस्या है कि जो सुधारने वाले हैं, वे स्वय जो बिगड गए है। अत. आज सुधार का काम किसी व्यक्ति विशेष पर नही रहा है। वह तो सबका है। यह सोचकर ही हमने अणुव्रत-आन्दोलन की शुरुआत की थी, पर इस ओर लोगो का ध्यान कम जाता है।

ध्वंस की ओर मनुष्य की सहज गति है। आज भी अनेक लोग हिन्दी-आन्दोलन के सम्बन्ध में जेलों में जाते हैं। वहाँ कोई लड्डू थोडे ही मिलते हैं, पर फिर भी ध्वस में लोगो का आकर्षण है। विद्यार्थी भी तोड-फोड के कामो में आगे रहते हैं। उनको यदि चरित्र-निर्माण की बात कही जायेगी तो झट पीछे हट जाएगे। ध्वस सहज है, निर्माण कठिन है। घडा फोडना सहज है, पर बनाना मुश्किल है।

अनेक लोगो से यह पूछा जाता है—आजकल क्या करते हो? तो उत्तर मिलता है—व्यापार करते हैं। आज़कल व्यापार करना तो जान को जोखिम में डालना है। कर की कारा और ब्लैक की कालिमा से बचना

तो आज असभव-सा हो गया है। मुझे उनकी दु ख भरी कहानी सुनते-सुनते हँसी आ जाती है। रोटी-कपडे के लिए मनुष्य जब इतने कष्ट सह सकता है, तो जीवन विकास की ओर उसका ध्यान क्यो नही जाता? जीवन-विकास में आने वाले कष्टो से वह क्यो घबडा जाता है?

ब्लैक का पैसा भी आज लोगो के लिए 'बुढिया के घर में शेर कैसे समाये' वाली कहावत सिद्ध हो रही है। सचमुच पाप का पैसा हजम नही हो सकता। हम इस बात को लोगो को रोज समझाते थे, पर हमारी बात को अमल मे नहीं लाए। उसी का यह परिणाम है कि आज डण्डे के बल पर वे बातें माननी पड रही हैं। खैर, जो हुआ सो तो हुआ, अब भी समय है, मनुष्य चेते। जब मनुष्य पैसे के लिए तिल-तिल कर मरने को तैयार हो जाता है तो अणुव्रत के इस राजपथ पर चलने में उसे झझट क्यो लगता है?

आप सच मानिए, अपनी छलना स्वय के लिए घातक होती है। राजा जी की वह कहानी मुझे याद आ जाती है। एक बार राजा ने अपने कारीगर को जो कि उसके यहाँ काम करता करता बूढा हो चला था, एक भव्य प्रासाद बनाने का आदेश दिया। उसके लिये पर्याप्त साधन भी जुटा दिए। कारीगर ने तुरन्त काम शुरू कर दिया। मन में पाप आ-गया। उसने बेईमानी की। प्रासाद को बाहर से अति सुन्दर बना दिया, अन्दर में घटिया माल लगा दिया। आधे रुपयो का गबन कर गया। कारीगर ने प्रासाद मे राजा को पधारने व उसका उद्घाटन करने के लिए कहा। राजा ने देखा—महल बहुत सुन्दर बना है। उसने सभा मण्डप में बोलते हुए कहा—कारीगर ने महल बहुत ही सुन्दर बनाया है। मैं पूर्णतया खुश हूँ और यह महल मैं इसे ही इनाम स्वरूप देता हूँ। वह तो मन में छटपटाने लगा। उसने सोचा—मैंने राजा के साथ छलना की थी, पर वह तो मेरे साथ ही हो गयी। यह सुन्दर प्रासाद कुछ ही वर्षों में ढह जाएगा। इसी प्रकार अनेक परिस्थितियो में मनुष्य अपने आप छला जाता है। अत अणुव्रत आपको यह बताता है कि आप कम से कम अपने साथ तो धोखा न करें।

बहुत-से लोग अणुव्रत के प्रशसक हैं, पर मुझे यह जानकर खेद होता है कि उनमें से ऐसे भी अनेक लोग हैं, जिनको यह पता नही कि अणुव्रत के नियम कितने है? ऐसा लगता है—मानो लोगो का साहित्य से सम्पर्क रहता ही नही। इन छोटी-छोटी बातो के लिए उन्हे बार-बार कहा जाए, क्या यह उचित होगा? एक बार बम्बई में भूदान की कार्यकर्त्री बहन विमला ठक्कर से मेरे सामने किसी भाई ने भूदान के बारे मे प्रश्न पूछ

लिया। वहन ने तडक कर कहा—क्या आपने भूदान साहित्य भी नहीं पढा है? उसने उस प्रश्न का जवाब नही दिया। अत सबसे पहले अणुव्रतों के समर्थको का यह कर्तव्य है कि वे उसके साहित्य को पढे। बहुत सी बातें स्वय ही समझ में आ जाएँगी। फिर अपने को भलीभाँति तोलकर नियम को ग्रहण करें, इसमें ही सार्थकता है।

सुजानगढ़,
पर्युषण पर्व, '५७

६७ : अहिंसा दिवस का उद्देश्य

आज अहिंसा दिवस का कार्यक्रम है, पर इसका उद्देश्य इतना ही नही है कि सिर्फ हम एक दिन या कुछ घण्टो के लिए यहाँ इकट्ठे हो जाएँ और बातें कर लें। वस्तुत इसका अर्थ यह है कि हम अहिंसा की भावना को व्यापक बनाएँ। यहाँ इकट्ठा होना तो इसका एक रास्ता मात्र है। आज जैसे यहाँ अनेक लोग प्रेरणा पाने के लिए एकत्र हुए है वैसे ही अनेक जगह सहस्रो नर-नारी इसी सादगी के साथ अहिंसा की प्रेरणा पाएँगे, इस माध्यम से लोग एक दिन के लिए अहिंसा का अवलबन करेगे, पर वास्तव मे यदि उन्होने सही रूप मे अहिंसा का रसास्वादन किया तो यह कार्यक्रम स्वय आगे बढ जाएगा। वे जीवन के प्रत्येक क्षण में अहिंसक बनने का प्रयास करेगे। यही आज के अहिंसा दिवस का उद्देश्य है।

अणुव्रत-आन्दोलन के अन्तर्गत यह कार्यक्रम प्रतिवर्ष देश भर में मनाया जाता है। अणुव्रत का लक्ष्य है जन-जन में सदाचार की ज्योति जलाना। इसी के लिए कि सदाचारपूर्ण—अहिंसक जीवन कितना सुखदायी होता है लोग इसका एक दिन के लिए प्रयोग करे और यदि यह सही है तो फिर जीवन में उससे पाएँ।

अहिंसा शब्द सबके लिए समान रूप से प्यारा है। अहिंसको के लिए वह प्यारा हो इसमें तो कोई बडी बात है ही नही, पर हिंसको के लिए भी यह समान रूप से प्यारा है क्योकि हिंसक भी यह नही चाहेगा कि उसके लिए हिंसक शब्द का व्यवहार किया जाए। दिन मे पचास बार झूठ बोलनेवाला व्यक्ति भी झूठा कहलाते शर्माएगा; उसी प्रकार हिंसक से हिंसक व्यक्ति को भी प्यारा तो अहिंसक शब्द ही लगेगा। यह दूसरी बात है—कि वह इसे वास्तव में ही चाहता है या केवल ढोग रूप में ही। प्राय: देखने में आता है कि हरेक शब्द का तत्त्व कम लिया जाता है, आभास ज्यादा

काम में आता है। यदि वाणी जैसी ही अहिंसा-निष्ठता व्यवहार में आ जाए तो स्वर्ग स्वय पृथ्वी पर नही उतर आए। स्वर्ग या नरक चाहे कोई मानता है या नही पर स्वर्गीय आनन्द और नारकीय जीवन ये शब्द स्वय हमें अपने अस्तित्व की ओर सकेत करते है। यदि कोई मुझे पूछे कि स्वर्ग और नरक कहाँ है? तो मै कहना चाहूँगा कि वे इसी पृथ्वी पर हैं। नारकीय जीवन तो आज लोग व्यतीत कर ही रहे है। जगह-जगह किये जाने वाले ईर्ष्या, द्वेष आत्म-प्रवचना से बढकर और नारकीय जीवन क्या हो सकता है? मै बहुधा कहाँ करता हूँ—लोग सिनेमा देखने क्यो जाते हैं? इसीलिए न कि वहाँ उन्हें नए नए दृश्य देखने को मिलते है, पर आज तो घर-घर में सिनेमा चल रहे हैं।

"पुत्र-पिता कहीं चढे अदालत, पति-पत्नी की भी यह हालत" तब फिर सिनेमा और क्या होगा? ऐसे पुत्र बहुत कम होगे जो अपनी माता के प्रति सम्मान की भावना रखते हो। सम्भव तो यह है कि आज माता को गाली देने वाले अनेक लोग मिल जाएँगे। जिस माता को शास्त्रो मे **'देवयं गुरु जननी'** कहकर बहुत बडा सम्मान दिया है, उसे गाली देकर तिरस्कृत करना नया दृश्य नही तो और क्या है? छात्र और अध्यापको मे आज प्रेम नही है। मुनीम और सेठ में आज विश्वास नही है। यत्र तत्र-सर्वत्र ऐसे दृश्य प्राय मिल ही जाते हैं। सब कोई एक दारुण वेदना सहते चले जा रहे हैं पर चाहता कोई नही। सब की स्वर्गीय आत्मा अन्दर से रोती है, पर यदि आप स्वर्गीय सुख चाहते हैं तो अहिंसा की छोटी-छोटी बातो को जीवन मे उतारे। मै आपको विश्वास दिलाता हूँ, इसमें कोई विशेष कठिनता नही। सिर्फ भावना के, परिवर्तन का सवाल है। यदि आपने अपनी भावना को परिवर्तित कर लिया, परिमार्जित कर लिया तो सचमुच स्वर्ग इस धरती पर उतर आएगा।

अहिंसा का अर्थ—भगवद् वाणी में कहा गया है—**न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए**—अहिसक वह है जो किसी प्राणधारी के प्राणो को नही लूटता है। प्राणधारी से मतलब केवल मनुष्य ही नही है। बल्कि ससार में जितने भी जीवधारी प्राणी हैं उन्हें नही मारता वह अहिसक है और जो भय से निवृत्त है। जो अभय नही है वह क्या अहिसक? दूसरो के डर से जो घर में छुप कर यह कहे कि मै किसी को मारता नही वह दूसरो को क्या मारे स्वयं मरा हुआ है। इतना ही नही अहिसक का तीसरा लक्षण है वैर से उपरत—निवृत रहना। किसी को नही मारना ही अहिंसा नही है, उसकी पूरी व्याख्या है—अव्यापादन, अभय और अवैर। इस त्रिपदी में अहिंसा का सारा सार समा गया है। जिस प्रकार भगवान् ने—**उपन्नेवा,**

विगोहेवा धुवेवा"—इस त्रिपदी में गौतम को सारा तत्त्व-दर्शन दे दिया उसी प्रकार इस त्रिपदी में अहिंसा का भी सारा विवेचन समाया हुआ है।

अव्यापादन का स्वरूप समझाते हुए शास्त्रो में कहा गया है—'सव्वे पाणा सव्वे सत्ता सव्वे भूया सव्वे जीवा न हंतव्वा न परितावेयव्वा न अज्झोइव्वा'—अर्थात् किसी भी प्राणी को मारो मत, परिताप मत पहुँचाओ, कष्ट मत पहुँचाओ—यह अहिंसा का आदर्श सूत्र है। पर इसे पूर्णत. तो वे ऋषि महर्षि ही अपना सकते है जो किसी कार्य के लिए हिंसक नही बनते। यहाँ तक कि अपने शरीर निर्वाह के लिए भी वे किसी प्रकार की हिंसा नही करते। सुविधाजनक और वैज्ञानिक आविष्कारो का भी उपयोग नही करते। यह एक लम्बा विवाद का विषय है कि वे भी पूर्ण अहिंसक बन सकते है या नही। पर आज के दिन हमे विवाद मे नही जाना है। अहिंसा दिवस हमे विवाद मिटाने की सलाह देता है तो आज तो कम-से-कम हम इस विवाद में पडते ही नही, पर इतना तो तय है कि अहिंसा मे हम सबका विश्वास है।

यदि कोई पूर्णत अहिंसा को नही अपना सकता तो कम से कम निरपराध प्राणी की हिंसा तो मत करो। अपना संरक्षण करते कोई जीव मर जाता है, यह दूसरी बात है पर आक्राता बनकर तो किसी को मत मारो। चलते-फिरते निरपराध प्राणी की घात तो मत करो। आप कहेंगे यह बात तो ठीक है, पर हम खेती करते है, हल के नीचे कोई जीव आकर मर जाता है। उसने हमारा क्या अपराध किया था ? रात के वक्त चलते समय कोई जीव पैरो के नीचे आकर मर सकता है उसने हमारा क्या अपराध किया था ? फिर भी उसकी मृत्यु तो हो ही जाती है। आप यदि उससे नही बच सकते तो नही बच सकते पर कम से कम संकल्प पूर्वक तो किसी को नहीं मारो।

अहिंसा का दूसरा रूप मैत्री है। कई लोग किसी भी प्राणी को मारते तो नही पर किसी दूसरे की प्रगति देख कर जलते है या नही ? व्यापारी लोग शायद जीवन में कभी हथियार नही उठाते, पर उनकी कलम किस तलवार से कम है ? गरीबो को चूसने में क्या हिंसा नही होती ? किसी को मार देना ही हिंसा नही है, मन वचन और वाणी से कोई भी असद् प्रवृत्ति करना भी हिंसा ही है। लोग जीव मारने वाले व्यक्ति को कसाई कहते हैं, पर जैन-परिभाषा में क्रोध करने वाले को भी कसाई कहा है। जाति मात्र से कोई कसाई और चडाल नही हो जाता वह तो अपने आचरणो से होता है। गौतम बुद्ध के बारे मे एक प्रसग आता है—एक बार एक सम्राट् ने किसी चोर को चोरी के अपराव में मृत्यु दण्ड दे दिया। चोर को

मारने के लिए एक चाण्डाल को बुलाया गया। उसका नाम था उत्पल। वह आया। चोर को मारने से उसने इन्कार कर दिया। उसे बहुत समझाया गया, पर वह माना नही। आखिर राजा ने आदेश दिया—राजाज्ञा के विरुद्ध आचरण करने के कारण इसे भी मौत के घाट उतार दिया जाए। फिर उसके छोटे भाई को बुलाया गया। उसने भी मारने से इन्कार कर दिया। राजा ने उसे भी मृत्यु-दण्ड दे दिया। फिर उससे छोटे भाई को बुलाया गया, पर आश्चर्य कि उसने भी अपने बडे भाइयो का अनुसरण किया। इस प्रकार पाँच भाई बुलाए गए पर पाँचो ने ही ऐसा घृणित कार्य करने से इन्कार कर दिया। आखिर छोटे से छोटा छठा भाई बुलाया गया। उसने भी मारने से इन्कार कर दिया तो राजा ने उसे भी मारने का आदेश दे दिया, पर इतने में उसकी बूढी माँ आ पहुँची और हाथ जोड प्रार्थना करने लगी—राजन् ! आप इसे मारने का आदेश न दें। राजा को इससे और भी आश्चर्य हुआ। वह कहने लगा—तुम्हें अपने पाँच पुत्रो को मरने पर जरा भी दुःख नही हुआ और छठे पुत्र के मरने का इतना दुःख हुआ इसका क्या कारण ? वह कहने लगी—इन पाँच पुत्रो पर तथागत का उपदेश पूर्णरूप से काम कर गया था। अतः वे मर भी जाते तो मुझे दुःख नही होता, पर यह छोटा लडका अभी बच्चा है, कुछ कच्चा भी है। तथागत का उपदेश अभी इसपर पूर्ण रूप से जम नही पाया है। अतः देखती हूँ मरते वक्त यह अपनी भावना को दूषित बना कर कही अधोगति में नही चला जाए। अतः इसके जीवन-दान की मैं आप से प्रार्थना करती हूँ। राजा ने यह सुना तो उसका क्रोध एकदम शान्त हो गया और उस बुढिया से कहने लगा—माता ! तुमने मेरी आँखें खोल दी है। मुझे जल्दी बताओ, तथागत कहाँ है ? उसने कहा—और तो मुझे पता नही वे मेरे घर भिक्षा के लिए आते है। उसी समय उन्होने हमारे परिवार को उपदेश से आप्लावित किया था। राजा को अब प्रकाश हुआ और वह भी तथागत की शरण में आ गया तथा अनुपम शान्ति का रसास्वादन किया। तो आप ने देखा, चाण्डाल और कसाई कोई जाति से नही होता। अपने आचरण से होता है। महाभारत में भी कहा है

> सर्वजातिषु चाण्डालाः, सर्वजातिषु ब्राह्मणः।
> ब्राह्मणेऽपि चाण्डालाः, चाण्डालेष्वपि ब्राह्मणः॥

अतः जो जैसा आचरण करेगा उसकी जाति भी वैसी हो जायेगी। चाण्डाल का मतलब है क्रूरकर्मा। वह किसी भी जाति में हो सकता है।

अहिंसा का तीसरा रूप अभय है। अव्यापादन और मैत्री अगर नही होती है तो मनुष्य अभय भी नही होगा।

ससार जब तक अहिंसा के पथ पर नही चलेगा तब तक विश्वशान्ति असम्भव ही है। यह बात आज मैं क्या कहूँ कोटि-कोटि कण्ठो में ये स्वर गूंज रहे हैं। बैर से बैर नही मिट सकता। शस्त्र भी शस्त्रो से मिटने वाले नही हैं। प्रतिस्पर्धा, प्रतिस्पर्धा से बढती है उसी प्रकार शस्त्र भी शस्त्रो से कम होने वाले नही हैं। इसीलिए शास्त्रो में कहा है—अत्थि सत्थं परेण परं नत्थि असत्थं परेण परं। शस्त्र पर से पर है—एक से एक बढ़ कर है, पर अशस्त्र में पर से पर नही है। कितना अच्छा हो, यह प्रतिस्पर्धा आज शस्त्रो से उठ कर चरित्र पर आ जाए। एक बार काशी और कौशल देश के राजा एक तंग गली मे आमने-सामने हो गए। सारथियो ने एक दूसरे से कहा—हटो! हमारे रथ में कौशल-नरेश है—हमारे रथ में काशी-नरेश हैं, पर दोनों मे कम कौन होता। कोई भी पीछे हटने के लिए तैयार नही हुआ। आखिर दोनो ने युक्ति निकाली। जो बडा हो वह आगे निकल जाए, पर मौका ऐसा आया कि अवस्था और राज्य-क्षेत्र की दृष्टि से दोनो बराबर निकले। दोनो ३० वर्ष की अवस्था और ३०० योजन क्षेत्र के अधिपति थे। आखिर कौशल-नरेश के सारथी ने कहा—हमारा रथ आगे निकलेगा। क्योकि हमारे राजा कुशल शासक हैं। वे अच्छे के साथ अच्छा व्यवहार करते हैं और बुरे के साथ बुरा। नही हमारा रथ आगे निकलेगा। काशी-नरेश के सारथी ने दृढतापूर्वक कहा—क्योकि हमारे नरेश अच्छे के साथ तो अच्छा व्यवहार करते ही हैं, पर बुरे के साथ भी अच्छा बर्ताव करते है। उसने बाजी जीत ली और उसका रथ पहले निकल गया। आचार-पक्ष मे यह प्रतिस्पर्धा सचमुच आदरणीय है।

आज भी यदि बड़प्पन की यह परिभाषा बन जाए तो कितनी सुलझन हो जाय, पर समस्या है यह बने कैसे? इसका एक ही मार्ग है, बड़े लोग इसे अपने से शुरू करे। वे यदि बड़प्पन के मापदण्ड को अर्थ और सत्ता से हटा कर चरित्र पर ले आए तो स्वयं ही देश में एक चारित्रिक वातावरण पैदा हो जाएगा। इस अवसर पर मैं मंत्रियो से भी यह कहना चाहूँगा कि वे अपने जीवन की दिशा को मोड़े और देश के लिए दिशा दर्शन का स्थान ग्रहण करे। व्यापारियो से यदि मैं यह कहूँगा तो वे कहेंगे हमें छोडता कौन है? टैक्स के भार से हम तो आगे ही दबे जा रहे हैं और उससे भी अधिक हमें अधिकारी लोगो की जेबें भरनी पडती है। हम लाइसेन्स के लिए घूमते है, तब तक घूमते ही रहते है जब तक ऑफिसरों की जेबें गर्म नही हो जाती। हम स्वयं अनीति नही करना चाहते, पर सरकार स्वयं हम से अनीति करवाती है। इस अवस्था में मन्त्रियो

को यह आवश्यक है कि वे अपने जीवन को इस प्रकार व्यवस्थित बनाएँ कि दूसरे लोग स्वय उनसे शिक्षा ग्रहण करे। हम एक-एक कर कितनों को समझाएँगे। आखिर तो ऊपर के लोग जैसा करेंगे नीचे के लोगों पर वैसा असर पडेगा। अत. ऊपर के लोगो को अपना जीवन सुधारना अत्यन्त आवश्यक है।

देहली से एक पत्र लोगो का यहाँ आया था जिसमें एक भाई ने लिखा है—इधर देश में अहिंसा दिवस मनाया जा रहा है, उधर सरकार हिंसा को प्रोत्साहन दे रही है। जगह-जगह कसाईखाने खोले जा रहे है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहले यहाँ जितनी हिंसा होती थी उससे कही अधिक अब हो रही है। अत. उसका प्रतिकार, हो इसकी पूर्णरूपेण आवश्यकता है। वैसे हिंसा को बन्द कर देना मेरे हाथ की बात नही है। मै अपने विचार जरूर व्यक्त कर सकता हूँ और वह यह कि धर्मप्रधान देशो मे हिंसा को यह बढावा मिलना, उचित तो नही कहा जा सकता। उधर पश्चिम में तो शाकाहार की तरफ लोगो का ध्यान आकर्षित हो रहा है और भारतीय लोग मासाहार में विटामिन मान कर उस तरफ दौड़ रहे है। यह सचमुच चिन्ता का विषय है।

अत: आज के दिन सारे लोग सबसे पहले यह सोचें कि उनकी निष्ठा हिंसा में है या अहिंसा में। यदि उनकी निष्ठा हिंसा मे है तब तो शेष कुछ कहने को नही रह जाता। यदि उनकी निष्ठा अहिंसा में है तो वे यह दृढ संकल्प करें कि हम आज से चोरी, असत्य, और आत्मप्रवंचना नही करेंगे। अहिंसा के उपासको के लिए आज यह अवसर है कि वे अहिंसा की ताकत को सक्रिय रूप से दुनिया के सामने रखें।

९८ : साधना बनाम शक्ति

साधना अपनी शक्ति के अनुसार ही की जा सकती है। क्योकि उसका अन्तिम छोर वहाँ तक जाता है जहाँ तक साध्य की प्राप्ति नही हो जाती। इसीलिये साधक को सकेत है कि 'चलते चलो'। उस स्थान से आगे जहाँ साधना पूर्ण हो जाती है। चलने की कोई आवश्यकता नही होती। पर जब तक साध्य प्राप्त नही हो जाता तब तक साधक को विराम कहाँ ? हाँ, वहाँ तक पहुँचने में कठिनाइयाँ भी तो कम नही आती। इसीलिए वहाँ तक पहुँचने के पहले बहुत. से लोग कड़ी साधना से घबड़ा जाते है। अत. अनन्त अनुकम्पावान भगवान् ने उनके लिए सुगम रास्ता भी बताया है। प्रश्न हो सकता है क्या रास्ते को सुगम करने का मतलब उसकी सुगमता

का अनुमोदन नही है ? समाधान है कि रास्ता तो कठिन से कठिन बताया जा सकता है, पर उस पर चलनेवालो मे भी तो सामर्थ्य होना चाहिए। इसीलिए पथ-प्रदर्शक पथ पर चलनेवालो का सामर्थ्य देख कर ही पथ-दर्शन करते हैं। जो लोग कठिन साधना कर सके उनके लिए तो कठिन रास्ता है ही, पर जो उस रास्ते से चल नही सकते उनके लिए उन्होने सरल मार्ग का निरूपण भी किया।

भगवान ने कहा—उपवास करो, अनशन करो और यहाँ तक कि अनशन मे पानी भी मत पीओ। तब फिर उसमें फलाहार की तो बात ही कहाँ रह जाती है ? उन्हे ऐसा कहने का अधिकार भी था। क्योकि अपने जीवन मे उन्होने ऐसी अनेक लम्बी तपस्याएँ की थी जिनमे उन्होने न तो कुछ खाया और न कुछ पिया। यहाँ तक कि छ महीने की लम्बी तपस्या भी उन्होने विना पानी के की थी। जिसे जैन-परिभाषा में 'चौविहार तपस्या' कहते हैं। पर स्वय भगवान् ने यह उपदेश भी दिया है कि यदि तुम पानी नही छोड सकते तो तिविहार तपस्या ही करो—खाना तो छोडो। इसका मतलब है, उन्होंने साधना मे ढिलाई नही की थी, पर वे चाहते थे कि कोई भी व्यक्ति साधना से वंचित न रह जाए। क्योकि वे जानते थे कि हरेक व्यक्ति के लिए साधुत्व का उपदेश काम का नही हो सकता। बहुत से व्यक्ति तो ऐसे भी हो सकते है जिन्हें साधुत्व का उपदेश अप्राकृतिक भी लगे। उनके सामने ऐसी बात कहने का क्या अर्थ ? इसीलिए भगवान् ने केवल महाव्रत का उपदेश ही नही दिया अणुव्रत का उपदेश भी दिया। जो महाव्रतो को पालन कर सके उनके लिए महाव्रतो का उपदेश और जो अणुव्रतो का पालन कर सकें उनके लिए अणुव्रतो का उपदेश।

आज भी कई लोग कह देते हैं—महाराज अणुव्रतो का उपदेश क्यो देते है ? अणुव्रतो में ब्रह्मचर्य का नियम है—महीने मे कम से कम २० दिन ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा। तो इसका मतलब अब्रह्मचर्य की १० दिन की छूट तो महाराज ने भी दे दी, पर मै समझ नही पाया मैने इसमें क्या छूट दे दी। यदि कोई व्यक्ति २५ दिन ब्रह्मचर्य का पालन करे और उसमें मै २० दिन की कहूँ तो छूट का भी कोई अर्थ हो सकता है, पर जिस व्यक्ति के महीने मे ५ दिन का भी त्याग नही है उसे यदि मै २० दिन का त्याग दिलवाता हूँ तो इसमे छूट कैसी ? मै तो उसे उल्टा अधिक दिनो का त्याग, दिलवाता हूँ। २० दिन मे भी मेरा दृष्टिकोण यह नही है कि शेष १० दिनो का ब्रह्मचर्य नही पाला जाए। बल्कि मै तो यह चाहता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण ब्रह्मचारी बने, पर अगर कोई पूर्ण ब्रह्मचारी नही बन सकता है तो मै उसे यह कहता हूँ कि कम से कम २०

दिन तो ब्रह्मचर्य का पालन करो। अत यह छूट नही है। सामर्थ्य के अनुसार व्रत का पालन है। इसी प्रकार भोजन के वारे में जानना चाहिए। कोई दो वक्त खाये और उसे ३ वक्त खाने का कहा जाये तो यह छूट मानी जा सकती है। पर दो वक्त खानेवाले को एक वक्त से अधिक नही खाने को कहा जाये तो इसमें छूट कहाँ है? भगवान् महावीर ने तो यहाँ तक कहा है कि अगर तुम भोजन भी नही छोड सको तो कम से कम 'अनोदरी' यानी कुछ भूख तो रखो। यदि तुम अधिक प्रकार की चीजें खाते हो तो उनका भी नियत्रण करो, यदि तुम अनेक वार खाते हो तो उसमे भी सयम करो और खाते भी हो तो—

रसा पगामं न निसेबिय, पापं रसा दित्तिकरा नराणं।
दित्तं च कामा समभिदवंति, हुम्म जहा साउ कलं व पक्खी॥

अर्थात् प्रकाम रस भोजन नही करना चाहिए। क्योकि यह मनुष्य के लिए तृप्तिकर होता है। तृप्त होने पर काम-वासना चारो ओर से मनुष्य पर आक्रमण कर देती है। ठीक उसीप्रकार जिसप्रकार स्वादिष्ट फलवाले वृक्ष पर पक्षी। जिस शरीर से हम काम लेते हैं उसे उसका भाडा भी चुकाना पड़ता है यह सही है, पर अत्यन्त गरिष्ठ भोजन चित्त को असतुलित बना देता है यह तो स्पष्ट ही है। चिन्तन पर भी इसका असर आता है। इसीलिए कहा गया है—'जैसा खाये अन्न, वैसा होवे मन'। पुष्ट शरीर में वासना को उभरने का अधिक अवसर मिलता है। भला शुष्क वृक्ष पर कौन पक्षी क्या खाने बैठेगा?

कुछ लोग उठते ही विछौने पर ही नाश्ता (Bed tea) लेते हैं। कुछ लोग उस समय नही खाते है तो प्रात नाश्ता करने से तो शायद ही चुकते है पर मुझे आश्चर्य होता है लोग उस समय खाते कैसे हैं? यदि खाते भी है तो पचाते कैसे है? लोगो को शायद मेरी बात पर आश्चर्य हो सकता है पर मैं अनुभव करता हूँ कि मैं तो कभी सुवह खा भी लेता हूँ तो फिर मुझे दूसरे वक्त भूख ही नही लगती। हो सकता है मेरी शारीरिक स्थिति ही ऐसी हो पर मुझे यह वुरी नही लगती। वार-वार खाना निश्चय ही रोग को बुलावा देना है। मेरी अपनी प्रकृति स्वय ही इस प्रकार की वन गई है। इससे मुझे सन्तोप है। वहुत-से लोगो ने यौवन में अपने स्वास्थ्य का दावा कर अधिक खा भी लिया तो उस समय तो वे अपने हठ से खा गये, पर वुढापे में वे अपने स्वास्थ्य को सन्तुलित नही रख सके ऐसा मेरा अनुभव है। स्वास्थ्य को एक दफा अलग भी रख दें, पर वार-वार खाने से खाने में वह आनन्द भी नही रह जाता। जो कम समय खाने से मिलता है। मेरा तो यह अनुभव है कि मुझे सुवह नाश्ता नही

करने से स्फूर्ति रहती है और आनन्द मिलता है। इसी प्रकार कम लेकर मैं सन्तुष्ट रहता हूँ उतना अधिक द्रव्य आहार लेकर नही रहता। यही कारण है बहुत दबाव देने पर भी मैं अधिक आहार लेना पसन्द नही करता। मैं यह सब अपने आनन्द के लिए करता हूँ। बिना आनन्द के अधिक दिनो तक ऐसा होना सम्भव भी नही है। मेरे निकट रहनेवाले बहुत-से लोग मेरी इन बातो को प्रकट करना चाहते हैं, पर मैंने परसों ही मना किया था कि वे ऐसा नही करे। क्योकि मैं समझता हूँ अन्दर रही हुई साधना जितना फल देती है उतना वह बाहर आकर नही दे सकती। उससे कुछ-कुछ प्रतिष्ठा की भावना आ जाती है और अधिक लोगो में प्रकट होकर साधना स्वय भार भी बन जाती है। यद्यपि मैं यह भी नही मानता कि दूसरे लोग कोई साधना मे बाधक बन सकते हैं। अपनी साधना व्यक्ति के अपने हाथ की बात है, पर उससे कोई प्रेरणा प्राप्त करे तब तो उसे प्रकट करने का भी कोई अर्थ रहता है। यदि नही होता तो फिर उसे गुप्त रखने में ही ज्यादा लाभ है।

मेरा स्वल्पाहार होने का एक कारण यह भी है कि मैं जब कम खाने का उपदेश दूँ और स्वय सब कुछ खाता रहूँ तो उपदेश मे इतना निखार नही आ सकता और कहते वक्त भी अन्दर से आत्मा कचोटती रहती है। मेरी तो यह प्रकृति हो गई है कि जिस बात का मैं स्वयं आचरण नही करता उसका उपदेश भी बलपूर्वक नही कर सकता। अत. जिस बात को मैं अच्छी मानूं तो पहले उसका प्रयोग मुझे अपनी आत्मा पर ही करना चाहिए। उसमें मैं यदि सफल होता हूँ तो मुझे दूसरो को कहने का भी अधिकार है। अत. अपने अनुभव के बल पर मैं आपसे यह कह सकता हूँ कि कम आहार लेना स्वास्थ्य के लिए तो लाभकर है ही, साथ ही उससे आत्मानन्द भी कम नही मिलता। इसीलिये भगवान् ने सर्व साधारण की सुलभता देखकर अनोदरी का उपदेश किया। यदि कोई इतना भी नही कर सकता है तो मैं समझता हूँ कि त्याग-भावना अभी तक उसमें खिली नही है। लम्बी-चौडी परिषद् से धर्म स्थान भर जाये यह कोई बड़ी बात नही है। पर इसका परिणाम भी सुन्दर आना चाहिए। अन्यथा इतने लोगो का इकट्ठा होना भी मुझपर भार हो जाता है। भार इसलिए कि एक इतना बडा जनसमूह बिना कष्टो की परवाह किये मेरे पास आता है और मैं उसकी शुद्धि नही कर पाता। जब कभी मैं इस चिन्तन में लग जाता हूँ तो सचमुच हृदय मे दु ख होता है।

आप भी दिन में चार दफे मेरे पास आते है सिर्फ इसलिए नही कि सुन्दर शब्दो में मेरी प्रशसा करे। थोथी प्रशसा मुझपर भार है। कोई

भी व्यक्ति अगर मेरी प्रशसा करता है तो पहले वह यह सोचे कि वह ऐसा हृदय से करता है या नही। यदि प्रशंसा वास्तव मे ही हृदय से होती है तो आप मुझे अच्छा मानते हैं और अच्छा मै इसलिए हूँ कि मै जो कुछ करता हूँ वह अच्छा है। मै जो काम करता हूँ वह अगर मेरे लिए अच्छा है तो आपके लिए भी वह बुरा कैसे होगा? पर प्राय देखा जाता है कि थोडा-सा कष्ट का काम सामने आते ही लोग असफलता पूर्वक पीछे हट जाते है। यदि आपकी मेरे में वास्तव मे ही श्रद्धा है तो मैं जैसे सहर्ष कष्ट सहता हूँ वह भावना आपमें क्यो नही? व्यापार में जो अनैतिकता की जाती है वह क्या मेरी प्रशसामात्र से धुल जाने वाली है? दिन भर की जाने वाली ईर्ष्या, आलोचना, एक दूसरे को गिराने की भावना का पाप क्या मेरे पैरो पर सिर रखने मात्र से साफ हो जायेगा? ये प्रश्न मुझे बडा बेचैन किये देते है। मै मानता हूँ सारे आदमी आदर्श पर नही चल सकते। पर उस तरफ जाने की भावना ही मनमें न हो तो लगता है आपने यहाँ आने का अर्थ ही कहाँ समझा है? अणुव्रती बनना एक बात है। सम्भव है आज अणुव्रती बनने मे अनेक कठिनाइयाँ हैं। पर अणुव्रत आदर्श के प्रति श्रद्धा तो रखे। मै आप से फिर कह देता हूँ यदि आपने इन प्रश्नो का समाधान नही पाया है तो और दूसरे समाधान भी विषम हो जाएँगे। अब केवल "तदत् वचन" कहने से काम चलने वाला नही है। बल्कि आवश्यकता यह है—उन बातो पर जो मैं आपसे कहता हूँ, आप अमल करे। मुझे जिस बात में आनन्द आता है वह यदि सही है तो आपको भी उसमें आनन्द आना चाहिये। आवश्यकता नही है कि मै ये बाते आप से दस दफे दोहराऊँ। पर इतना जरूर कहूँगा कि बिना इस आदर्श तक आये जीवन-जीवन तो नही है। मै आपसे यह नहीं कहता कि आप गुणवानो की प्रशसा न करे, पर जिनकी प्रशंसा आप करते हैं उनके आदर्शों को जीवन मे पहले उतारे पूरे आदर्शों को न भी उतार सकें तो थोड़ा उतारे। इससे भी जीवन हल्का होगा।

६९ : व्यक्ति का मूल्य

अपने भले-बुरे, हित-अहित, उत्थान-पतन का उत्तरदायी स्वय व्यक्ति है, कोई दूसरा नही। उसका अपना पुरुषार्थ और प्रयत्न ही उसे विकास के ऊँचे शिखर तक पहुँचा सकता है। अणुव्रत-आन्दोलन व्यक्ति-व्यक्ति में आत्म-जागृति पैदा करना चाहता है जिससे हर कोई अपने अन्तर-बल को सँजो कर जीवन-शुद्धि और चारित्र के मार्ग पर आगे बढ सके। कितना खेदास्पद

विषय है कि जो भारतवर्ष चारित्रिक, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक चेतना का मूलस्रोत था, जिससे सभी प्रेरणा पाते थे, आज उस का स्तर गिरता जा रहा है। अणुव्रत-आन्दोलन चाहता है—लोक-मानस में वह नव-चेतना पैदा कर गिरते हुए राष्ट्रीय चरित्र को ऊँचा उठाए, ताकि सर्वत्र सच्चाई, ईमानदारी, मैत्री और सद्भावना का प्रसार हो सके।

सुजानगढ़,
१० अक्तूबर, '५७

७० : आन्दोलन की मूल भित्ति

अणुव्रत सिर्फ बातों व प्रचार की चीज नहीं है। यह एक सजीव प्रेरणा और सक्रिय कार्यक्रम है। आन्दोलन की मूल भित्ति है—"संयमः खलु जीवनम्" अर्थात् जीवन अधिकाधिक संयमित, सादा और हल्का हो। विलासी जीवन में अणुव्रत कभी नहीं पनप सकते। जैसे भूमि उर्वर हुए बिना पैदावार नहीं हो सकती, वैसे ही नैतिक धरातल सुदृढ़ हुए बिना कोई भी कार्यक्रम सफल नहीं बन सकता।

सुख का साधन धन नहीं, जीवन का हल्कापन है। करोड़ों की पूँजी, अनेकों नौकर और वैभव सम्पन्न होते हुए भी धनिकों को न खाने का आनन्द है और न सोने का। जीवन को सादा बनाने की प्रेरणा देकर अणुव्रत-आन्दोलन जीवन के परमानन्द का द्वार खोलना चाहता है। आन्दोलन के प्रचार व प्रसार की प्रारम्भिक भूमिका सम्पादित हो चुकी है। आज इस कार्य को प्रगति देने के लिए इसमें पैसा नहीं, अपितु व्यक्तियों का जीवन लगे, साधना लगे, इसकी अपेक्षा है। अणुव्रती का जीवन जीती-जागती ज्योति होनी चाहिए, जिसके सहारे एक नहीं, अनेक जीवन-दीप प्रज्वलित हो सकें।

सुजानगढ़,
१२ अक्तूबर, '५७

७१ : एक क्रान्तिकारी अभियान

अणुव्रत-आन्दोलन आत्म-जागृति का एक क्रान्तिकारी अभियान है। यह सबसे पहले व्यक्ति को स्वयं जागृत बनने की प्रेरणा देता है। जो स्वयं जागृत नहीं है, वह दूसरों को जगने की क्या प्रेरणा दे सकता है?

सच्चाई, अहिंसा और सदाचार के पथ पर आगे बढने के लिए सबसे अधिक आवश्यकता आत्म-निष्ठा की है, आत्म-विश्वास की है। अपने आपमें सुदृढ विश्वास रखने वाले के लिए ससार का ऐसा कोई कार्य नही जो दुसाध्य हो। जो अणुव्रतों को कठिन और दुरूह मानते हैं, मै उनसे पुरजोर शब्दो मे कहूँगा—वे इन्हे एक बार अपना कर तो देखे। यदि ऐसा किया तो स्वय इतने आकृष्ट और आत्म-विभोर हो उठेगे कि उन्हे छोडने का जी नही करेगा क्योकि अणुव्रत जीवन में शान्ति देते है, हल्कापन देते है, सन्तुष्टि देते है।

सुजानगढ,
१४ अक्तूबर, '५७

७२ : आत्मविद्या का मनन

अणुव्रती आज बहुत बडे सघर्ष के बीच से गुजर रहे है। अनैतिकता सर्वत्र छायी है, जिससे उन्हें लडना है। चरित्रहीनता के बहुमुखी स्तूप को उन्हें ढहा देना है। नीतिहीनता के विरुद्ध उन्हे अभियान करना है। वस्तुत यही तो सच्ची विजय है, जिसे पाना बच्चो का कोई खेल नही है। लाखो दुर्दान्त शत्रुओं को जीतना सुगम है, समूचे ससार पर काबू पाना भी कोई उतना दुष्कर नही है, जितना कि अपने आपको जीतना, अपनी दुष्प्रवृत्तियो को जीतना कठिन है। अणुव्रत-आन्दोलन अपने आपको जीतने का, अपने कलुषित वृत्तियो को नियन्त्रित करने का सफल मार्ग देता है। हमें भारतीय ऋषियो की तप पूत वाणी स्मरण दिलाती है कि सबसे पहले हम अपनी आत्मा के बारे मे सोचे, उसे हम न भुला दें। आत्मविद्या या अध्यात्म-चिन्तन भारतीय जीवन का आदि, मध्य और अन्त स्रोत रहा है। उस विकास को मैं विकास नही मानता, जिसमे आत्म-शुद्धि का तत्त्व न हो। इस छोटे से स्थान में बैठा मैं आप सब लोगो के माध्यम से समूचे संसार को कह देना चाहता हूँ कि यदि मानव अपनी, अपने कुटुम्ब की, अपनी जाति की, अपने राष्ट्र की और सारे ससार की ज़िन्दगी सुख और शान्तिमय देखना चाहता है तो वह आत्म-विद्या का मनन करे, जहाँ बाहरी दिखावे से दूर अन्तर-शुद्धि और परिमार्जन मे जीवन की सफलता मानी गयी है।

अणुव्रती भाई-बहिनो! जो मार्ग आपने चुना है, वह ससार के अनुकूल नही है। उससे बाह्य सुविधाओ में कमी आती है। फलत कठिनाइयाँ बढती है,

पर यह आत्मा के अनुकूल है। आत्मा मे वास्तविक सन्तुष्टि और शान्ति पैदा करनेवाला ससार का मार्ग नदी के प्रवाह जैसा है। तिनके की तरह उसमें वह जाना आसान है। इसमें कौन-सी विशेषता है? विशेषता तो उसमे है—बाधाओ, विघ्नो, विपदाओ और क्लेशो की परवाह न करते हुए सत्य और अहिंसा की साधना मे प्रतिस्रोतगामी बने और आगे बढते-बढते उस चालू लोक-प्रवाह का रुख ही मोड दे। आपलोगो पर बडी जिम्मेवारी है। क्या मै आशा करूँ, आत्म-बल और साहस के साथ-साथ इस ओर बढे चलेंगे?

सुजानगढ़,
१५ अक्तूबर, '५७

७३ : आत्मचिन्तन

अपने व्रतो पर दृढता से जमे रहने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति आत्म-चिन्तन करे। आत्म-चिन्तन अपने द्वारा हुई भूलो को सुलझाता है और आगे के लिए जीवन का पथ-प्रशस्त करता है। यह एक प्रकार से व्रतो को अच्छे रूप मे निभाने के लिए प्रहरी का काम करता है। अन्यान्य कार्यों की तरह व्यक्ति आत्म-चिन्तन का भी अपना समय रखे। अणुव्रती तो विशेष रूप से ऐसा अवश्य करे। जब मैं लोगो को यह कहते सुनता हूँ कि क्या करें, आत्म-चिन्तन के लिए समय नही मिलता है। तो मुझे उन पर बडा तरस आता है। अपने शरीर के लिए, मकान के लिए, कुटुम्ब के लिए और दूसरे-दूसरे कामो के लिये वे समय निकाल लेते हैं, पर जहाँ अपनी आत्मा का सम्बन्ध है, वहाँ वे समय नही निकाल पाते, वास्तव में कैसी दयनीय स्थिति यह है!

आज देश को विकसित बनाने के लिए अनेक योजनाएँ और उपक्रम चल रहे है, पर जब तक देश का नैतिक स्तर ऊँचा नही उठेगा, उनसे कुछ बन सकेगा, ऐसा मुझे लगता नही।

सुजानगढ़,
१६ अक्तूबर, '५७

७४ : एक महत्त्वपूर्ण कदम

दीक्षा का बहुत बड़ा महत्त्व है। वह जीवन का निर्माण करती है। आज अनेक भाई-बहिनो ने अणुव्रतो की दीक्षा ली, यह सचमुच एक ऊँची

बात है। लेकिन साथ ही साथ इतना और कह दूं कि जब मैं साधु-साध्वियों के जीवन को देखता हूँ, जिन्होने यह व्रत लिया है कि वे कभी भी, किसी भी स्थिति मे झूठ नही बोलेंगे, हिंसा नही करेगे, जीवन भर पद-यात्रा करेंगे, कौडी मात्र भी पास नही रखेगे तो मुझे यह (अणुव्रत-दीक्षा) छोटी लगती है। पर साधु-दीक्षा या महाव्रत दीक्षा में तो अगुली पर गिने जाने योग्य थोडे से व्यक्ति होते है। कोटि-कोटि जनता तो ऐसी है जो इन व्रतो से परे है। इसलिए उस अपेक्षा से अणुव्रतियो का यह कदम महत्त्वपूर्ण और आदर्श है। आज जहाँ अनैतिकता का घोर तुमुलरव मचा है वहाँ हजारों व्यक्तियो का यो खडे होकर जीवन-निर्माण के इस अभियान में अपने आप को समर्पित करने का सकल्प प्रकट करना वास्तव मे एक महत्त्वपूर्ण कदम है। मै अणुव्रतियो से कहना चाहूँगा—व्रत-ग्रहण की जो हिम्मत आपने की है, व्रत-पालन में भी आप पूरे साहस से काम लें। मै आप लोगो के साथ हूँ अर्थात् आपके व्रतो के साथ हूँ। आप आत्म-साक्षी से इन्हें निभाएँ। कठिनाइयो के सामने आने पर कमजोरी दिखाना, मार्ग से विचलित हो उठना एक मनस्वी के लिए शोभनीय नही। आपद्धर्म के नाम से व्रतो में छूट का विधान कही कही है—वास्तव में यह उचित नही। अत आपद्धर्म का सहारा लेना ठीक नही। मै चाहूँगा—यह पराजय आप पर न व्यापे। बल्कि आप इस पराजय को अपनी आत्मशक्ति से ढक दें।

सुजानगढ़,
१७ अक्तूबर, '५७

७५ : आत्म-जागृति की लौ

दीपावली पर्व भारतीय त्योहारो में अपना प्रमुख स्थान रखता है। इसके पीछे अनेक प्रकार के विचार है। जैन-परम्परा की दृष्टि से इसका विशेप महत्त्व इसीलिए है कि इस दिन भगवान् महावीर ने अपने जीवन की साधना सम्पूर्णत सम्पन्न कर निर्वाण प्राप्त किया था। यह उनके जीवन की चरम सफलता का दिन था। सासारिक आवागमन और सुख-दु खों से सम्पूर्ण रूपेण छूटकर अपने सत्-चित्-आनन्दात्मक स्वरूप में स्थित होने की पावन वेला थी। निर्वाण का अर्थ—बुझ जाना। आत्मा के साथ कर्मों के सम्बन्ध की जो आग प्रज्ज्वलित थी, जिससे आत्म-गुण झुलसे जा रहे थे, वह सर्वथा बुझ गई। कार्मण-सयोग की उष्मा—गर्मी सर्वथा निर्वापित-शीतल-शान्त हो गई। भगवान् महावीर का निर्वाण दिवस होने से इसका

एक ऐतिहासिक महत्त्व है। जैन-इतिहास में कहा जाता है, इस दिन भगवान् महावीर के निर्वाण पर देवताओ ने ज्योतिर्मय रत्नो से प्रकाश किया। अमावस्या की घोर तमिस्रामयी रजनी रत्नो की ज्योति से जगमगा उठी। उसी की स्मृति में भारतीय लोग दीपावली को पर्व रूप में मनाने लगे है। मै भारतीय जनता से कहना चाहूँगा—इसकी सही मनौती बाहरी चमक-दमक और जगमगाहट से नही है, सही मनौती यह है कि भगवान् महावीर के आदर्शों को हृदयगम करते हुए वे यथाशक्ति अपने जीवन को उनपर ढालें। हिंसा, असत्य, असदाचार और परिग्रह के भयावह अन्धकार ने मानव को पथ-भ्रष्ट बना दिया है, जिसे मिटाकर आज व्यक्ति-व्यक्ति को आत्म-जागृति की लौ जलानी है। यह वह सद्देश है जो दीपावली का पर्व सबको देता है।

महावीर का जीवन उत्कट साधना और उज्ज्वल त्याग का जीवन था। वर्षों तक उन्होंने भूख-प्यास और नीद की चिन्ता न करते हुए अपने को आत्मानुशीलन और अन्तर-अवलोकन में जोडे रखा। बाहरी परिषहो और तूफानो से वे विचलित नही हुए। विरोधियो ने विविध प्रकार की बाधाएँ और क्लेश उन्हे पहुँचाए, मारपीट की, गालीगलौज किया, उनके मार्ग में तरह-तरह की असुविधाएँ पैदा की, पर आत्म-विजय के महान् ध्येय को लेकर चलनेवाले मनस्वी क्या कभी इन विपदाओ से घबडाते हैं? यही तो वह कारण था, जिससे वे महावीर कहलाए। हाथ में ढेला लेकर दूसरे का सिर फोड देने वाला वीर नही होता है। वीर वह होता है जो दूसरे के द्वारा अपना सिर फोड़े जाने पर भी सहिष्णुता और समभाव से उसे झेलता है। वीरता दूसरे को कष्ट पहुँचाने में नही, बल्कि स्वयं हँसते-हँसते कष्टो के हलाहल को पी जाने में है। दूसरे को सतानेवाला तो बहुत बडा कायर, कमजोर और बुजदिल है।

दीपमालिका, '५७

७६ : सच्ची जिन्दगी

मनुष्य को खाने के लिए रोटी मिलती है, फिर भी वह मास खाने की ओर प्रवृत्त होता है, यह कितना जघन्य और हेय कार्य है। पीने को पानी, दूध आदि अनेक पेय उसे उपलब्ध है, फिर भी वह मदिरा जैसी गन्दी चीज को पीता है। क्या यह उसकी बुद्धि की विकृति नही है? साहूकारी और ईमानदारी से वह धन कमा सकता है, पर फिर भी वह धोखा, छल, कपट, मिलावट, आदि करता है। स्वार्थपरायणता ने उसे कैसा अन्धा बना

बात है। लेकिन साथ ही साथ इतना और कह दूं कि जब मैं साधु-साध्वियों के जीवन को देखता हूँ, जिन्होने यह व्रत लिया है कि वे कभी भी, किसी भी स्थिति में झूठ नही बोलेंगे, हिंसा नही करेगे, जीवन भर पद-यात्रा करेगे, कौडी मात्र भी पास नही रखेगे तो मुझे यह (अणुव्रत-दीक्षा) छोटी लगती है। पर साधु-दीक्षा या महाव्रत दीक्षा में तो अगुली पर गिने जाने योग्य थोड़े से व्यक्ति होते है। कोटि-कोटि जनता तो ऐसी है जो इन व्रतो से परे है। इसलिए उस अपेक्षा से अणुव्रतियो का यह कदम महत्त्वपूर्ण और आदर्श है। आज जहाँ अनैतिकता का घोर तुमुलरव मचा है वहाँ हजारो व्यक्तियो का यो खडे होकर जीवन-निर्माण के इस अभियान में अपने आप को समर्पित करने का सकल्प प्रकट करना वास्तव मे एक महत्त्वपूर्ण कदम है। मैं अणुव्रतियो से कहना चाहूँगा—व्रत-ग्रहण की जो हिम्मत आपने की है, व्रत-पालन में भी आप पूरे साहस से काम लें। मैं आप लोगो के साथ हूँ अर्थात् आपके व्रतो के साथ हूँ। आप आत्म-साक्षी से इन्हे निभाएँ। कठिनाइयो के सामने आने पर कमजोरी दिखाना, मार्ग से विचलित हो उठना एक मनस्वी के लिए शोभनीय नही। आपद्धर्म के नाम से व्रतो में छूट का विधान कही कही है—वास्तव में यह उचित नही। अत आपद्धर्म का सहारा लेना ठीक नही। मैं चाहूँगा—यह पराजय आप पर न व्यापे। बल्कि आप इस पराजय को अपनी आत्मशक्ति से ढक दें।

सुजानगढ़,
१७ अक्तूबर, '५७

७५ : आत्म-जागृति की लौ

दीपावली पर्व भारतीय त्योहारो में अपना प्रमुख स्थान रखता है। इसके पीछे अनेक प्रकार के विचार है। जैन-परम्परा की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व इसीलिए है कि इस दिन भगवान् महावीर ने अपने जीवन की साधना सम्पूर्णत सम्पन्न कर निर्वाण प्राप्त किया था। यह उनके जीवन की चरम सफलता का दिन था। सासारिक आवागमन और सुख-दुखों से सम्पूर्ण रूपेण छूटकर अपने सत्-चित्-आनन्दात्मक स्वरूप में स्थित होने की पावन वेला थी। निर्वाण का अर्थ—बुझ जाना। आत्मा के साथ कर्मों के सम्बन्ध की जो आग प्रज्ज्वलित थी, जिससे आत्म-गुण झुलसे जा रहे थे, वह सर्वथा बुझ गई। कार्मण-सयोग की उष्मा—गर्मी सर्वथा निर्वापित-शीतल-शान्त हो गई। भगवान् महावीर का निर्वाण दिवस होने से इसका

एक ऐतिहासिक महत्त्व है । जैन-इतिहास में कहा जाता है, इस दिन भगवान् महावीर के निर्वाण पर देवताओ ने ज्योतिर्मय रत्नों से प्रकाश किया । अमावस्या की घोर तमिस्रामयी रजनी रत्नो की ज्योति से जगमगा उठी । उसी की स्मृति मे भारतीय लोग दीपावली को पर्व रूप मे मनाने लगे है । मैं भारतीय जनता से कहना चाहूँगा—इसकी सही मनौती बाहरी चमक-दमक और जगमगाहट से नही है, सही मनौती यह है कि भगवान् महावीर के आदर्शों को हृदयगम करते हुए वे यथाशक्ति अपने जीवन को उनपर ढाले । हिंसा, असत्य, असदाचार और परिग्रह के भयावह अन्धकार ने मानव को पथ-भ्रष्ट बना दिया है, जिसे मिटाकर आज व्यक्ति-व्यक्ति को आत्म-जागृति की लौ जलानी है । यह वह सदेश है जो दीपावली का पर्व सबको देता है ।

महावीर का जीवन उत्कट साधना और उज्ज्वल त्याग का जीवन था । वर्षों तक उन्होने भूख-प्यास और नीद की चिन्ता न करते हुए अपने को आत्मानुशीलन और अन्तर-अवलोकन में जोडे रखा । बाहरी परिषहों और तूफानो से वे विचलित नही हुए । विरोधियो ने विविध प्रकार की बाधाएँ और क्लेश उन्हें पहुँचाए, मारपीट की, गालीगलौज किया, उनके मार्ग में तरह-तरह की असुविधाएँ पैदा की, पर आत्म-विजय के महान् ध्येय को लेकर चलनेवाले मनस्वी क्या कभी इन विपदाओ से घबडाते है ? यही तो वह कारण था, जिससे वे महावीर कहलाए । हाथ में ढेला लेकर दूसरे का सिर फोड देने वाला वीर नही होता है । वीर वह होता है जो दूसरे के द्वारा अपना सिर फोडे जाने पर भी सहिष्णुता और समभाव से उसे झेलता है । वीरता दूसरे को कष्ट पहुँचाने में नही, बल्कि स्वयं हँसते-हँसते कष्टो के हलाहल को पी जाने में है । दूसरे को सतानेवाला तो बहुत बडा कायर, कमजोर और बुजदिल है ।

दीपमालिका, '५७

७६ : सच्ची जिन्दगी

मनुष्य को खाने के लिए रोटी मिलती है, फिर भी वह मास खाने की ओर प्रवृत्त होता है, यह कितना जघन्य और हेय कार्य है। पीने को पानी, दूध आदि अनेक पेय उसे उपलब्ध है, फिर भी वह मदिरा जैसी गन्दी चीज को पीता है। क्या यह उसकी बुद्धि की विकृति नही है ? साहूकारी और ईमानदारी से वह धन कमा सकता है, पर फिर भी वह धोखा, छल, कपट, मिलावट, आदि करता है। स्वार्थपरायणता ने उसे कैसा अन्धा बना

दिया है। इन विकारो से ग्रसित जीवन भी क्या कोई जीवन है? व्यक्ति सोचता नही, इस छोटी सी जिन्दगी के लिए कितने कुकर्म और कुकृत्य वह करता है। अणुव्रत-आन्दोलन और कुछ नही चाहता, वह इन कुवृत्तियो की भयानक अग्नि मे झुलसते मानव जीवन को बचाना चाहता है। वह चाहता है, मानव मदिरा, मास, जुआ, मिलावट, धोखा, काला बाजार, अनर्थ हिंसा, असत्य-व्यवहार जैसे जीवन को खोखला बनाने वाले दुर्गुण रूपी घुन मानवीय चारित्र को निगल न जायें।

त्याग और सयम की जिन्दगी ही सच्ची जिन्दगी है। इससे नैतिक जीवन पुष्टि पाता है, सत्कार्यो मे प्रवृत्ति होती है और असत् कार्यों से निवृत्ति। अणुव्रत-आन्दोलन आज के भोग-प्रधान जीवन मे त्याग को प्रतिष्ठित करना चाहता है। हाँ, यह माना, प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को सम्पूर्ण रूपेण त्यागमय नही बना सकता। पर जितना बन सके, वह अपने आपको अधिकाधिक त्यागोन्मुख बनाए, यह तो वह कर सकता है।

वैयक्तिक, सामाजिक, कौटुम्बिक तथा राष्ट्रीय जीवन मे नैतिकता और ईमानदारी व्यापे, इस ओर सबको जागरूक और प्रयत्नशील रहना है।

लाडनूं,
२४ अक्तूबर, '५७

७७ : आत्मानुशीलन का दिन

आज का दिन मेरे लिए अनुशीलन, निरीक्षण तथा आत्म-अवलोकन का दिन है। मै जन्म-दिवस का कोई विशेप महत्त्व नही मानता। जन्म-दिवस कोई कसौटी का दिवस नही है। क्योकि समूचा भविष्य आगे जो रहता है, पर लोग ऐसा नही समझते। क्योकि चालू प्रवाह जो वह रहा है। मैं एक परिव्राजक हूँ। मेरे लिए अपना कहने का कोई विशेष स्थान नही है। मेरा तो सारी वसुन्धरा और मानव-मात्र से सम्वन्ध है, पर फिर भी अपने जन्मस्थान की लिहाज से सोचूं तो कहना होगा लाडनूं के लिए मेरे मन में स्थान और आकर्पण नही है, ऐसा कैसे हो सकता है? जहाँ के कण-कण और गली-गली से मै परिचित हूँ, जहाँ मैंने वाल-क्रीड़ाएँ की, खेला-कूदा, वचपन बिताया, उसे कैसे भुलाया जा सकता है?

वचपन से ही मुझे धार्मिक ससर्ग और उपासना मे अभिरुचि थी। मैं प्रतिदिन साधु-साध्वियो के सम्पर्क में आता, उनसे मेरे जीवन को प्रेरणा

मिलती, मैं तत्त्व-ज्ञान सीखता। मैं हर समय अच्छे काम मे लगा रहूँ, ऐसी मेरी बालपन से ही निष्ठा थी। मैं खेलते समय भी धार्मिक पद व पाठ गुनगुनाता रहा। अनुशासन का मेरे जीवन मे शुरू से गहरा स्थान था। स्वय अनुशासित रहना तथा अपने से छोटो को अनुशासन मे रखना मुझे सहजतया भाता था। मेरी संसार-पक्षीया माताजी से अपने जीवन में सद्गुण ढालने की बहुत प्रेरणाएँ मिलती रही। मेरा यह सौभाग्य था कि अपने संस्कारवश प्रात स्मरणीय अष्टम आचार्य श्री कालूगणी के कर कमलो से मुझे दीक्षित होने का शुभ अवसर मिला। मेरे जीवन के निर्माण में जो उन्होने अनवरत श्रम किया, प्रयास किया, जिससे मुझे उत्तरोत्तर आत्म-निर्माण, ज्ञानार्जन, अन्तर-मार्जन का स्फूर्तिमय दर्शन मिलता रहा। एक दिन आया, अपना उत्तरदायित्व उन्होने मेरे कन्धो पर डाल दिया। उस भार को मैं सँभाल सका, यह एकमात्र उन्ही के अनुग्रह और प्रभाव का फल था।

मैं इस अवसर पर आप लोगो से कहना चाहूँगा कि अपने जीवन को अधिक से अधिक अध्यात्म-साधना और धर्माराधनामय बनाने मे आप प्रयत्नशील हो। जीवन मे अनुशासन का अधिकाधिक स्थान रहे, समय के सदुपयोग की वृत्ति रहे, इस ओर मैं आप सब का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। ऐसा कर आप अपने जीवन को एक नयी गति, निर्माण का एक नया मोड तथा उन्नति की सही दिशा देगे। धर्म जाति-पाति तथा वर्गभेद से परे है, इस आदर्श को सामने रखते हुए आप सब को स्वय धर्म के मार्ग पर जुटना, औरो को इस मार्ग पर आने की प्रेरणा देना है। विशेष रूप से मैं यह कहना चाहूँगा कि अणुव्रत-आन्दोलन के रूप मे जो चारित्रिक जागृति और नैतिक पुनरुत्थान का कार्य चल रहा है, उसमे सबको अधिक से अधिक रस लेना है। यह हर्ष की बात है कि ससार के लोग इसका मूल्य आकते जा रहे हैं। निकट-सम्पर्क मे रहने वाले आप लोगो को तो इससे और अधिक लाभान्वित होना चाहिये। मैं शब्दो को नही, ऐसे कार्य को ही अपना सच्चा अभिनन्दन मानता हूँ।

लाडनूं,
२४ अक्तूबर, '५७

७८ : ज्ञान प्रकाशप्रद है

जनसख्या जिस गति से बढ रही है उस गति से चिन्तन नही बढ़ रहा है। चिन्तन बढाने के लिए लोग अपने लडको को स्कूल और कॉलेजों

मे भी भेजते है, पर वहाँ विद्या कहाँ है? स्कूलो और कॉलेजो से जिस प्रकार शिक्षितो की बाढ़ आ रही है, उसी प्रकार बेकारी की भी बाढ जोरो से आ रही है। वे ही लडके, जिनकी पीढियाँ श्रम करती आयी है, पढने के बाद श्रम करते सकुचाते है, उन्हे केवल दफ्तरो की टोह रहती है, इतना ही नही जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण ही बदल जाता है। मैं यह नही कह सकता कि जीवन में विद्या की आवश्यकता ही नही है। पर आजकल जो शिक्षा मिलती है उससे यह ध्येय पूर्ण होता है या नही यह एक चिन्तन का विषय है। शास्त्रो में कहा है—'नाणपयासयर'—ज्ञान प्रकाशप्रद है। पर वह इसी अवस्था में जबकि वह आत्म-विद्या को पुष्ट कर सके। मैं इस बारे में खूब गहराई से सोच रहा हूँ कि बिना आत्म-विद्या से दूसरी-दूसरी विद्याएँ सफल नही हो सकती और आज की शिक्षा-प्रणाली ने तो यह और भी स्पष्ट कर दिया है। आज जगह-जगह से विचारक व्यक्तियो के विचार आ रहे है कि शिक्षण मे जब तक अध्यात्म-विद्या को नही जोडा जाएगा तब तक वह सफल नही हो सकेगी।

७९ : परिग्रह पाप का मूळ

इस पृथ्वी पर सब कुछ है, पर उसे ही मिलता है जिसे मिलने वाला है। योग्य आदमी पैदा होता है तो स्वय ही उसके अनुकूल सही स्थितियाँ भी पैदा हो जाती है। कहते है—चक्रवर्ती जब पैदा होता है तो उसके नव-निधान भी उसे इसी पृथ्वी पर मिल जाते है। जब वह मर जाता है तो वे निधान भी इसी पृथ्वी मे विलीन हो जाते है। एक एक निधान ही ऐसा होता है कि उससे बहुत सारे काम सुलझ जाते है। आज भारत सरकार के सामने अनेक हडतालें हो रही हैं। कभी रेल कर्मचारियो की हडताल होती है तो कभी डाक-तार विभाग के कर्मचारियो की। उन्हे समझाया जाता है कि इतने में मिल मजदूर जाग जाते है और हडताल कर देते है और सबसे बडी हडताल तो होती है—हरिजनो की। और-और हडतालें होती है तो उनमे यही होता है कि लोगो का काम रुक जाता है या चिट्ठी-पत्रियाँ कुछ देरी से पहुँचती है, पर हरिजनो की हडताल दो दिनो में ही चौकन्ना कर देती है। लोग परावलम्बी जो ठहरे दो दिनो में सारे शहर मे गन्दगी ही गन्दगी हो जाती है, पर किया क्या जाए? सबकी अपनी-अपनी माँग रहती है, पर सरकार उनकी सारी माँगें स्वीकार कैसे कर सकती है? उसके पास कोई निधान तो भरा पडा

नही है जो सब किसी को अपार धनराशि दे दी जाये। पर आज सभी कोई सरकार पर सवार हो रहे हैं। आखिर जनतन्त्र मे इस प्रकार काम कैसे चलने वाला है? सरकार भी यदि जनता की सुविधा का ध्यान न रखे और उस पर हावी होना चाहे तो यह भी सही नही है। काम आखिर दोनो के समन्वय से चलने वाला है। इसीलिये हाल ही मे हुई हडतालो को लेकर नेहरू जी ने कहा था—"आज देश बडी नाजुक स्थिति से गुजर रहा है। चारो ओर समस्याएँ ही समस्याएँ दीख रही हैं, पर समस्याओ का हल धमकियो से नही होगा।" काम तो एक दूसरे की दिक्कतो समझने से होगा। अत इतनी समस्याओ के बीच देश के लोग यदि और नयी-नयी समस्याएँ खडी कर देते है, यह अच्छा तो नही है। हर एक समस्या का हल खोजना चाहिए। पर उसे विषम बना देना, यह तो कभी भी उचित नही कहा जा सकता।

इस सम्बन्ध मे भगवान् महावीर का उपदेश तो यही है कि—मनुष्य को परिग्रह का ज्यादा सग्रह नही करना चाहिए। यह तो पाप का मूल है। यह माना कि जीवन चलाने के लिए गृहस्थ को कुछ परिग्रह भी आवश्यक होता है पर ज्यादा संग्रह करने से तो वही उल्टा भार वन जाता है। साधारणतया जीवन चलाने के लिए पानी की आवश्यकता होती है और इसीलिए मनुष्य पानी पीता भी है। पर यदि सारा ही खाया-पिया पानी वनना शुरू हो जाय तव तो जलोदर का रोग ही होगा। उससे तो फिर हाड-मास भी पानी वन जाएगा। फिर तो खाना-पीना ही वन्द हो जायेगा। इसी प्रकार माना कि विना धन के काम नही चलता, पर अधिक सग्रह तो स्वय अपने नुकसान के लिए है। जिस प्रकार वाँस मे फूल आना उसके स्वय के लिए ही वाधक होता है, उसी प्रकार अधिक धन सग्रह करना स्वयं अपने लिए नाशकारी है। अत वे लोग जो रात-दिन धन कमाने के पीछे पडे रहते है, उन्हें सोचना चाहिए। दूसरी ओर जो लोग अभावग्रस्त होकर दूसरो का धन लूटना चाहते है, उन्हे भगवान् ने समता का उपदेश दिया है। उन्होने कहा—अगर तुम भी धन के पीछे पडे तो तुम्हारे सामने भी बड़ी मुसीवत उपस्थित हो जाएगी। जैसी स्थिति आज तुम धनवानो और पूजीपतियो की पा रहे हो। अत तुम्हे भी सन्तोष का मार्ग अपनाना चाहिए। आखिर शान्ति दोनो को प्रिय है। इसका एकमात्र उपाय समता ही हो सकता है। भगवान् ने ऐसा कही नही कहा कि—पूँजीपतियो का धन छीन कर गरीवो को वाँट दो। उन्होने तो सभी को यही कहा कि—कोई संग्रह ही न करे। तव फिर किसी का धन लूटने की स्थिति ही क्यों आएगी। हाँ, वास्तव में परिग्रह लालसा मे है। पूँजी-

पति का मतलब केवल पैसा रखना ही नहीं है। पूँजीपति का मतलब है—जिसे पूँजी के प्रति आकर्षण हो। करोडपति भी यदि लालची नही है, तो वह पूँजीपति नही है। दूसरी ओर जिसके पास पैसा नही है, फिर भी जिसकी लालसाएँ सीमित है, वह वस्तुत पूँजीपति है। जिसका पूंजी के प्रति आकर्षण नही है, वह रुपए पाकर भी विलासी नही होगा। वह समझेगा कि—किसी कारणवश मेरे पास इतना धन इकट्ठा हो गया है, मुझे इससे विलास में फँसने का क्या अधिकार है? धन समाज का है। मुझे तो अपने निर्वाह के लिए जितना आवश्यक है, उतना मैं इसमें से लेता हूँ। बाकी जब भी समाज को आवश्यकता होगी, वह उसके काम आ सकता है। यह सात्विक भावना है। पूँजी के प्रति अनाकर्षण ही वास्तव मे अपरिग्रह है। उसके पास यदि रुपए आ जाते है तो उसे कोई बहुत बडी खुशी नही होती और यदि चले जाते है तो उसे नाराजगी भी नही होती।

परन्तु धन पास में आ जाने के बाद यह भावना रहनी बडी मुश्किल है। मनुष्य चोरी छोड़ सकता है, अनैतिक तरीको से रुपया अर्जन करना छोड सकता है, पर प्राप्त पैसे का मोह छूटना बडा मुश्किल है। कुछ लोग पूँजी का त्याग भी करते है कि मैं ५ लाख से अधिक रुपये नही रखूंगा। पहले तो ५ लाख की यह छलाग भी कितनी लम्बी है, पर इससे भी बढकर दूसरी बात है कि बाकी बचे धन को बडी होशियारी से अपने पुत्र-पौत्रो में बाँट देना। देखने की बात है—आखिर वह धन गया कहाँ? रहा तो घर-का-घर ही में यद्यपि वह सीमा निर्धारण करता है, पर इससे समस्या का हल नही होता। त्याग का आदर्श तो यही है कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं से अधिक मोह रखने की चेष्टा न करे। आवश्यकताएँ जितनी थोडी होगी, मनुष्य उतना ही सुखी रहेगा। परिमाण से अधिक जो धन है, उससे वह अपना सरक्षण छोड दे, यह अपरिग्रह का सिद्धान्त है। शेष के धन का परिवार वाले क्या करते है, यह चिन्ता उसे रखने की आवश्यकता नही है। अपनी तरफ से अर्थ की चिन्ता से मुक्त होना ही उसका ममत्व विसर्जन है।

बहुत से व्यक्ति अर्थ का विसर्जन तो कर देते है, पर घर में पाई-पाई के खर्च की चिन्ता करते हैं। शाक कितने पैसो का आया? दूध इतना मँहगा क्यो मँगाया गया? नौकर निठल्ले क्यो बैठे हैं? वे काम करते है या नही—ये सब बातें परिग्रह-मुक्त व्यक्ति की नही हैं। उसने जब अर्थ का त्याग ही कर दिया है, तब फिर वह उसके उपयोग की चिन्ता करे, यह उसे शोभा नही देता।

कुछ लोगो का ख्याल है—वे यदि इस प्रकार घर की निगरानी नही

रखें तो क्या घर उजाड न हो जाय ? सोचने की वात है—उनके यहाँ से चले जाने के बाद घर का काम कैसे चलेगा ? क्या वाद मे घर उजाड़ हो जायेगा। वडी उम्र पाने के वाद भी जो घर की चिन्ताओ से मुक्त नही होते, उनकी तो फिर जाट जैसी ही दशा होगी :—एक गाँव में एक जाट रहता था। घर का भरपूर था। परिवार भी काफी वड़ा था। पुत्र व पौत्र उसे बहुत मनाई करते वावा अब तुम वडे हो चले हो, अत. घर के धन्धो को छोडो और इस ढलती उम्र मे कुछ धार्मिक क्रिया किया करो, पर वह किसी की नही सुनता। घर में दो एवड (भेड-वकरियो का समूह) रखता और उसकी सार सम्भाल भी स्वय ही करता। स्वय अपने हाथो से उन्हे पानी पिलाता, चारा खिलाता। लडके ज्यादा जिद्द करते तो कहता तुम लोगो मे अक्ल ही कहाँ है ? तुम्हारे भरोसे यदि पशु छोड दिये जायें तो दो दिन में "चोका" उजड़ नही जाये ? पुत्र-पौत्र वेचारे चुप रह जाते। एक दिन वह अपने हाथ से पानी निकाल-निकाल कर पशुओं को पिला रहा था। अचानक उसका जर्जरित शरीर वश मे नही रहा और लाव के साथ मे ही कुएँ में गिर गया। पुत्र-पौत्र उसका शब्द सुन कर दौड कर आये। पर इतने मे तो दिए का तेल समाप्त हो चुका था। उन्होने उसे वाहर निकाला। उसे मरा देखकर वे कहने लगे—वावा हमने तुम्हे कितना कहा था कि तुम अब वुड्ढे हो चले हो। तुम्हारा शरीर तुम्हारे वश में नही रहा। अब तुम्हारा शरीर काम करने का नही है। अब तो तुम्हें आराम और ईश्वर भजन करना चाहिए। पर तुमने हमारी एक न सुनी। उल्टा हमें ही कोसता कि मैं काम नही करूँगा तो पशु मर नही जायेगे। पर अब उनके व्यग और संवेदनाओ का उत्तर देने वाला कौन था।

ठीक इसी प्रकार जो मनुष्य अवस्था पाकर और साधन सम्पन्न होकर भी अन्त में घर की चिन्ताओं से मुक्त नही होता, वह सुखी कैसे हो सकता है ?

यद्यपि घर में जो वडा होता है, उसे घर का नेतृत्व करना पडता है। पर इन छोटी-छोटी वातो के लिए प्रतिपल दूसरो को गालियाँ देना, गुस्सा करना, पैसे से अत्यधिक चिपके रहना, यह तो उसे शोभा नही देता। नेतृत्व का अर्थ तो यह है कि घर के लोगो के आचार, व्यवहार के बारे मे ध्यान रखना। वे फिजूलखर्ची व फैशन में तो नही पड गये है। कम से कम १५ दिनो मे एक वार घर के सव सदस्यो को सामूहिक शिक्षा देना। पर लोग आज इन वातो को तो भूल से गये है। सारे दिन हाय-हाय कर दूसरो का अपमान करना ही शायद आज नेतृत्व रह गया है। यह सव परिग्रह के झुकाव के कारण होता है। अत भगवान महावीर ने कहा—अपरिग्रही वनो। कोई बिल्कुल अपरिग्रही नही हो सकता तो कम से कम

अपनी आवश्यकता से अधिक परिग्रह तो नही रखे। यही अणुव्रत का आदर्श है।

८० : परिष्कार का प्रथम मार्ग

समाज के रथ के दो पहिए है, स्त्री तथा पुरुष। दोनो ही सुगठित एव सशक्त रहें तभी समाज का रथ भली प्रकार आगे बढ सकता है, अन्यथा नही। अपने-अपने क्षेत्र में दोनो का अत्यन्त महत्त्व है। आज जो महिलाओ की इतनी बड़ी सभा हुई है, उसका अपना एक विशिष्ट उद्देश्य है। ऐसे बहिनो को प्रवचनो में बहुत कुछ सुनने को मिलता है और उनकी सुनने की रुचि भी अत्यन्त तीव्र रहती है, किन्तु केवल श्रवण मात्र से ही तो काम होता नही। जैसे, खाना खा लेने के बाद उसे पचाने, हजम करने की नितान्त आवश्यकता होती है क्योकि उसको पचा लेने से ही मनुष्य बलवान बनता है, केवल खाने मात्र से नही। उसी प्रकार विमल विचार सुनने मात्र से ही कल्याण नही होता, उनको अपने जीवन मे रमाने, आत्मसात् करने से जीवन-विकास होता है। सुनने की इच्छा और निष्ठा बहनो मे कितनी है, यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध है। सायकाल की रसोई का समय हो गया है पर बहिनें उसी प्रकार तन्मयता से सुन रही हैं। अपने आसनो पर वैसे ही डटी हुई हैं। इसका प्रभाव नवागन्तुक बहिनो पर अवश्य ही पडेगा, किन्तु इतनी स्थिरता से ही तो तुम्हारा साध्य सिद्ध नही हो जायेगा। उसके लिए तुम्हे और कुछ भी करना पडेगा, तभी सफलता मिलेगी।

जीवन सदा सुखी रहना चाहिए। अन्तर से भी और बाह्य रूप से भी। तभी वह आगे गमन कर सकता है। रूढियो का भार उस पर लाद दिया जाए तो वह दब जाएगा। उसमे विकास की कोपलें नही फूटेगी। मारवाडी बहिनें कुछ रूढियों से अवश्य ग्रस्त है। जब तक वे उनमें उलझी रहेगी तब तक सुधारक की आत्म-कल्याण की बात कैसे सम्भव हो सकती है? रूढ़ियाँ योगी की जटा की तरह गहरी उलझी हुई है। उन्हे सुलझाने का कोई तरीका निकालना चाहिए।

एक मनुष्य ने लम्बी तपस्या की। समस्त शरीर की सार सम्भाल छोड दी। उसकी जटा बहुत बढ़ गई और उलझ गई। सुलझाने के लिए कघी आई। पर कई कंघियाँ टूट जाने पर भी जटा सुलझी नही। इस प्रक्रिया को देखकर किसी समझदार ने कहा, भई! यह इस प्रकार नहीं सुलझेगी। इसके लिए उस्तुरा लाओ और सिर पर फेर दो। इसे सुलझाने

का सिर्फ यही मार्ग है। रूढियो को सुलझाने का तरीका उनका त्याग ही है। अन्य किसी प्रकार वे नही सुलझेगी। वहनों को, विशेप कर मारवाडी वहनो को रूढियो का वहिष्कार अवश्य करना है। यह व्यक्तिगत रूप से भी हो सकता है और सामूहिक रूप से भी। मै यह नही कहता कि विना सोचे-समझे ही कोई काम कर डालो। जो कार्य चिन्तन पूर्वक सोच समझ सहित होता है वह ठीक और स्थायी होता है। मै आज वहनो से जोर देकर एक ही वात कहूँगा कि वे प्रत्येक कार्य का पूर्ण चिन्तन करे कि अमुक कार्य क्यो किया जा रहा है? उसका क्या उपयोग है? उसके साधन कौन से होने चाहिए? यदि प्रत्येक कार्य के पहले वहनें 'क्यो' का प्रश्न लगाए रखेगी तो वे अपने आप मे वहुत सुधार कर लेगी और व्यवस्थित वन जाएगी। चिन्तन परिष्कार का प्रथम मार्ग है। इसी के सहारे वड़े-वड़े परिवर्तन हुए हैं। वहनो में चिन्तन की मात्रा है तभी तो वे गले का सूत पैरो में नही पहिनती और पैर के गहने गले में। यह विवेक का ही परिणाम है कि वे इस प्रकार विपर्यय नही करती। महिलाएँ जो अपने घर का सचालन करती है, उनमे क्या चिन्तन का पुट नही है? वहने चिन्तनशील हैं, वे विचार भी करती है किन्तु आवश्यकता इतनी-सी है कि वे इसे और विकसित करे तथा ऊँचे और अच्छे कामो में लगाएँ। थोडे ही समय वाद वे देखेंगी कि उनमें कितना परिवर्तन आ गया है तथा वे किस प्रकार अपने लक्ष्य के निकट हो रही है। चिन्तन का वहुत महत्त्व है। उससे वहुत वडी स्पष्टता आ जाती है और आगे विकास की धाराएँ खुलने लगती हैं। किसी प्रकार की उलझन नही रहती। जैसे आप जानती है कि जीवन क्यो और किस न्याय से है? यह जानना आवश्यक भी है क्योकि हमारा मार्ग न्याय का है। हम न्याय से हट कर एक इच भी नही चल सकते। इस न्याय में सारा रहस्य भरा हुआ है। जो इसे नही जानता, वह कुछ नही जानता।

एक वार आचार्य भिक्षु के पास एक भाई आया। उसने कहा, मेरे से चर्चा करो। मेरे से किसी विषय पर वहस करो। आचार्यश्री ने कहा—भाई, जव तुम ज्ञानी होने का दावा करते हो तो तुमसे क्या विवाद किया जाय? अन्तत उसके अत्यन्त आग्रह पर आचार्य भिक्षु ने कहा—तुम सज्ञी हो या असंज्ञी?

थोडा विचार करने के वाद उसने उत्तर दिया—सज्ञी।

आचार्यश्री ने पूछा—किस न्याय से?

उत्तरदाता घवडाया और सोचने लगा उत्तर ठीक नही दिया गया। तत्काल वदला। कहा—नही, नही, असज्ञी।

आचार्यश्री ने पूछा—किस न्याय से ?

वह पुनः दुविधा मे पड गया और कहा—दोनों हूँ।

आचार्यश्री ने कहा—बताओ किस न्याय से ?

वह घबडा कर बोला—दोनो ही नही।

आचार्य भिक्षु ने कहा—कहो किस न्याय से ?

उसे यह "किस न्याय से" पूछा जाना बहुत बुरा लगा। क्योकि इसके आगे उसकी ज्ञान-पूंजी समाप्त हो गई थी। अत क्रोध आ गया। क्रोध के वशीभूत होकर उस ने आचार्यश्री की छाती मे एक मुक्का जमाया और बोला—आग लगे तुम्हारे इस 'किस न्याय' से और वह वहाँ से चला गया। तो मेरी सारी बातो का साराश यही है कि बहनो! इस न्याय को सीखो। बस इस एक बात में मेरी सारी अन्य शिक्षाएँ सम्मिलित है। कोई भी काम केवल कहने से मत करो। उसपर विचार करो, सोचो, सूक्ष्म चिन्तन करो। हेय उपादेय की दृष्टि से देखो। फिर अच्छी हो तो उसे स्वीकार करो अन्यथा त्याग दो। महिलाएँ अणुव्रत-आन्दोलन के प्रचार एवं प्रसार में समान योग दे सकती है। उनकी योग्यता के बारे में मैं तनिक भी सदिग्ध नही, पर उन्हे अपने आप को और व्यवस्थित गढ लेना है। वे अधिक दिखावट और कोरी 'पोजीशन' मे न फँसें। अपना जीवन सदा सात्विक बनाये। बाह्य सौन्दर्य के प्रसाधनो में भी उन्हें समय नही गँवाना चाहिए क्योकि आखिर ऊपर का सौन्दर्य टिकने का तो है नही। स्थायी तो आत्म-सौन्दर्य ही होगा। मै समझता हूँ आत्मिक सौन्दर्य प्राप्त करने के लिए उनके समक्ष अणुव्रत एक श्रेष्ठ मार्ग है। वे यदि इस पर चलना आरम्भ करती है तो अनेको को इस पर चलाने में समर्थ होगी, क्योकि वे बच्चों से लेकर बूढ़ो तक की विधात्री है। सबका संचालन वे अत्यन्त कुशलता एवं मधुरता से कर सकती हैं।

सुजानगढ़

८१ : प्रवचन का अर्थ

प्रात काल में प्राय. लोगों को खुराक लेने का अभ्यास होता है। इसी-लिए शायद अधिक लोग कुछ खा-पीकर ही आये होगे। पर उस खुराक से दूसरी खुराक और भी ज्यादा आवश्यक है। वह है—जीवन की खुराक। जिस प्रकार शरीर को चलाने के लिए नाश्ता लोगो ने आवश्यक मान लिया है, उसी प्रकार जीवन को चलाने के लिए प्रवचन भी आवश्यक है। प्रवचन

माने ओजपूर्ण वचन। वैसे हर एक बात कहना मात्र ही वचन होता है, पर प्रवचन वही होता है, जो विशेष रूप से कहा जाये। प्रवचन का एक दूसरा अर्थ है—शासन। निर्ग्रन्थ-प्रवचन यानी निर्ग्रन्थ का शासन। यह शासन कोई डडे का शासन नही होता है। यहाँ शासन का अर्थ—आत्मानुशासन या पथ-दर्शन है। यही धर्मगुरुओ का शासन होता है, पथ-दर्शन उनका कर्तव्य होता है। अत वे जनता का पथ-दर्शन करते हैं। उनके बताये मार्ग पर कोई चलता है या नही, यह चिन्ता उन्हें नही सताती। कोई चलता है तो इसका उनपर कोई एहसान नही होता और न कोई खुशी होती है। क्योकि इसमे आखिर खुशी की बात है ही क्या? यह तो जीवन का आवश्यक मार्ग है और अगर कोई उनके बताये मार्ग पर नही चलता तो उन्हे कोई दुख भी नही होता है। कष्ट तो स्वयं नही चलनेवालो को होनेवाला है, क्योकि वे जीवन की समरेखा पर नही चलते हैं। कार्य अपने विरुद्ध तो कोई फल देनेवाला है नही। जो जैसा करेगा वैसा भरेगा, यह निश्चित है। अत अगर कोई उनके मार्ग पर नही चलता है तो उन्हें क्या दुख? दुख तो उन्हे होता है जो उस पर नही चलते हैं। उनका कार्य है मार्ग बताना। वह कार्य वे निस्पृह भाव से करते हैं और करते रहेगे।

प्रवचन तीन प्रकार के होते हैं। एक तो सिद्धान्त का प्रवचन, दूसरा अनुभवपूर्ण प्रवचन और तीसरा लौकिक स्थिति के अनुकूल प्रवचन। प्रवचन केवल सुनने का ही नही होता है। लोगो को सिद्धान्त का प्रवचन सुनने की बडी रुचि रहती है। उनका विश्वास है—सिद्धान्त के वचन कानो में पड जाने से वे भव-भव में बहरे नही होगे। मैं इस बात का विरोध नही करता, पर इस सम्बन्ध में मेरा एक विचार अवश्य है कि आप जो यह मानें कि सिद्धान्त श्रवण मात्र से ही अपना कल्याण हो जायगा, यह बात सही नही है। सुनना केवल सुनने तक ही सीमित हो, इससे कल्याण होने वाला नही है। उससे कल्याण तो तब होगा जब वह अकर्मण्य नही रहकर क्रिया रूप से जीवन में उतरेगा। धर्मशास्त्रो में अनेक अच्छी-अच्छी बातें कही गयी हैं। लोग उन्हें सुनते भी बहुत है, पर सोचने की बात है उनका आचरण कौन करता है? इसीलिए मैंने एक पद्य में कहा था—"**धर्मशास्त्र के धार्मिकपन को आचरणों में लाएँ हम।**" अत आज यह आवश्यकता है कि सिद्धान्तो की बातो को, शिक्षाओं को जीवन में उतारा जाए। उनमें अनेक अच्छी-अच्छी बातें हैं, यह मानता हूँ। अत. उनके श्रवण से लाभ भी है, यह भी सही है, पर सुनना केवल सुनने तक सीमित रहे और उससे कल्याण होना मान लिया जाय, यह तो एक प्रकार से ईश्वर कर्तृत्व

का ही सिद्धान्त हो जाता है। इस प्रकार ईश्वर कर्तृत्व को मानकर लोग अकर्मण्य हो जाएँ, यह उपयुक्त नही है। इसी प्रकार सुनने मात्र से कल्याण मानकर अकर्मण्य हो जाना उपयुक्त नही है।

८२ : आर्षवाणी का ही सरल रूप

अणुव्रत भी तो आर्षवाणी का ही सरल रूप है। सिद्धान्तो में आचरण की अनेक बडी-बडी बातें है, पर सब मनुष्य उन सारी बातो को ग्रहण नही कर सकते। अत· अणुव्रत द्वारा हमने इतना तो कर दिया है कि मनुष्य कम से कम इतनी अहिंसा का तो पालन करे ही, पर इस ओर लोगो की प्रवृत्ति कम है। जिस प्रकार चलते-चलते सामने बाधा आ जाने पर चला नही जाता उसी प्रकार अणुव्रत के आचरण के बारे मे भी कुछ बाधाएँ है। वे दो प्रकार की हैं—एक तो है विचार की और दूसरी है करने की। विचार के बारे में कुछ लोगो के इसे समझने मे उलझनें पैदा हो गईं। वह यह कि कुछ लोग यह समझने लगे है कि यह उचित है या नही? कही यह गलत रास्ता तो नही है? बारह व्रतो की पहले व्यवस्था थी ही तो फिर अणुव्रतो की पुनर्रचना करने की क्या आवश्यकता पडी? कही इसके प्रवर्तन के पीछे अपनी ख्याति की भावना तो नही है। इस प्रकार के प्रश्नो से अणुव्रतो के आचरण में एक अवरोध पैदा हो गया है और जन-साधारण इससे कुछ-कुछ गुमराह हो गया है। उसने सोचा कि कुछ लोग जो ऐसी बाते करते है, सचमुच ही वह कही सच ही तो नही है, पर उन्होने यह नही सोचा कि अणुव्रतो में जो बातें बताई गई है वे उनके जीवन के लिए आवश्यक हैं या नही? जिस प्रकार भूखा मनुष्य सामने खीर आने पर यह नही सोचता कि यह कहाँ से आयी है? क्यो आयी है? यह किस चीज की बनी हुई है? वह तो तत्क्षण उसे खाने ही बैठ जाता है, उसी प्रकार जनता को भी चाहिए तो यह था कि जब उसके सामने यह योजना आयी तो क्यो और कैसे के प्रश्नों को छोडकर उसे अपने जीवन में स्थान देती। पर जीवन में किसे उतारना था। उन्हें तो बहाना बनाना था। कई मनुष्यो का यह स्वभाव होता है कि उन्हें जिस चीज को नही अपनाना होता है, उसके लिए बहाना ढूंढते हैं। मेरी समझ मे अणुव्रतो के बारे में भी उपरोक्त प्रश्नों का कारण बहाना ही हो सकता है। जिन लोगो को अणुव्रत अपनाना नही था और अपने आप को ऊँचा बनाए रखना भी आवश्यक था, वे लोग सीधे तो अणुव्रतो को गलत कैसे कह सकते थे। अत.

उन्होने ऐसे प्रश्नो का वहाना वनाकर जनता को गुमराह करना शुरू कर दिया। नही तो भला सत्य और अहिंसा के प्रसार के वारे मे किसी के ऐसे विचार हो ही कैसे सकते हैं ? पर खुशी की बात है कि प्राय लोगो के वे प्रश्न अब समाप्त हो गए हैं। अब प्राय लोग यह समझने लगे हैं कि इसके पीछे कोई दूसरा लक्ष्य नही है। यह तो जीवन-शुद्धि का ही एक मार्ग है। इस प्रकार यह वैचारिक वाधा तो एक प्रकार से समाप्त हो गयी है।

अणुव्रत के आचरण की दूसरी वाधा थी कि लोग यह समझने लगे कि कार्यशील व्यक्ति तो इसे अपना ही नही सकता। समाज की प्राय. यह धारणा थी और आज भी है कि यह तो रिटायर्ड व्यक्तियो का ही काम है, पर मेरी समझ में यह नहीं आया कि रिटायर्ड है कौन ? मरने से पहले तो किसी का रिटायर्ड होना मुश्किल है। हर व्यक्ति के पीछे कोई न कोई काम तो लगा ही रहता है। इस माने मे रिटायर्ड किसे माना जाय ? हाँ, मरने के वाद फिर कोई काम नही रहता, फिर व्यक्ति उस जन्म की दृष्टि से रिटायर्ड हो सकता है, पर तब जब मनुष्य स्वय ही नही रह जाता तो अणुव्रतो के आचरण का प्रश्न ही कहाँ रह जाता है। लोग समझते हैं—मरने के बाद मुक्ति मिल जाती है, पर यह सही नही है। जीवन तो आगे से आगे चलता ही जाता है। कर्मक्षय होने पर मोक्ष भी मिलता है, पर मरने पर नही मिलता। मोक्ष तो प्राय इसी जीवन मे मिल जाता है। यहाँ से देह-मुक्ति होने पर तो आत्मा उस स्थान में व्यवस्थित हो जाती है, जहाँ से आगे उसकी गति का सहायक तत्त्व नही रह जाता। अत कार्यशील जीवन में ही जो व्यक्ति अणुव्रती बनेगा, वह अपने जीवन मे शान्ति का अनुभव करेगा।

अणुव्रत का अर्थ है—शान्ति और आनन्द। पर वह आनन्द वस्तु-निरपेक्ष आनन्द है। पदार्थ-प्राप्ति पर जो आनन्द मिलता है वह तो क्षणिक है। वस्तु मिलती रहेगी, तब तक तो आनन्द रहेगा और वस्तु नही मिली तो फिर दु ख होने लगेगा। पर पदार्थ-निरपेक्ष आनन्द में यह बात नही है। उससे जो आनन्द होगा वह वस्तु-प्राप्ति पर निर्भर है ही नही, पर वह स्थायी होगा। जब भी मनुष्य उसका स्मरण करेगा, तभी उसे आनन्द मिलेगा। कल मैंने उपवास किया था। एक भाई ने पूछा—उपवास मे आपको शान्ति तो है ? मैंने कहा—आज मुझे कल से अधिक शान्ति है। क्योकि मैंने अनुभव किया कि उपवास में जो आनन्द मिलता है वह खाने में नही मिलता। उस आनन्द की वात ही और होती है। जैसा मैंने अनुभव किया वैसा ही शायद औरो को होता होगा। वह आनन्द मर कर प्राप्त किया जाये

यह तो है ही नही। इसीलिये अणुव्रत-आन्दोलन मृतको के लिए नही है, वह जीवित लोगो के लिए है। अपने-अपने काम में लगे हुए लोगो के लिए है।

आज इस अवसर पर मै आपसे इतना अवश्य कहना चाहूँगा कि आप अपने दिल से अणुव्रत के बारे मे जो भय और शकाएँ है, उन्हे निकाल दे। बहुत से लोग सोचते है—अणुव्रत तो बहुत भारी चीज है, पर वास्तव में बात ऐसी नही है। आप कम से कम एक बार अणुव्रत की नियमावली को तो ध्यानपूर्वक पढे। उसके बहुत से नियमन तो सहज ही है। कुछ ऐसे नियम है, जिनमें शायद आप कुछ अटक भी जाये, पर उस विषय को आप आलोचना-प्रत्यालोचना और चिन्तन के लिए रहनें दें। धीरे-धीरे आप में स्वय एक अणुव्रत के अनुकूल मानसभूमि तैयार हो जाएगी। मैंने देखा—यहाँ अभी दो दिन पहले खूब जोर से वर्षा आयी कि बहुत से घर पानी से घिर गए। धीरे-धीरे वह पानी बह गया या सूख गया। आज लोग अपने घरो में कुछ अटके हुए पानी को अलग-अलग तरीको से निकालने का प्रयत्न कर रहे है। इसी प्रकार आप भी बहुत से अणुव्रत नियमो से तो सहज ही निकल जाएँगे। कुछ व्रतो में जहाँ आप अटक जाते है, वहाँ फिर आपको दूसरे तरीके भी अपनाने पडेंगे। जहाँ चाह है, वहाँ राह भी मिल जाएगी। अत आप कम से कम अणुव्रत के नियमो को अपने आत्मा-लोचन के साथ पढें यह अवश्य हो।

मेरी एकमात्र आन्तरिक तडप है कि कम से कम मेरे निकट रहनेवाले लोगो का जीवन ऊँचा हो। मै समझता कि यहाँ बैठे लोग मेरी भावना को कितनी समझते है, पर अगर आप मेरी दृष्टि को सफल बनाना चाहते हैं तो सबसे पहले आप लोगो को अपने जीवन को शुद्ध बनाने की आवश्यकता है। कुछ लोग छोटी-छोटी बातो मे मेरी दृष्टि को खीचने का प्रयत्न करते रहते हैं, पर मै जो चाहता हूँ, उस बात को समझने वाले कितने लोग होगे, यह एक समझने की बात है। यद्यपि मै छोटी-छोटी बातो को भी कम महत्त्व नही देता। उनका सकलन ही तो आखिर जीवन है, पर साधारण बातो में मेरी दृष्टि का उल्टा-सीधा अर्थ लगा कर दूसरो की जबान बन्द कर देना यह कोई विशेष समझ की बात नही है।

सुजानगढ,

८३ : श्रामण्य का सार : उपशम

कल रात को प्रतिक्रमण किया। एक मुहूर्त लगा होगा। दूसरे मुहूर्त में 'खमत खामणा' किए, क्षमा दी और ली। व्यवहार पूरा हुआ। यह सारा कार्य सीमित था। यह क्षमा का आदान-प्रदान उन्ही से हुआ जो मेरे सामने थे। किन्तु इतने से भी मैंने स्वय को भार-मुक्त पाया।

अब मूक 'खमत खामणा' शुरू हुई। स्मृति का प्रस्थान हुआ। जो जो साधु-साध्वियाँ सामने नही, उन्हे याद किया। श्रावक-श्राविकाओ तथा जिन्हें मै जानता हूँ, उन्हे याद किया, जिनसे साक्षात् परिचित नही हूँ उन्हें भी नही भूला, वर्ष भर के मृदु-कटु व्यवहारो को याद किया—मैं ससीम से असीम की ओर चल पड़ा। जान-अनजान में हुई अपनी भूलो के लिए मैंने सब से क्षमा माँगी और उनकी भूलो को भुलाया। मेरा हृदय सीमा-भेद से मुक्त था।

भगवान् ने कहा—**'आय तुले पयासु'** अर्थात् सब को आत्म-तुल्य समझो। आगे कहा—**'अत्तसमे मनिज्ज छप्पिकाए'**—छवो जीव निकायो को आत्म तुल्य समझो। पहले में जो अभेद से कहा, वही दूसरे मे भेद-दृष्टि से कहा है। आत्म-तुला की बात दोनो में समान है। आगे चलकर कहा—**'उपसम सारं खु सामण्णं'**—जीवन का सार है—श्रामण्य और श्रामण्य का सार है उपशम। इस वाक्यत्रयी में लगता है, भगवान् ने त्रिलोकी को समेट लिया। वैदिक पुराणो के अनुसार विष्णु ने और जैन पुरानो के अनुसार विष्णुकुमार ने तीन पैरो में सारे विश्व को समेट लिया—ऐसा कहा जाता है। समता का संसार इस त्रिपदी में समाया हुआ है।

विरोध दो में होता है। लडाई, झगडा, वैमनस्य, आदि आदि सारे विग्रह दो में होते हैं। क्षमा का सम्बन्ध भी दो से है। एक व्यक्ति कलह को शान्त करना चाहे, क्षमा लेना देना चाहे, दूसरा न चाहे तब क्या किया जाए? यह दुविधा है।

भगवान् ने तीसरे वाक्य में इसका समाधान दिया है—शिष्य ने पूछा—भगवन्! दो साधुओ में अधिकरण—कलह हो गया। एक साधु उसे शान्त करना चाहता है, दूसरा नही चाहता। एक उसे क्षमा देता है लेता है, दूसरा उसे न आदर देता है, न बोलता है; तब क्या किया जाय? भगवान् ने कहा—दूसरा न बोले, उसकी अपनी इच्छा है। आदर न दे, उसकी अपनी इच्छा है, क्षमा न दे, न ले, उसकी अपनी इच्छा है। किन्तु जो क्षमा लेता-देता है वह आराधक होता है। जो क्षमा न लेता, न देता वह विराधक होता है। कारण, यह श्रामण्य उपशम सार है।

इस वाणी का सार इतना ही है कि विरोध दो में भले ही हो, क्षमा एक ओर से भी हो सकती है।

सत्य यह है कि हम अपनी ओर देखना सीखें, अपनी चिन्ता करना सीखें। हमारा जितना समय दूसरो की चिन्ता में बीतता है, उसका थोडा भाग भी अपनी चिन्ता मे नही बीतता। इस वृत्ति को बदले बिना शान्ति सम्भव नही। सहवास मे वैमनस्य सम्भव है। वैमनस्य आया, कि अशान्ति आई। दोनो साथ साथ चलते है। शान्ति का साधन सौमनस्य है। सौमनस्य का मार्ग है—हम दूसरो के अपराधो की गाँठ बाँध न बैठें। उन्हे बडी सतर्कता से याद करे। दिल से निकाल फेके और फिर सदा के लिए भूल जांय। यह स्मृति और क्षमा का मार्ग ही शान्ति का मार्ग है।

अपराध दूसरो द्वारा भी हो सकता है, अपने द्वारा भी हो सकता है। ऐसा कौन है जिससे कभी भूल न हो। भूल की विस्मृति के लिए उसकी स्मृति करना अच्छी बात है। उपशम का मन्त्र सीखे बिना उसकी कोरी याद खतरनाक होती है। हमारे लिए उपशम जीवन घूंटी है। उसे भला हम कैसे भुलाएँ?

जो हमारे मित्र है, अथवा जिनसे हमारा कोई वास्ता नही उन्हे क्षमा करना व उनसे क्षमा लेना बड़ी बात नही है। बडी बात वह है जिनसे हमारे सम्बन्ध कटु हो गये हों, जिन्हें हम शत्रु मान बैठे हो, उन्हे क्षमा देना और लेना। जहाँ सम्बन्ध होता है वहाँ कटुता भी हो सकती है। कटुता का अन्त क्षमा मे हो—यही है, 'खमत खामणा' का गूढ रहस्य।

क्षमा देने लेने में पहले पीछे मत देखो। यह ऐसा कार्य है जो आंख मीच कर किया जा सकता है। बडे से बडे अपराध को भी सहसा भूल जाओ। उदायन को याद करो। वह चडप्रद्योत को जीत, बन्दी बना, अपनी राजधानी को जा रहा था। बीच में सम्वत्सरी आ गई। प्रतिक्रमण किया, बडों, छोटों अधिकारियो और कर्मचारियो से, सबसे क्षमा माँगी। सब ने क्षमा दी। चण्डप्रद्योत से भी माँगी। वह बोल उठा—यह कैसी क्षमा की माँग? बन्दी राजा बन्दी बनाने वाले राजा को क्षमा करे? यह नही हो सकता। उदायन ने सोचा—ठीक कह रहा है। वह उठा। चण्डप्रद्योत के बन्धन खोले, गले मिले, क्षमा लेने देने में सारे विरोध भूल गये। यह बन सकता है किन्तु हृदय विशाल होना चाहिए। सामने वाला क्षमा न दे तब भी अपना हृदय सरल हो तो 'खमत खामणा' हो सकते हैं। किन्तु दोनों ओर से हृदय सरल हो जाय उसका फिर कहना ही क्या?

'खमत खामणा' का तत्त्व बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। वह अगम्य हो रहा

है। मैत्री की महिमा को बहुत कम लोग समझते हैं। प्रतिकार में जो रस आता है वह मिल कर चलने में नही आता—यह कैसा मनोभाव है। थोडी थोडी बात पर लोग लड पडते हैं। सहिष्णुता मानो उठ ही गई हो। मानव-जीवन विरसता में परिणत होता जा रहा है। मैत्री की महिमा प्रकाश पाये—इसकी बहुत बडी अपेक्षा है।

अब मैं अपनी बात कहता हूँ। चारो सघ सामने है। साधु, साध्वियाँ, श्रावक और श्राविकाएँ। मेरा सब से काम पडता है। मैं बहुतो के लिए कभी प्रसन्नता और कभी क्षोभ का हेतु भी बन जाता हूँ। किन्ही की इच्छा पूरी कर पाता हूँ और सम्भव है किन्ही की नही भी कर पाता। और यह सम्भव भी कैसे हो कि सब की सारी इच्छाएँ पूरी हो जाएँ। बहुत सारे लोग दर्शन के लिए आते हैं। मैं कार्य-व्यस्त होता हूँ तब उन्हे पूछ भी नही पाता। किसी-किसी से महीनों तक बोलने का काम नही पडता। आजकल आगम-कार्य हो रहा है। व्यस्तता और अधिक है। मैं कभी कभी वन्दना की स्वीकृति भी नही कर पाता। मेरी स्वीकृति श्रद्धालुओ के लिए निधि हो सकती है, पर मैं उसे भी भूल जाता हूँ। इसके लिए मैं अपने को 'अपराधी' कहूँ तो कह सकता हूँ।

पिछले वर्ष सघर्ष की चिनगारियाँ उछली। उस स्थिति मे समभाव रखना बहुत कठिन था। स्थिति विशेष में ऊँची नीची भावना आ सकती है, आई भी है। किन्तु उसे बनाए नही रखना है। आज हृदय सरल होना चाहिए और है भी। सघर्ष शान्त हो गया, सारी स्थिति शान्त है। शान्ति हृदय की सरलता से ही हो सकती है। कुछ साधु संघ से बिछुड गये। उनसे भी हमारा विरोध नही होना चाहिये। वे अपना काम करते हैं, हम अपना काम करे। विरोध रखना उचित नही। किसी को विरोधी मान उसके कार्य मे बाधक मत बनो। विरोध अपना दोष है, उससे अपना ही अहित होता है।

मैं आज सब को याद कर रहा हूँ। मैंने आचार्य पद के नाते किसे उलाहना दिया, किसे टोका, किसे कुछ कहा, उस सब की याद हो रही है। सुदूर की स्मृतियाँ आ रही हैं। दृष्टियाँ चारो ओर बिखर रही है। ऊँची नीची भावना मिट रही है। मन हलका हो रहा है। यह कितनी शुभ और आनन्द की वेला है।

चातुर्मास के लिए बहुत प्रार्थनाएँ थी। वह यहाँ हुआ। बीदासर वालो को अप्रिय लगा। यह होता भी है। तीव्र अभिलाषा यदि पूरी नही होती तो वहाँ एक चोट सी लगती है। उन्हे भी मैं इस अवसर पर याद किये लेता हूँ।

दूसरो की ओर देखना बहुत अच्छा नही। हित का मार्ग यह है कि अपनी ओर देखा जाए। बैर से अनिष्ट दूसरे का नही होता, अपना होता है। यह अध्यात्म दृष्टि है। अवैर-भाव इसी से लाया जा सकता है। विरोध को समभाव से सुलझाना सीखो। अदालतों के दरवाजे मत खट-खटाओ। समझौते से काम लो। क्षमा, समझौता, मैत्री ये जीवन के महान् गुण हैं। मानवता यही है। सम्बत्सरी जैसे पर्व से विकास का मार्ग खुले, प्रकाश मिले—इसी सबल को साथ ले हम अगले वर्ष में प्रवेश करे।

पर्युषणपर्व, '५७

८४ : आवरण

सब लोग अपने-अपने धर्म की प्रशसा करते है और यह स्वाभाविक भी है। जो मनुष्य जिस वातावरण में पलता है, वह स्वभावत· ही उसे अच्छा लगने लगता है। वह उसकी अच्छाई बताए, इसमें कोई समस्या भी नही है। समस्या तब होती है, जब मनुष्य दूसरो की निन्दा करने लग जाता है। निन्दा सुनकर कौन मनुष्य भडक नही उठता और बाद मे लडाई की नौबत तक आ जाती है। वास्तव में धर्म का स्वरूप ही यही है कि कोई किसी की निन्दा न करे। अपनी आत्मा की साधना करे, पर शास्त्रो में धर्म को भी सावद्य कहा गया है। सावद्य धर्म यानी वह धर्म जो हिंसा पर आधारित हो। प्रश्न होगा—धर्म और फिर हिंसात्मक —ये दोनो बाते एक साथ कैसे होगी? पर यह औपचारिक वाक्य है। धर्म शब्द से लोगो को प्यार है। अत उस नाम से हिंसा को भी वहाँ आश्रय मिलता है। वास्तव में झूठ भी बिना सत्य के नही चल सकती। जो लोग झूठ बोलते हैं, वे भी कहेगे तो यही कि उन्हे झूठ से बडी घृणा है। इससे बहुत से लोग उसके कहने में फँस जाएँगे और झूठ भी सत्य के आवरण में विकसित होता रहेगा। यह बात दूसरी है कि झूठ भी अधिक दिनो तक नही चल सकता, पर जितना चलता है, उतना सत्य के आवरण में ही चल सकता है। झूठ झूठ के आधार पर एक मिनट भी नही चल सकती। आज जो महाविनाशक शस्त्रो का निर्माण हो रहा है वह भी शान्ति और रक्षा के नाम पर ही हो रहा है। वास्तव में शान्ति और सुरक्षा का प्रश्न आज इतना मुख्य नही है, जितना अपने अधिकार का प्रश्न है। प्रत्येक शक्तिशाली राष्ट्र अपने अधिकारो की सुरक्षा के लिए इनका निर्माण कर रहा है। भला इन विषाक्त शस्त्रो से शान्ति

और सुरक्षा की बात सोची भी कैसे जा सकती है? आज तो उसका नाम सुनते ही दुनिया डरने और थर्राने लगती है। फिर भी शक्तिशाली राष्ट्र शान्ति के नाम पर उनका निर्माण करते बाज नही आते।

शान्ति और शस्त्र-निर्माण ये सर्वथा भिन्न दिशाएँ है और उनका प्रदर्शन तो निश्चय ही भय का मार्ग है। साधुओ के रजोहरण में एक लकडी (डाँडी) रहती है। उनके लिए यह विधान है कि वे उसको खुली नही रख सकते। क्योकि उसको खुली रखने से उससे पशु आदि डर जाते है और वे उसे किसी को डराने के लिए तो रखते नही, अत वे उस पर एक कपडा लपेट लेते है, जिससे कोई उसे देख कर डर नही जाए। शान्ति का स्वरूप भी तो यही है। उसे शस्त्रास्त्रों के निर्माण में देखना सचमुच ही अहिंसा की ओट में हिंसा का पोषण करना है।

सीधे तौर पर पाप को पाप कहने से उसका उघाड हो जाता है। अत उसे धर्म के नाम पर ढक कर खुले बाजार वेचा जा सकता है। आज जो जगह-जगह हडताले हो रही है, उनमें क्या किसी राजनैतिक दल विशेष का हाथ नही है? उसे आदर्श की ओट में कुछ लोग भड़का रहे है। वे लोग मजदूरो को तो बड़े मीठे-मीठे आश्वासन देंगे, पर अन्दर मे न जाने क्या-क्या राजनीति चलती है। हमारे शरीर की भी तो यही अवस्था है। अन्दर से अशुचिपूर्ण है और अशुचि भी ऐसी, जिसे देखते ही घृणा हो जाती है, पर ऊपर चमडी का आवरण ऐसा है कि जिससे सबको यह इसमें आकर्षण लगता है। आवरण में बडी भारी शक्ति होती है। दश-वैकालिक चूर्णि में एक कथा आती है—'एक माली फूल की टोकरी को लेकर जा रहा था। सडक पर चलते-चलते उसे उत्सर्ग की बाधा हो गई। रास्ते में उत्सर्ग के लिए कहाँ स्थान मिलता। सयोगवश एक मिनट तक रास्ते पर कोई दीख नही पडा और मौका पाकर वही उसने अपना काम निकाल लिया। थोड़ी देर में लोग सामने आते दिखायी दिए। वह बड़ा शर्मिन्दा हुआ। क्योकि आखिर है तो यह सभ्यता के विरुद्ध की चीज, पर तत्क्षण उसे एक युक्ति सूझ गई। अपनी टोकरी के फूलो को उस गन्दगी पर डालकर उसकी पूजा करने लगा। लोगों ने पूछा—यह क्या करते हो? उसने जवाब दिया—यहाँ अभी अभी एक देवी प्रकट हुई हैं। नाम है उसका 'हिंग्वा देवी'। अत उसकी पूजा कर रहा हूँ। देवता का नाम सुनकर कौन झुक नही जाता। सबलोग उसके सामने सिर झुकाने लगे। उन्हें क्या पता था कि यह आवरण का खेल है।

आवरण से जो चीज अच्छी लगती है, उसकी सुन्दरता में सन्देह ही है। वास्तव में सुन्दर चीज वही है, जो निरावरण होकर भी सुन्दर

लगे। बच्चे का नगा शरीर भी असुन्दर नही लगता, क्योकि वह वास्तविक सौन्दर्य है। इसीलिए कहते है—तीर्थंकरो के शरीर में सहज सौन्दर्य होता है। उस पर कपडा न होने पर भी वह सबको सुन्दर अविकृत लगता है। आज मनुष्य का सहज स्वभाव विकारो से आवृत्त हो रहा है। अतएव उसमे सलेश है।

इसी प्रकार धर्म भी कई गलत चीजो के लिए आवरण बनकर उन्हें दूषित कर रहा है। एक भिखारी जो लौकिक और आध्यात्मिक दृष्टि से पतित है, वह भी धर्म की छाप लगाकर दान माँग सकता है। जहाँ कुछ भी साधना नही है, वहाँ भी धर्म का नाम इतना प्रिय है कि उसे सुनते ही बहुत से लोग दान देने को तैयार हो जाते हैं। दान मे भी अगर कोई यह कह दे कि मैं दान माँगता हूँ, पर मुझे देने से पाप लगेगा, तो शायद ही कोई मनुष्य उसे दान देना चाहेगा, पर धर्म का नाम इतना मीठा है कि उसकी छाया मे पाप भी चलता है।

इसीलिये स्वामीजी ने कहा—धर्म के नाम से ही किसी चीज को मत अपनाओ। नाम की दृष्टि से गाय और आक दोनो का दूध ही है, पर यदि कोई गाय के दूध के बदले आक के दूध को काम में ले लेता है, तो उसकी क्या दशा होगी? यद्यपि आक का दूध अलाभप्रद है, ऐसी बात नही। उसे भी वैद्य लोग दवाइयो मे काम लेते है, पर उसे गाय के दूध के स्थान पर काम में लेना भयकर भूल होगी। उसी प्रकार हिंसा-अहिंसा, पाप-धर्म का विवेक आवश्यक है। नही तो फिर **"दुविधा में दोनों गए, माया मिली न राम"** वाली कहावत हो जाएगी। इसीलिये स्वामीजी ने कहा—हर चीज को अपने मूल्य से आको। हाँ, यह माना कि समाज मे रहने वाले मनुष्य को बहुत से व्यापार-–धन्धे या सामाजिक कार्य करने पडते है, पर इसलिए कि वे समाज के लिए आवश्यक हैं, आवश्यक मान लेना जरूरी नही है। समाज में बहुत से काम चलते है। कुछ आवश्यकता के लिए चलते है, कुछ अनावश्यक ढर्रे के रूप मे भी चलते हैं। जो अनावश्यक है, उन्हें आवश्यक मान लेना जिस प्रकार सही नही है, उसी प्रकार सामाजिक आवश्यक कामो को धर्म में मिला देना सही नही है। माना कि व्यापार करना सामाजिक प्राणी के लिए आवश्यक है, पर इतने मात्र से कि वह आवश्यक है, धर्म तो नही हो जाता। शास्त्रो मे धर्म का लक्षण बताते हुए लिखा है—**"अहिंसा संयम तव लक्खणो धम्मो"** धर्म की यह कसौटी है। किसी भी कार्य मे धर्म है या नही? यह देखना है तो उसे इसी कसौटी पर कसकर देख लो कि उसमें अहिंसा, सयम और तप है या नही। जैसे एक व्यक्ति मौन साधना करता है, वह धर्म है या अधर्म?

स्पष्ट है—वह धर्म है। क्योकि उसमें वाणी का संयम है। इसी प्रकार झूठ बोलना स्पष्ट पाप है। कोई मनुष्य अपने स्वार्थ के लिए किसी की प्रशसा करता है वह धर्म है या अधर्म ? यहाँ हमें देखना होगा कि उसकी इस क्रिया मे अहिंसा, सयम व तप की प्रवृत्ति होती है या नही, यदि होती है तो वह धर्म है और नही होती है तो वह अधर्म स्पष्ट है।

इसी प्रकार किसी को देने में यदि अहिंसा पुष्ट होती हो तो वह धर्म है। यदि ऐसा नही होता है तो वह धर्म कैसे होगा ? हो सकता है, वह सामाजिक है। पर जब अहिंसा नही है, तो वहाँ धर्म तो हो ही नही सकता है, इसीलिये एक कविता में कहा है

दान वही जहाँ पुष्ट अहिंसा, दया वहीं जहाँ नहिं हो हिंसा ॥
दान-दया का आडम्बर रच, मत हो शोषण भ्रष्टाचार ॥

यद्यपि बात थोडी कडी है, पर है सच्ची। कोई वैद्य दवाई देता है, वह कडवी होती है, पर उसे विश्वास है कि यह कडवी होते हुए भी मेरे लिए अच्छी है, मैं अच्छा हो जाऊँगा तो वह उसे आँख मूंद कर भी पी लेता है। उसी प्रकार बात चाहे कड़ी हो, पर है सही कि वही दान आध्यात्मिक है, जहाँ अहिंसा पुष्ट होती हो।

कई व्यक्ति दूध के लिए गौशाला का प्रबन्ध करते है, इससे समाज के अन्य लोगो को भी दूध मिल जाता है। लोग कहते है—उन्होने बडे धर्म का काम किया, पर हमारा यहाँ मत-भेद है। यद्यपि कोई ऐसा काम करता है तो हम रुकावट नही डालते, रुकावट डालना तो उल्टी हिंसा है, पर जहाँ सही तत्त्व बताने का प्रसग सामने आएगा, वहाँ पर हम स्पष्ट कहेंगे कि यह समाज की व्यवस्था है या धर्म की ? बहुत से लोग गौशालाओ के दूध का पैसा भी लेते हैं, तब तो धर्म पैसो में बिकने लगेगा, पर यह होता नही। अत हमें समाज की आवश्यकता पर धर्म का आवरण नही डालना चाहिए, हर बात को स्पष्ट रखना आवश्यक है

अपनी दुविधाओ को मिटाने के लिए मनुष्य कार्य करते हैं। यदि मनुष्य उसे अपना कर्तव्य समझ कर करेगा तो इससे उसे अपने कर्तव्य-पालन की शिक्षा भी मिलेगी। उसे धर्म का जामा पहनाने से तो दो हानियाँ होगी—एक तो लोगो को मीठे के नाम से झूठा खाना पडेगा और दूसरे उसे लौकिक प्रवृत्तियो को भी धर्म मानना पडेगा। आज कई जगह लौकिक प्रवृत्तियो को धर्म के नाम से पुकारा जाता है, पर आनेवाले युग की समाज-व्यवस्था में यह बात टिकने वाली नही है। वहाँ उन्हें व्यवस्था ही माना जाएगा और उसका पालन प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य होगा।

यदि किसी को धर्म शब्द से ही ज्यादा प्रेम है तो हमें इसका क्यो

विरोध करना चाहिए ? पर एक बात है, यदि इन्हें धर्म कहा जाए तो कम से कम आत्म-धर्म मे तो इसे नही मिलाना चाहिए। बाकी चाहे कोई शब्द को व्यवहार में लाएँ। हमें शब्दों की मारामारी में नही पडना चाहिए। हम इसे कर्तव्य कहते है और कई इसे धर्म कहते है। शब्द-प्रयोग के लिए झगडना अच्छा नही। एक दृष्टि से हम भी इसे लोक-धर्म कह सकते है। क्योकि धर्म की परिभाषा करते हुए कहा गया है :—"**धारणात् धर्म मित्या हुः धर्मो धारयते प्रजाः**"—धारणा करने से धर्म शब्द धर्म कहलाता है। जो आत्मा को धारण—रक्षित करे, वह आत्मधर्म और जो लोक को धारण करे, वह लौकिक धर्म लेकिन रीति-रिवाजो की पूर्ति के लिए जो लौकिक विधियाँ अपनाई जाती है, उन्हें हमे लौकिक धर्म कहने में कोई आपत्ति नही। हमारा विरोध, सिर्फ इतना ही है कि इसे आत्म-धर्म नही कहा जाए।

एक प्रश्न आता है—यदि हम इसे धर्म नही कहेगे तो लोग इन कामो को करेगे नही, पर मैं कहूँगा कि—लोग कहते है या नही करते, इस बात पर धर्म की व्याख्या नही बदलती। यदि तत्त्वतः देखें तो धर्म का लक्षण ही निवृत्ति है। एक व्यक्ति दीक्षा लेता है। दीक्षा लेना निश्चित ही धर्म है, पर वह लौकिक प्रवृत्तियो से हटता है और आध्यात्मिक प्रवृत्ति में प्रवेश करता है। यदि लौकिक प्रवृत्तियाँ धर्म होती तो वह उनसे विमुख क्यो होता ? साधु की बात जाने दें। पर प्रतिमाधारी श्रावक भी तो लौकिक प्रवृत्तियों में भाग लेता। वह किसलिये ? इसलिये कि कर्तव्य से धर्म का स्थान बहुत ऊँचा है और हम भी इन कार्यों की मनाही तो करते ही नहीं है। हम तो कहते हैं कि वस्तुस्थिति यही है। फिर कोई मनुष्य जैसा करता है, वह उसकी अपनी इच्छा पर निर्भर है। जहाँ विवेचन चलता है, वहाँ तत्त्व को स्पष्ट रखना ही चाहिए। यदि ऐसा नहीं होगा तो फिर विवेचन गलत हो जाएगा। इसमें मैं किसी धर्म–विशेष की मान्यता का खण्डन नही कर रहा हूँ। मेरा काम है—अपनी मान्यता स्पष्ट रखना।

हाँ, इसमें एक बात और ध्यान में रखने की है और वह यह कि जो भी कार्य हो वह वस्तुत. विवेकपूर्वक हो। अन्यथा लौकिक कार्य करने की तो इच्छा नही होती और उसे पाप बताना, यह बहाना मात्र है। जिस प्रकार किसी के घर में ५ मटके पानी के भरे पडे है और कोई राहगीर पीने के लिए पानी मागे, तब यह कह देना कि मै तो पानी नही पिलाऊँगा, क्योकि पानी पिलाने में भी हिंसा होती है। वास्तव मे उसे पाप का डर नही है। कंजूसी को छिपाने का बहाना है। यदि वास्तव में ही उसे पाप का डर लगता है, तो उसे अपने घर पानी इकट्ठा ही नही करना चाहिए था। पर उसका सचय करते समय वह धर्म-अधर्म को नही सोचता

और खर्च करते समय धर्म झट सामने आ जाएगा। यह मनुष्य की अपनी और साथ ही साथ धर्म की विडम्बना है। अत जो बात जैसी है, उसे वैसी ही समझ लेना यह आवश्यक है। आवश्यकतावश करना पडता है, यह बात दूसरी है, मनुष्य खीर खाता है और रोटी भी खाता है। अपनी-अपनी जगह दोनो ही आवश्यक हैं, पर उनका विभेद समझना आवश्यक है। एक शका होती है—मनुष्य इन्हें यदि पाप समझ कर नही करेगा तो इससे अधिक उसके आश्रित प्राणियो को घात की हिंसा उसे लगेगी और वह तो शास्त्रो में भी समा गया है कि अपने आश्रित प्राणियों के खान-पान का विच्छेद करना, अहिंसा अणुव्रत का अतिचार है। गाय का दूध तो निकाल ले और उसे चारा न डाले यह कैसा न्याय? उन्हे अपने आश्रित तो रखे पर उनकी देख भाल न करे यह अन्याय नही तो और क्या है? लौकिक धर्म में तो ये सब कार्य करने ही पडते हैं। अध्यात्म साधना मे कोई किसी को आश्रित नही रख सकता, तब फिर रक्षा और अरक्षा का प्रश्न ही कहाँ रहा? साधु बनने पर माता पिता भाई-बधु आदि कोई भी उसके आश्रित नही रहता। यहाँ तो फिर अपने-अपने स्वतन्त्र है, इसलिये आश्रित की रक्षा करना लोकधर्म है।

८५ : आदर्श विचार-पद्धति

धार्मिक को अपने पथ पर अग्रसर होते वक्त प्राय बाधाएँ सामने आती ही है। भगवान् महावीर को अपनी साधना-काल में कितने मरणतुल्य कष्ट सहन करने पडे थे। जगह-जगह उनका तिरस्कार हुआ था, पर वे साधक थे। सब कुछ समभाव से सहन करते जाते थे। तेरापन्थ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु स्वामी को भी अपने जीवन में क्या कम कष्ट हुए थे? और तो क्या ५ वर्षों तक तो उन्हे पूरा आहार-पानी भी नही मिला था। अपने संस्मरण सुनाते हुए उन्होने एक जगह कहा है—"उस काल में हमें कभी एक समय भोजन मिल जाता तो दूसरे समय नही मिलता। कभी दूसरे समय मिल जाता तो तीसरे समय नही मिलता। इस प्रकार ५ वर्षों तक तो हमने लगातार पेट भरकर रोटी नही खायी।" आप सोचिए इससे बढकर और क्या कष्ट होगा? एकबार उनसे प्रश्न किया गया—स्वामी जी क्या आप की भिक्षा मे कभी घृत भी आता है? स्वामीजी ने कहा—हाँ, पाली (एक शहर) के बाजार में विकता हुआ तो बहुत देखते हैं। इसी प्रकार कपडे और मकान की समस्याएँ उनके सामने मुंह बाए खडी रहती थीं। कभी वे किसी मकान में ठहर जाते तो विरोधी लोग समाज का भय

दिखाकर या अन्य किसी प्रकार से जगह देने वाले गृहस्थ को फुसला कर उन्हें उस स्थान से निकाल दिया करते थे। ऐसी ही एक घटना उनके कष्टमय जीवन की एक झाँकी हमारे सामने प्रस्तुत करती है। एकबार वे एक दूकान में ठहरे। उन्होंने मालिक को पहले ही अच्छी प्रकार से पूछ लिया था। पर बाद मे वह समाज के दबाव से विचलित हो गया और उसने स्वामी जी को अपना मकान खाली करने के लिए कहा। स्वामीजी बिना मालिक की आज्ञा के वहाँ कैसे रह सकते थे? अत: उन्होंने स्वय जाकर एक दूसरी दूकान अपने ठहरने के लिए निश्चित की और दिन रहते वे उसमें जाकर ठहर गए। इधर रात में जोरदार वर्षा हुई और वर्षा के वेग वह पहलेवाली दूकान गिर पडी। सारे गाँव मे हल्ला हो गया। लोग कहने लगे—इसने स्वामीजी को निकाल दिया, इससे इसका मकान गिर गया, पर स्वामीजी बडे शान्त रहे। यद्यपि उनके लिए यह गर्व करने का अवसर था, पर उन्होंने कहा—अगले का नुकशान हो गया पर हमारा तो उसने भला ही किया। यह एक घटना ही नही अनेक घटनाएँ उनके जीवन की कठिनाइयो के बारे में प्रकाश डालती हैं। ये घटनाएँ आज भी तेरापन्थ साहित्य मे सुरक्षित हैं।

हम स्वामीजी के प्रति श्रद्धा केवल इसीलिए नही करते हैं कि वे हमारे गुरु थे। वे हमारे गुरु तो थे ही पर उन पर हमारी श्रद्धा का कारण है—उनकी आदर्श विचार-पद्धति। अत उनके अनुयायियो के लिए यह जरूरी है कि वे उनके सिद्धान्तो के बारे में तलस्पर्शी अध्ययन करे। केवल परम्परा से श्रद्धा करने पर कभी-कभी वह अश्रद्धा में भी परिणत हो जाती है। क्योकि इससे जब तक परम्परा मे श्रद्धा रहे, तब तक तो उनके प्रति भी श्रद्धा रहेगी और परम्परा पर श्रद्धा न रहे तो उनमें भी अश्रद्धा होते देर न लगेगी। वे धार्मिक जो केवल परम्परा पर ही चलते हैं, नीर-क्षीर का विवेक नही कर सकते। यद्यपि परम्परा सत्य है, पर चलने वालो को अपनी आँखें खोल कर ही चलना चाहिए। **'तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणा क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति।'** अपने बाप का कुआ है, इसलिए उसका कडुआ पानी का पुरुष तो पान करते हैं। इसलिये ऐसी परम्पराएँ जो अच्छी नही हैं, उनसे चिपटे रहें, यह कोई आवश्यक नही। उनके बारे में सोचना, विचारना यह प्रत्येक बुद्धिशील प्राणी का कर्तव्य है। जो श्रद्धा विवेक पूर्वक होगी, वह दूसरे और पाँच आदमियो को भी समझायी जा सकती है, पर जो केवल पारम्परिक श्रद्धा है, वह मूक है, उससे दूसरो को कोई विशेष लाभ नही हो सकता।

मै पहले कह आया हूँ कि स्वामी जी के प्रति हमारी श्रद्धा का कारण

उनकी आदर्श-विचार पद्धति है। यद्यपि अपने जीवन-काल मे उन्हें भी एक बार यह निराशा हो गयी थी कि इतना प्रयास करने के बाद भी जनता अपने विचारो को समझ नही रही है, तो वे अपना कल्याण करें। इसी-लिए उन्होने जगल मे जाकर कडी तपस्या भी आरम्भ कर दी थी। वे दोपहर की कडकडाती धूप में जंगल मे जाते और वहाँ नदी की तप्त वालुका पर सो जाते। थोडी देर में पसीने से जब वह ठण्डी हो जाती तो वहाँ से पुन. सूखी जगह पर सो जाते। इस प्रकार कठिन तपस्या के द्वारा उन्होने अपने आपको तपा लिया। तपाए विना शरीर मे तेज नही आता, यह बात बिल्कुल सही है, पर बाद मे उन्होंने यह जाना कि लोग उनके विचारो को कुछ-कुछ सुनने लगे हैं, तो उन्होने फिर अपने विचार प्रकट करने शुरू किए। यद्यपि उनके लिए दोनो ही मार्ग साधना के योग्य थे, पर यह तो हमारा सौभाग्य है कि हमें उनका मार्ग-दर्शन मिला। वे यदि तपस्या के द्वारा अपना काम समाप्त कर जाते तो हमें आज जो अनोखा तत्त्व मिला, वह कैसे मिलता?

स्वामीजी से हमें जो तत्त्व मिला, वह वास्तव में ही अद्वितीय है। आज प्राय. सारा संसार धर्म और अधर्म को एक साथ मिला रहा है। एक ही क्रिया में धर्म और अधर्म दोनो मानना, यही तो मिश्र-धर्म है। अल्प पाप और बहु निर्जरा का सिद्धान्त भी इसी भूमिका से निकलता है। अत उन्होने कहा—गेहूँ और कंकड को मत मिलाओ। उदाहरण के लिए जैसे एक जैनी साधु अपने लिये बनाया हुआ भोजन ग्रहण नही कर सकता, पर यदि किसी गृहस्थ ने मोह या प्रमादवश उसके लिए आहार बना दिया और साधु उसे ग्रहण कर लेता है, तो उसमें उसे क्या हुआ? अल्प-पाप और बहु निर्जरा होगी। क्योकि भोजन बनाने में जो थोडी हिंसा हुई, वह तो अल्प-पाप हो गया, पर उस भोजन को खाकर आगे चलकर साधु जो धर्म के बडे-बडे काम करेगा, वे बहुत बडी निर्जरा के कारण हो जाएँगे। अत. उसमें थोडी हिंसा हो गई तो हो गई, पर उससे आगे बहुत बडा लाभ होगा। इससे ही अल्प-पाप और बहु-निर्जरा या मिश्र धर्म का सिद्धान्त प्रतिफलित होता है, पर स्वामी जी ने अपने साहित्य मे इस बात का बडी युक्ति पूर्वक खण्डन किया है। एक जगह उन्होने कहा है :

बाजर केरे बूंट में, बूंट बूंट में बूंट;
ज्यूं मिश्र प्ररूपे तिणरी बात में, झूठ, झूठ में झूठ।
सांभर केरे सींग में, सींग सींग में सींग;
ज्यूं मिश्र प्ररूपे तिणरी बात में, धींग धींग में धींग ॥

एक उच्च कोटि के दार्शनिक के साथ-साथ वे एक बहुत बडे व्यावहारिक

कवि भी थे। नही तो उनकी कविता में इतना सौन्दर्य नही आ पाता। व्यावहारिक जगत् का एक और स्थूल उदाहरण देते हुए उन्होने इस बात को एक पद्य मे और कहा है :—**बांवल वाय बाजे जणा, अडे घुड़ घूड़ में घूड़, मिश्र प्ररूपे त्यांरी बात में उठे कूड़ कूड़ में कूड़।**

दूसरी बात जो स्वामी जी ने हमें बतायी, वह यह थी कि हिंसा में धर्म नही होता। चाहे कितना ही बडा काम क्यो न हो, पर अगर उसमें हिंसा होती हो तो वह धर्म नही हो सकता। हिंसा से औरो की रक्षा हो सकती है, पर हिंसा को हिंसा तो मानना ही पडेगा। यह दूसरी बात है कि दुनिया मे रहने वालो को हिंसा भी करनी पडती है, पर जो कुछ करना पड़ता है, उसे अहिंसा मानना, यह तो जरूरी नही है। अत हिंसा और अहिंसा—ये दोनो भिन्न तत्त्व हैं इनका कभी आपस मे मेल नही हो सकता। जहाँ हिंसा है, वहाँ अहिंसा नही हो सकती।

स्वामीजी ने हमें एक बात यह भी बतायी कि धर्म किसी व्यक्ति, जाति, देश या समाज का नही होता। वह तो सभी का है और उसी का है जो उसे अपने जीवन में आचरण करता है। जैन-अजैन, हरिजन-महाजन, हिन्दू-मुस्लिम कोई भी यदि सन्मार्ग पर चलता है, तो वह धर्म ही है। धर्म के राज्य में कोई चपरास नही होती, कि जिसे धारण करने पर मनुष्य वहाँ प्रवेश पाने का अधिकार पा सके। अत धर्म का तत्त्व लिंग, जाति आदि बाह्य सीमाओ से परे मनुष्य की आन्तरिक शुद्धि पर निर्भर है। धर्म की यह व्याख्या सचमुच ही हमें स्वामी जी की एक बडी भारी देन है।

इन तात्त्विक प्रश्नो के सिवाय सघ-सगठन के विषय मे भी स्वामीजी ने हमें एक अनुपम दृष्टि दी है। आज दुनिया जिस सगठन के लिए हैरान है, वह संगठन हमें विरासत में मिला, यह स्वामीजी की दूरदर्शिता का ही परिणाम है। तेरापन्थ के तात्त्विक प्रश्नो के बारे में चाहे किसी का कितना ही मतभेद क्यों न हो, पर संगठन के बारे में तो हर एक को उनका लोहा मानना ही पडेगा।

सामने ही उनका द्विशताब्दी-महोत्सव आ रहा है। द्विशताब्दी महोत्सव मनाने का अवसर बहुत ही कम लोगो को मिलता है। क्योकि उसके पीछे एक शृङ्खलित समाज की आवश्यकता होती है। कुछ विशेष व्यक्तियो के पीछे समाज रहता भी है तो वे प्राय· अपने जीवन काल मे ही पूज्य रहते हैं। अपने निर्वाण के बाद ऐसा अवसर बहुत कम लोगो को मिलता है। अत. इस उपलक्ष्य पर भी उनके अनुयायियो का यह विशेष कर्तव्य हो जाता है कि वे स्वयं उनके साहित्य को बहुत ही सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करें और दूसरो को भी उसे पढने की प्रेरणा दे। उनके साहित्य

को जन-साधारण के सामने प्रस्तुत करें। बहुत-से लोग अपने पूर्वजों के स्मारक ईंट व पत्थरो से बनवाते है, पर वास्तव में तो यदि कोई सच्चा स्मारक हो सकता है तो वह यही कि वे स्वयं अपने पूर्वजों के आदर्शों को अपने जीवन में उतारे और दूसरे लोगों को भी यही प्रेरणा दे, पर प्रश्न है—यह काम किसका है? उत्तर है कि—यह बडे और छोटो—सबका है, जो भी मनुष्य उन्हे अपना आदर्श मानता हैं, उसका यह कर्तव्य है। अत. द्विशताब्दी महोत्सव के बारे में उनके साहित्य के परायण के साथ-साथ दूसरो को भी इससे परिचित करायें।

स्वामीजी हमारे आदर्श बने, इसका कारण है—उन्होंने अनेक कष्ट सहे। उन सब कष्टो में भी चलते रहकर उन्होने हमें यह राह दिखायी। यह बात हमें इस तथ्य की ओर भी सकेत करती है कि संघर्ष ही जीवन है। बिना सघर्ष के जीवन में चमक नही आ सकती। दियासलाई और पेटी दोनों होती है, पर जब तक उनमें आपस मे सघर्ष नही हो जाता, आग नही निकलती। वे तो महामानव थे। अत. उन्हें इतने कष्ट सहने पडे, इसमें क्या आश्चर्य की बात है। पर जो थोडा सा भी व्रत अपनाता है, उसे भी संघर्ष के लिए तैयार रहना चाहिए। अणुव्रती भी केवल व्रत ले लें, इतने मात्र से काम चलने वाला नही है। उन्हें अणुव्रतो को विकसित करने के लिए सघर्षो से खेलना पडेगा। आज आवश्यकता है—सासारिक लोगो के पथ-प्रदर्शन की। महाव्रती तो अपना काम करते ही हैं, पर यह काम है—अणुव्रतियो का। वे लोग अपने जीवन से आम लोगो के सामने आदर्श प्रस्तुत करें, जिससे अणुव्रतो के प्रति उनका आकर्षण बढे। यदि वे लोग अपनी अच्छाइयो से दूसरो पर प्रभाव नही डाल सके, तो फिर उनकी बुराइयो का असर भी समाज पर पडे बिना नही रहेगा। अत: यदि आज धर्म का स्वरूप प्रत्यक्ष दिखाना है तो अणुव्रतियो को अपने जीवन को तपाना होगा। यह सत्य है कि जो कोई कष्ट सहकर अच्छा काम करेगा, तो जनता उसका आदर करेगी और उनसे प्रेरणा भी पायेगी। बिना काम और त्याग किये कोई दूसरे को कुछ कहेगा तो उसकी बात कोई सुनना भी नही चाहेगा। अत जितने भी अणुव्रती हैं, वे अपने घर, परिवार तथा समाज पर अपने आचरणो द्वारा असर डालें। यद्यपि इस बात को कहने का अधिकार तो सबको ही है, पर जो अणुव्रती हैं, उन पर इस बात का स्वयं ही एक विशेष उत्तरदायित्व आ जाता है। यदि वे भी समाज को प्रकाश नही दिखायेंगे, तो और तो दिखानेवाला है ही कौन? महाव्रती तो सघर्षों में पलते ही हैं, पर अब अणुव्रतियो को भी तैयार हो जाना चाहिए। यह सघर्ष कोई लड़ाई-झगड़ा नही है, पर

अपने पर आने वाली विकृतियो के साथ सघर्ष है। अत प्रत्येक अणुव्रती, चाहे वह भाई हो या बहन, अपनी कमर कस कर समाज को राह दिखाने के लिए तैयार रहे तब ही उनका जीवन चमकेगा। धर्मिक की पूजा होती है, इसका भी तो यही कारण है कि ये अनेक सघर्षों को सहन करते है।

८६ : श्रद्धाशीलता : एक वरदान

जाए सद्धाए निक्खंतो तमेव अणुपालिज्जा वियहित्ता विसोत्तियं—
आचारांग श्रु० १ अ० १ उ० ३

अर्थात् "जिस श्रद्धा से तू निकल पड़ा है उसी श्रद्धा से सयम का पालन कर आशकाओ को छोडकर।"

यह कितना छोटा सा वाक्य है। भगवद्-वाणी में शब्द थोड़े होते हैं, सार ज्यादा होता है। यही इसकी विशेषता है। सूत्र का अर्थ ही यही होता है। **--सूत्रयति अल्पाक्षरैः बृहत् अर्थान्—इति सूत्रम्।** जो थोड़े शब्दो में बहुत बडे अर्थ को बाँध लेता है।

युग तर्क का है। युग अश्रद्धा का है, भगवान् ने कहा श्रद्धा रखो। भगवद् वाणी श्रद्धा का सन्देश देती है। प्रश्न है--किस पर चले, उत्तर है श्रद्धा पर चलो। तर्क को भी साथ रखो। जहाँ तक साथ चले, उसे चलाओ। साथ नही चले तो उसे छोड दो। श्रद्धा के बिना जीवन एक एक पैर भी नही चल सकता।

"विभिन्नाः पन्थानः"—पथ बहुत हैं। पथ-पथ मे पगडण्डियाँ भी बहुत हैं। दृष्टियाँ बहुत है और उनके उन्नेता—निर्देशक भी बहुत है। चारो तरफ लुभावने प्रलोभन हैं। उनमें लुब्ध बन गये तो पथ-भ्रष्ट हो जाएँगे। यदि सही मार्ग नही लिया तो लक्ष्य को खतरा है। अत यह आवश्यक है कि हमारे कान खुले रहें, हमारी आँखे खुली रहें, जो शुद्ध चीज सामने आये, हम उसे ग्रहण करते जायें। जो अशुद्ध चीज सामने आए, हम उसे छोडते जाएं। हम चेतन हैं। हममें इतना विवेक होना चाहिए। हमारा शरीर अचेतन है—जड है। उसके सामने भी कितनी चीजें आती हैं—हम उसमें कितनी चीजें डालते हैं, पर हम जितना खाते है अगर सारा का सारा अन्दर रह जाए तो कितनी बडी मुश्किल हो जाए। जितना खाते है उसमें से थोड़ा अन्दर रहता है, ज्यादा निकल जाता है। ग्रहण, विसर्जन और संरक्षण ये तीन अवस्थाएँ है। जितना रखने का है उसकी सुरक्षा कर सकें इतना विवेक हममें होना चाहिए। यह है, तब ही

ठीक है, अन्यथा ग्रहण करने से भी कोई फायदा नही। यदि हजम करने की ताकत नही है तो खाने से क्या फायदा ? उल्टा नुकसान हो जाता है। अत. हम उतना ही खाएँ और वैसा ही खाएँ जितना पचा सकें। शेष का उत्सर्जन कर देना ही श्रेयस्कर है।

मनुष्य मे यदि इतना ही विवेक नही है तो फिर उसका मन्दिर की ध्वजा से कोई अधिक मूल्य नही। जब तक हवा नही चलती, वह स्थिर रहती है। हवा चली, कि डोलने लग जाएगी। इधर की हवा चली तो उधर डोलने लगेगी। उधर की हवा चली तो इधर डोलने लगेगी। कुछ मनुष्यो की भी यही स्थिति होती है। सचमुच उनमे क्या मनुष्यत्व है ? इसीलिये शास्त्रो में कहा है—श्रद्धाशील रहो। बुद्धिमान वह जो सत्य-श्रद्धा की आराधना करता है।

बहुत से लोग पूछते है—श्रद्धा किसके प्रति रखनी चाहिए ? श्रद्धा रखनी चाहिये—आदर्शों के प्रति, श्रद्धेयो के प्रति और अपने आपके प्रति। आदर्शों के प्रति श्रद्धा रखने का मतलब है—जिन आदर्शों को हमने स्वीकार किया है, उनके प्रति हमारी अटूट श्रद्धा होनी चाहिए। उदाहरण के लिए अहिंसा के प्रति हमारी श्रद्धा है, हम उसे ऊँचा मानते है—यह हमारा आदर्श है। जब हम इसे अपना आदर्श मान लेते है तो यह आवश्यक है कि हिंसा के आडम्बर को देख कर कही हमारी श्रद्धा डगमगा न जाए। कही हिंसा को फलित होती देख कर हम अपनी अहिंसा—निष्ठा को खो न दें।

इसी प्रकार ब्रह्मचर्य मे हमारी निष्ठा है, पर व्यभिचारियो को भोगो में आनन्द मनाते देखकर हमारे मन मे विषाद न आ जाए कि हमने तो जीवन व्यर्थ ही खो दिया। ब्रह्मचर्य हमारा सर्वस्व है। हमे उसकी रक्षा करनी है और जी जान से रक्षा करनी है। वेश्या के हाथ में सोने का कंगन देखकर क्या आर्य कुल की स्त्रियाँ उस जीवन के प्रति आकर्षित हो सकती है ? भले वे कितनी ही तकलीफें क्यो न सहन कर लें, पर उस तरफ आँख उठाकर भी नही देख सकती। आज आदर्श के प्रति श्रद्धा नही रही है। थोडी सी कठिनाई में मनुष्य आदर्श से फिसल जाते हैं। थोडी सी आर्थिक परेशानी में बहुत-सी बहनें अपने शील को बेच देती हैं। यह ब्रह्मचर्य के प्रति अश्रद्धा का ही फल है।

यदि हमारी सत्य पर श्रद्धा है तो दूसरे चाहे झूठ से कितने ही रुपए क्यो न कमा ले, हमे तो सत्य पर ही डटकर रहना है। यह चिन्तन भी कि अमुक आदमी ने झूठ से इतने रुपये कमा लिए, मैं सत्य सत्य करते यो ही रह गया—एक अश मे सत्य के प्रति अश्रद्धा का परिणाम है। सत्य में श्रद्धा रखने वाला आदमी उसे रुपयो में नही देखेगा। अपने आचरण

मे देखेगा। मैं मानता हूँ, कभी-कभी ऐसी स्थितियाँ भी आ जाती है जब मनुष्य सत्य पर स्थिर नही रह पाता, पर जो श्रद्धालु होगा उसके मन में एक प्रकार की ग्लानि होती रहेगी कि मैंने यह गलत काम कर लिया है। जब तक मै उसे सुधार नही लूं तब तक मेरा जीवन जीवन नही है। उस गलती का प्रायश्चित लेकर ही उसकी आत्मा हल्की हो सकती है। मैं अनेक बार कहा करता हूँ—यह कोई बड़ी बात नही कि मनुष्य फिसल जाए, पर बड़ी बात तो यह कि श्रद्धा से ही फिसल जाए। रास्ते में चलते, असावधानी के कारण, गढे में गिर जाना असम्भव नही, पर जो गढे को गढा मानता है वह उससे निकलने का प्रयत्न करेगा और सम्भव है कभी निकल भी जाए, पर वह मनुष्य जो गड्ढे को ही सडक मानता है, उससे कैसे निकलेगा? गड्ढे में गिर जाना उतनी बुरी बात नही, जितनी उसको सडक मान लेना बुरी बात है।

बहुत सी बहने आपस में लड लेती है। लडती किससे है और हाथ की खुजली मिटाती है रोब निकालती है, अपने अबोध बच्चो पर। यह क्यों होता है? जीवन की कमजोरी से, आदतो की लाचारी से सस्कार भी कुछ ऐसे बन जाते है कि वे समझ कर भी इसे छोड नही पाती, पर इनकी श्रद्धा तो यही रहनी चाहिए कि अच्छी महिला वही है जो कलह नही करती, बच्चो को भी नही पीटती। जिस घर में कलह रहता है वहाँ दारिद्र्य निवास करता है। जिस घर में मेल-जोल है वहाँ सम्पत्ति निवास करती है। ऐसा समझने वाली कभी वापिस स्थान पर भी आ सकती है? क्योकि उसकी श्रद्धा सम्यक् है। इसीलिए मै श्रद्धा पर जोर देता हूँ। यद्यपि मै यह मानता हूँ कि सबके सब मनुष्य श्रद्धाशील नही बन सकते, पर कहूँगा मै यही कि सबको श्रद्धाशील बनना चाहिए, क्योकि श्रद्धाशीलता जीवन का वरदान है।

८७ : तीन बहुमूल्य बातें

जब मे विद्यार्थियो को देखता हूँ तो मुझे अपना विद्यार्थी-जीवन याद आ जाता है। बचपन मे मै भी आप की ही तरह स्कूल में पढता था मैं जिस स्कूल में पढता था वह एक गुरु की व्यक्तिगत पाठशाला थी; उसमें कक्षाओ के हिसाब से शिक्षा नही मिलती थी; सप्ताह में एक बार हमें उपदेश मिला करता था। मुझे याद है तब विद्यार्थी बडे शान्त और श्रद्धा-शील हुआ करते थे। मै भी उनमे से एक था। हमारा ध्यान यही रहता

था कि अध्यापक हमारे से अप्रसन्न नही हो जाएँ। स्कूल पर ही नही घर पर भी हमें यह खयाल रहता था—हमारे अध्यापक हमें कही बदमाशी करते देख न लें। उन दिनो हमें १५ दिनो से केवल एक दिन छुट्टी मिला करती थी और उसमें भी हम कुछ लडके मिलकर अन्य विद्यार्थियो के घर पर जाते और यह निगरानी करते थे कि वे कही बदमाशी तो नही करते है। हम उनका गृह-जीवन देखते और फिर उसकी रिपोर्ट अध्यापक को दिया करते थे। स्कूल मे भी हम प्रतिदिन प्रत्येक लड़के के अपराध लिखा करते थे और शाम के समय उसकी पूरी रिपोर्ट अध्यापक के सामने पेश करते थे। फिर उसी के हिसाब से अध्यापक लडको को दण्ड दिया करते। आज भी जब विद्यार्थियो को देखता हूँ तो वे सारी बाते याद हो आती है। उस अनुभूति से ही मुझे बडा आनन्द मिलता है।

वह समय दूसरा था, आज समय दूसरा है। आज भारतवर्ष आजाद है; उस समय वह गुलाम था। उस समय अच्छे और बुरे कामो की जिम्मेवारी अंग्रेजो पर डाल दी जाती थी, पर आज वह स्वय भारतीयों पर है अत आज भी यदि वे उस जिम्मेदारी को उठाने के लायक नहीं बने तो जो स्वतन्त्रता मिली है, उसको खतरा है। पुराने जमाने मे शिक्षा और चारित्र के बारे में भारतवर्ष की जो स्थिति थी उसे देखने और ग्रहण करने के लिए विदेशो से लोग आया करते थे। पर खेद के साथ कहना पडता है वैसी स्थिति आज नहीं है।

विद्यार्थियो! भारत को उस स्थिति मे पुन लाना होगा और उसके लिए तीन बहूमूल्य बाते आवश्यक होगी। वे तीन बहूमूल्य बातें है। श्रद्धा, ज्ञान तथा चारित्र। आज श्रद्धा की सबसे ज्यादा कमजोरी है। ज्ञान तो आज इतना विकसित हो गया है जितना शायद पहले था या नही। पर श्रद्धा उस गति से बढ रही है या नही यह एक सोचने का विषय है। प्रश्न हो सकता है—श्रद्धा किसके प्रति? उत्तर है श्रद्धा अपने आपके प्रति। इसे ही दूसरे शब्दो मे हम आस्तिकता कह सकते है। जब तक मनुष्य आत्मा के प्रति श्रद्धालु नही बनेगा तब तक ज्ञान और विज्ञान पढना भी उसके लिए वरदान नही होकर अभिशाप सिद्ध होगा। भारत के ऋषियो ने अन्वेषण किया उस अन्वेषण में उन्होने बम और उपग्रह नही पाये पर आत्मा, मोक्ष, परमात्मा और पुनर्जन्म के तत्त्व पाये थे। उन्होने कहा था—आत्मा नही है ऐसा मत सोचो। सोचो कि आत्मा है। आज के वैज्ञानिक शोध करते करते हार गए है पर वे अभी तक आत्मा को खोज नही पाए हैं इसीलिए वे कहते हैं—बस जीवन इतना ही है जितना हम जीते है। इसीलिए इस जीवन मे खूब खाओ, पीओ और मौज उडाओ,

पर आप को इन बातों को गहराई से सोचना पडेगा। व्यवहार में भी हमें इतना वैपम्य दीखता है, इसका क्या कारण है? हमें इसे भी सोचना पडेगा तब जाकर हमारी विद्या फल लाएगी।

दूसरी बात है ज्ञान। ज्ञान केवल रट लगाने से या पुस्तक पढ लेने से ही नही आ जाता है। उसके लिए विनय की आवश्यकता होती है। वह विद्यार्थियों में होना चाहिए। तभी उनकी विद्या फलवती बनेगी।

तीसरी बात है चारित्र। चारित्र के बारे में आप को क्या बताऊँ? बहुत सी बातें आप जानते ही हैं तब फिर मैं उन्हें कैसे बताऊँ, और क्यो बताऊँ? सक्षेप में मै आप को एक ही बात बता देता हूँ कि बुरा काम वही है जिसे करने पर या करते समय छिपाने की आवश्यकता पडे। आप कोई भी काम ऐसा न करे जिससे छिपाने की आवश्यकता हो। यदि इतना हो गया तो मै समझता हूँ आप का कल्याण होगा और आप के द्वारा ससार का भी कल्याण होगा।

८८ : जैन-संस्कृति

साधुओ को वन्दन करने पर हमारे यहाँ "जै" कहा जाता है। इसका लोग बड़ा उल्टा-सीधा अर्थ लगा लेते है। कुछ लोग समझते है, महाराज हमें आशीर्वाद देते है और कहते है कि हमारी जय हो। कई लोग 'जै' का अर्थ 'कल्याण' कर लेते है। कई लोग इसे आदर सूचक शब्द 'जी हाँ' से जोड़ लेते है और कहते है—महाराज हमारी वन्दना का सम्मान करते हैं। इसका एक अर्थ तो और भी विचित्र है। वे कहते हैं—तेरापन्थी साधु ही वन्दना करने पर 'जै' कहते है, इसका मतलब एक घटना के साथ जुडा हुआ है। तेरापन्थ के आद्य प्रवर्तक भीषणजी स्वामी जब स्थानक वासियो से अलग हुए थे, तो उन्होने अलग होकर एक यक्ष को वश में किया। उसका नाम था 'जीया' भूत या 'हाजी' भूत। तपस्या से वश में होकर जब वह प्रकट हुआ तो स्वामीजी ने कहा—जीया भाई! मुझे तो पन्थ चलाना है सो कोई रास्ता बताओ। वह कहने लगा—महाराज! इसका और तो कोई रास्ता नही है—एक ही रास्ता है और वह यह कि अपने पन्थ प्रचार मं तुम मेरा नाम आगे रखो। भीषणजी को तो पन्थ चलाने की भूख थी, अत उन्होंने यह स्वीकार कर लिया और इसलिए आज तक भी जब तेरापन्थी साधुओ को वन्दना की जाती है तो वे उसके नाम को आगे रखकर कहते है 'जी'। 'या' तो वे अपने मन में रख लेते

हैं और 'जी' का उच्चारण कर देते हैं। यह है 'जी' शब्द का इतिहास। और यह सब मुखजबानी ही नही, पुस्तको मे छपा हुआ भी है।

मै समझता हूँ—कितना गलत अर्थ किया गया है इसका। भला यह भी कोई तथ्य है? अब मै आप के सामने इसका सही अर्थ रखना चाहूँगा। आगमो में भगवान को वन्दना करने पर उन्होने छ शब्दो का प्रयोग किया है। उनमे एक शब्द उन्होने कहा है—**'जियमेवं देवाणुप्पिया'**। अर्थात् हे, देवानुप्रिय! यह तुम्हारी 'जीत' है। हमारे यहाँ इसी 'जीत' शब्द का अनुकरण किया गया है। 'जीत' का प्राकृत मे 'जीय' तो वनता ही है। और थोडा अपभ्रंश होकर आज यही शब्द 'जै' रह गया है। जैसे **'नमुक्कार'** के इस प्राकृत पद की छाया वनती है—**'नमस्कार'** और आज यह अपभ्रंश में 'नोकार' हो गया है वैसे ही 'जीय' शब्द का 'जै' अपभ्रश हो गया है। जानकारी न होने के कारण आज उसके अनेक उल्टे-सीधे अर्थ लगा लिए जाते हैं।

वहुत से जैन लोग भी चलते ही यह कह देते है, मैं ईश्वर से आप का भला चाहता हूँ--या आप पर भगवान की कृपा है। पर वे लोग यह नहीं जानते कि उनका यह कथन जैन-सस्कृति के विरुद्ध है। भला ईश्वर किसका वुरा चाहता है और किस पर अकृपा रखता है? वह तो समदर्शी है। यदि आपको दूसरो के प्रति शुभ कामना ही प्रकट करनी है तो उसे तो अपने कर्तृत्व पर भी छोड सकते हैं, यानी आप यह भी तो कह सकते है—मैं आपके प्रति शुभकामना करता हूँ, पर इसे ईश्वर से चाहना, ईश्वर-कर्तृत्व मान्यता की झलक देता है। इसमें यह ध्वनि है कि ईश्वर हमारा भला या वुरा करता है। जैन-सस्कृति के अनुसार अपना भला वुरा करनेवाला अपनी आत्मा ही है।

लगता है जैन लोग भी दूसरी सस्कृतियो के प्रवाह में वह गए है। एक क्या ऐसी अनेक वाते देखी जा सकती है कि जिन्हें जैन लोग तत्त्वत स्वीकार नही करते, पर फिर भी दूसरी सस्कृतियो की परम्परा वे निवाहते चले जा रहे है? मृतक की हड्डियो को गगाजी में वहाने से उसकी मुक्ति हो जाती है, ऐसा जैन-सस्कृति में कही नही माना गया है, पर फिर भी जैन लोग उसे पकडे बहते जा रहे है और आश्चर्य यह कि उसे समझने पर भी वे इन्हें छोड नही रहे हैं। मानो यह उनका सास्कृतिक कार्य है।

जैन-गृहस्थों को आगमो में जगह-जगह श्रमणोपासक कहा है। इसका मतलब है वे श्रमणो की उपासना करते हैं। जैन-विधि के अनुसार दूसरे देवताओ के पूजन का वर्णन भी सूत्रो में आता है, पर वह प्राय. अपने

कुल देव की ही पूजा किया करते थे। पर आज तो जैन उपासको की भी ऐसी विधि हो गई है, कि शायद वे संसार के किसी भी देवता को बिना पूजे नही छोडते होगे। जहाँ कही भी सिन्दूर लगा पत्थर दीख जाएगा तो झट जूते खोल, हाथ जोड, सिर झुका कर वही उन्हें वन्दन करेगे। साधुओ के पास आने पर तो शायद अपने जूते भी नही उतारते होगे। अपने पास रखकर बैठेंगे और थोडा कष्ट पड जाय तव तो फिर कहना ही क्या? दुनिया भर के देवताओ की मनोतियाँ मानेंगे। कई बहने कहती है कि वे अपने लिए तो किसी की मनौती नही मानती, पर दूसरो के लिए तो करना ही पडता है। पर यह सही बात नही है। देवताओ से अपना इष्ट करवाने का मतलब है—अपने श्रम में अश्रद्धा। जब कि जैन-सस्कृति ने हमेशा यह कहा है कि अपने श्रम पर भरोसा करो, तब फिर अपनी आत्मा के प्रति यह अविश्वास कैसा? यह तो जैन-सस्कृति के पुरुषार्थवाद के प्रति अश्रद्धा है।

यद्यपि मै यह नही कहता कि देवता होते ही नही। वे होते हैं, और दूसरो का भला बुरा भी कर सकते है, पर उसी अवस्था में जब कि व्यक्ति के अपने कर्म तद्रूप हो। अगर व्यक्ति के स्वय के कर्म अच्छे है तो देवता लाख कोशिश भी करे तो वे उसका कुछ भी नही बिगाड़ सकते। और व्यक्ति के स्वय अपने कर्म बुरे है तो देवता मर-पच कर भी उन्हे सुधार नहीं सकते। तब फिर उनकी आराधना करने का क्या मतलब? अपने कर्तृत्व पर भरोसा करो। बात-बात में दूसरो के सामने भीख मत मांगो। यदि हम देवता का कर्तृत्व मान लेते है तो फिर ईश्वर का कर्तृत्व क्यो नही मान लेते? यह तो परमुखापेक्षता है अकर्मण्यता है। अत. ये सब जैन-सस्कृति के विरुद्ध की बाते है।

और सोचना तो यह चाहिए कि देवता भी क्या कष्ट नही पाते? वे भी 'च्यवन' को प्राप्त होते है। तब फिर स्वयं जो अपने कष्ट को दूर नही कर पाता वह दूसरो के संकट कैसे मिटाएगा? देवताओ में भी आखिर अनन्त शक्ति तो होती ही नही, जो वे जैसा चाहें कर सकें। उनका भी अपना सामर्थ्य सीमित ही होता है। अत वे मनुष्य का दु ख कैसे दूर कर सकेंगे। सत्यव जो 'निकाचित' कर्म जो अवश्य ही भोगने पडते हैं होते है उन्हें तो देवता क्या, परमात्मा भी नही मिटा सकता। तब फिर उनके लिए देवताओ से अभ्यर्थना करना कैसी समझदारी की बात है?

८६ : सुधार का मूल

आज जो स्थिति मानव समाज की है वह उत्साहप्रद नही है। उसमें आज कोई आनन्द नजर नहीं आता। मनुष्य जो भी काम करता है वह आनन्द के लिए ही करता है। कडा से कडा काम भी मनुष्य इसलिए खुशी से करता है कि उसमे उसे आनन्द मिलता है। आज जब कि यातायात के अनेक साधन हो गये है, फिर भी हम हजारो मील कडी धूप में पैदल चलते हैं—ऐसा क्यो ? इसलिए कि हमे इसमें आनन्द आता है। आनन्द इसलिए कि एक तरफ तो मनुष्य प्रकृति पर विजय पाने मे सलग्न है और हम अपने आप पर विजय पाने में सलग्न हैं। इसीलिए हमे कडे से कडे काम में भी आनन्द महसूस होता है, पर साधारण मनुष्यो की स्थिति आज ऐसी नही है। वे कोई भी काम करते है, उसमें उन्हें आनन्द महसूस नही होता। इसका कारण है आज उनकी जीवन-भित्ति शून्य हो गई है। मनुष्य के पैरो से नीति की भित्ति आज खिसक गई है। लोग इसका समाधान भी पाना चाहते है, पर लगता है जैसे समाधान मिल ही नही रहा है।

मेरी दृष्टि में इसका सही समाधान वालको से शुरू होगा। बचपन में वे जैसा होना है वैसा हो जाएँगे, और बचपन मे अच्छे सस्कारो का आना असम्भव भी नही है। इसीलिए देश के विचारक लोग प्रयत्न करते है, जगह-जगह स्कूल चलाते है, विद्यापीठ खोलते है, पर लगता है इनसे भी आज गति सुधार की ओर नही मुड रही है। इसका कारण है आज वातावरण शुद्ध नही है। स्कूलो और विद्यापीठो में तो लडके अध्यापको के पास पाँच घण्टे रहते हैं शेष दिन तो माता-पिता तथा अपने पास-पडोस मे बीतता है। घर पर आते है तो देखते है कि—पिता धूम्रपान करते हैं, तास-चौपड़ खेलते है, माता लडाई करती है, सास-बहू आपस में गालियाँ निकालती है। इससे स्कूल की सारी शिक्षाएँ नीचे दब जाती है। पुराने जमाने में इसीलिए विद्यार्थियो को एकान्त गुरुकुल में रखा जाता था। घर के वातावरण से वे १२ वर्षों के लिए बिलकुल अपरिचित रहते थे। गुरु ही उनके लिए सब कुछ होते थे। उनका चरित्र शुद्ध होता था। अत शुद्ध वातावरण मे रहने वाले विद्यार्थियो में शुरू से ही अच्छी आदतें पड़ जाती थी। वे खुशी से मनोरजन भी करते थे। वहाँ का वातावरण ही ऐसा रहता था जिससे विद्यार्थी स्वय ही चरित्रवान् होकर निकलते थे और वे देश के लिए वरदान सिद्ध होते थे। आज वह परम्परा चल नही रही है, पर आज भी कुछ व्यवस्था तो करनी ही होगी। आज भी राणावास के छात्रो को मैंने देखा—वहाँ के लडके वडे शान्त और विनयशील लगते है। वहाँ जाकर उद्दण्ड लडके भी

शान्त बन जाते हैं। उन्हे देख कर गुरुकुल की पुरानी परम्परा याद हो आती है। केवल स्कूलों और विद्यापीठों से आज काम चलनेवाला नही है। आवश्यक यह है कि उनके आसपास का वातावरण भी शुद्ध करें। इसकी सबसे बडी चिन्ता तो माता-पिता को होनी चाहिए। क्योकि उनकी ही आदते बच्चो मे संक्रमित होती हैं, किन्तु आज तो माता-पिता भी अपने बच्चो से गैरजिम्मेवार से हो रहे हैं। अत माता-पिता कहलाने वाले वर्ग से मै एक बात कहना चाहूँगा कि वे कम से कम अपने बच्चो के सामने लडाई-दगे, गाली-गलौज, झूठ, धोखा तथा धूम्रपान जैसे अकृत्य कार्य न करें। यदि वे इतना कर लेते है तो मैं समझता हूँ, लडके अपने आप सुधर जाएँगे। मैं बच्चो से पूछना चाहूँगा—उन्होने झूठ बोलना कब से सीखा? क्या वे इसकी निश्चित तिथि बतला सकते है? क्योकि जन्म मे कोई बालक झूठ नही बोलता। वातावरण मे जब वह देखता है—अनेक लोग झूठ बोलते हैं तो वह भी झूठ बोलने लग जाता है। अत माता-पिता यदि उनके सामने झूठ नही बोले तो वे झूठ बोलना सीखेंगे ही कहाँ से?

फिर मैं अध्यापको से भी कहना चाहूँगा कि उनकी भी बच्चो को सुधारने की बहुत बडी जिम्मेवारी होती है। वे यह कहकर इस बात को टाल नही सकते कि उनके पास तो बच्चा केवल पाँच घण्टे रहता है। क्योकि तुलसीदास जी ने कहा है:—

एक घड़ी आधी घड़ी, आधिहुँ में पुनि आध।
तुलसी संगत साधु की, कटे कोटि अपराध॥

साधु पुरुष की थोडी देर की संगति से भी जन्म-जन्म के पाप कट जाते है तो प्रतिदिन का ५-६ घण्टे का समय तो बहुत होता है। इतने से समय मे वे बच्चो के जीवन को बहुत आसानी से सुधार सकते हैं। आप जानते हैं—कुएँ से पानी निकालते समय दो अँगुल डोरी यदि हाथ मे रहती है तो सारी डोरी और पानी निकाला जा सकता है। इसी तरह इतने समय में वे बच्चो के जीवन को खूब सस्कारी बना सकते हैं, पर अध्यापक स्वयं बच्चो के सामने ही बीडी पीएँ, चाय पीएँ, गुस्सा करें, तो उनमे वे क्या सस्कार डाल सकेंगे? केवल पुस्तकी शिक्षा ही पर्याप्त नही है। वास्तविक शिक्षा तो जीवन से मिलती है। अत. अध्यापको को अपने जीवन को उच्च बनाना होगा। तभी वे योग्य शिक्षक बन सकते है। यदि इतना हुआ तो फिर विद्यार्थियो को उपदेश देने की आवश्यकता नही होगी। उनका जीवन स्वय तद्नुरूप हो जायगा।

९० : साधना का महत्त्व

वर्तमान अतीत का एक दर्पण है। उसमे झाँक कर अतीत को सहज-तया देखा जा सकता है। एक व्यक्ति वर्तमान मे जैसा है वह एक साथ नही बना वैसा। उसे अतीत में से पक कर आना पड़ा है। अत यदि आप एक साथ सुनेगे कि साध्वीश्री पन्नाजी ने कार्तिक सुदी पूर्णिमा के १२१ दिन की तपस्या का पारण किया तो शायद आप चौकेगे। भौतिक प्रधान इस युग में जबकि शरीर को ज्यादा से ज्यादा सुखी रखने के उपाय सोचे जा रहे है वहाँ साधना के लिए शरीर की अपेक्षा न करनेवाले ऐसे तपस्वी लोग बसते है यह सचमुच भारतवर्ष के लिए गौरव की बात है। आवेश में आकर किसी लक्ष्य के लिए प्राण दे देना—एक बात है पर बिना रोटी खाए कर्म मल जलाना तिल-तिल कर सचमुच आज के युग मे चौकनेवाली घटना है। और वह भारत की साधना परम्परा के सर्वथा अनुकूल है।

साध्वीश्री पन्नाजी एक सुयोग्य शिष्या है। उनकी उम्र अभी कोई ४५ वर्ष की होगी, पर इतनी छोटी उम्र में भी उन्होने जो तपस्या की है वह सचमुच एक प्रेरणा की चीज है। गत वर्ष महोत्सव के अवसर पर हमने अपने साधु-साध्वियों को सम्बोधित कर कहा था—हमारे संघ में पुराने जमाने मे छ-छ मासी और नोमासी अनेक लम्बी तपस्याएँ हुई है, पर इन वर्षों में ऐसा अवसर नही आया। यद्यपि यह सच है कि आज शारीरिक ढाँचा पहले जैसा सुदृढ नही है, पर तपस्वी को इसकी परवाह नही रहती। वह तपस्या करने में ही आनन्द मानता है। तपस्या को मैं सघ की प्रगति का बहुत बडा साधन मानता हूँ अत. आज भी यदि कोई साधु-साध्वी तपस्या करना चाहे तो मैं उन्हें यथायोग्य सहायता दे सकता हूँ। इतना ही सकेत था और फिर मुनिश्री सुखलालजी (बडा) आदि सन्तो का सहयोग रहा। पन्नाजी आगे निकल आयी और तपस्या करने की अपनी भावना व्यक्त की। उन्हें सहयोग दिया गया। मेवाड के ठण्डे प्रदेश मे 'कोसीबाड़ा' नामक छोटे से ग्राम में उनका चातुर्मास हुआ। उनकी तपस्या तो देखिए—चातुर्मास के चार महीनों में उन्होने एक दिन भी आहार नही किया। केवल उकाली हुई छाछ पर आनेवाला पानी पीकर उन्होने १२१ दिन निकाल दिया।

उनका पिछला जीवन भी वैसे तपस्यापूर्ण रहा है। उपवास बेला-बेला तो जैसे वह चलते ही कर लेती है। पारणो पर वह प्राय. अभिग्रह करती है। गर्मी की कड़ी मौसम में भी वे बहुत दफे पानी नही पीती। सवत् २००८ से उनके जीवन में एक बहुत बड़ा परिवर्तन आया। उसी

समय से उन्होंने अपने जीवन का बडा ही सुन्दर निर्माण किया। उस वर्ष उनका चातुर्मास श्री माधोपुर के पास "भगवतगढ़" नाम का एक छोटे से ग्राम मे था। वहाँ उनके साथ गोराजी नाम की एक साध्वी थी। उन्होने वहाँ चौविहार अनशन किया था। उनके अनशन की घटना भी बडी विचित्र है। उनकी बतायी हुई बातो से ऐसा लगता है जैसे अन्त समय में अवश्य उन्हें कोई विशेष ज्ञान हुआ हो। उसके बाद ही पन्नाजी के जीवन में एक बहुत बडा परिवर्तन आ गया और उन्होने अपने जीवन को तपस्यापूर्ण बनाने की ठान ली अबकी बार की उनकी तपस्या अनुकरणीय है। तेरापन्थ शासन का यह सौभाग्य है कि उसमें ऐसे-ऐसे तपस्वी साधु-साध्वियाँ अपनी साधना करती हैं।

६१ : आत्मौपम्य की दृष्टि

आज जब कि धर्म की भावना बहुत ही कम हो चली है, यह आवश्यक है कि उसकी बार-बार चर्चा की जाय। क्योकि जो कठिन काम होता है उसे बार-बार कहने से ही उसकी जडें जम सकती है। आज प्रत्येक एक दूसरे पर दोष लगा रहा है। अमेरिका रूस पर दोष लगा रहा है और रूस अमेरिकापर दोष लगाने की कोशिश करता है। आज तो यह और भी आवश्यक हो गया है लोगों को धर्म का सही स्वरूप समझाया जाए। यदि समय पर यह नही हुआ तो मानवता का केवल अस्थि-पजर मात्र रह जायेगा।

धर्म ही एक ऐसा तत्त्व है जिससे मनुष्य बुराइयों से बच सकता है। यदि यह नही होता तो शायद मनुष्य मनुष्य को मनुष्य ही नही समझता। यह आत्मौपम्य की दृष्टि ही धर्म की दृष्टि है। दूसरे शब्दो मे इसे आस्तिकता कहा जा सकता है? पर आज तो लोगो का न तो धर्म पर विश्वास है, न साधुओ पर और न अपने आप पर ही। आज लोग अपने आप पर भी यह अविश्वास करने लगे हैं कि वे वस्तुत. जीव है या नही?

हमें यह सोचना होगा कि यह भावना—धर्म भावना आज कम क्यो हुई? आज जब कि लोग अनेक दुरूह से दुरूह काम कर सकते है, चन्द्रमा पर जाने की बात सोच रहे हैं, हिमालय पर चढ चुके है तब धर्म ऐसी क्या चीज है जिसे आज का मनुष्य नही कर सकता? हमें इसका मूल खोजना पड़ेगा। इसके बारे में दो बाते मेरे ध्यान में हैं। पहली यह कि आज धर्म का वास्तविक स्वरूप सामने नही आता है। जिससे आज के पढ़े-लिखे लोगो को धार्मिक बनने की भावना ही नहीं होती। दूसरी बात है—धर्म

करने में कुछ त्याग करना पड़ता है जिसे आज का सुविधावादी समाज सहन नहीं कर सकता। इसीलिये आज लोगो में धर्म के प्रति भावना कम हो रही है। सचमुच धर्म के नाम पर आज लोगो के सामने आते हैं साम्प्रदायिकता और स्वार्थ तथा उसकी रक्षा के लिए होती है लडाइयाँ। जो धर्म अर्थ को, धन को अनर्थ मानकर चलता रहा है तथा उसके नाम पर पूँजी का सग्रह हो रहा है। वे तीर्थस्थान जो भजन और उपासना के केन्द्र थे वे आज आपसी निन्दा और अर्थ की चर्चा के केन्द्र हो रहे हैं। मन्दिर, मठ, उपाश्रय और धर्म स्थानो में ऊपरी रूप ज्यादा रहता है। वह मन्दिर जिसके फर्श पर अच्छा पत्थर जडा होता है, मोहरें और हीरे चमकते रहते है अच्छा कहलाता है। वह मूर्ति जो ज्यादा से ज्यादा सोने से लदी होती है, वढिया कहलाती है। वह धर्मग्रन्थ जो सोने के अक्षरो में लिखा जाता है अधिक महत्त्वशील माना जाता है ऐसा लगता है मानो धर्म सोने के नीचे दब गया है।

चोर आता है और भगवान की मूर्ति को उठा कर ले जाता है। उसके लिये भला वह भगवान कहाँ? उसके लिए तो वह सोना है। मन्दिर में मनुष्य सात्विक भावना ग्रहण करने जाते हैं, पर वहाँ के ठाठ को देख कर तथा कल्पना की जा सकती है कि वहाँ से वह सात्विक भावना ग्रहण करेगा? अपरिग्रह की उपासना के केन्द्र आज परिग्रह की भावना के केन्द्र पर वन रहे हैं इसीलिए आज का समाज विशेषत. युवक धर्म से विमुख-सा हो रहा है। दूसरी बात जो मैंने पहले भी कही आज के युवक समाज मे त्याग की भावना बहुत कम है अत. धर्म को जन-जीवन मे प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि हम पहले धर्म का सही स्वरूप दुनिया के सामने रखें। और फिर जो धर्म के प्रति रूखे हैं उन्हे भी उसमे रुचि लेने के लिए प्रेरित करें।

यह स्पष्ट है कि धर्म का सम्वन्व न तो मन्दिरो से है और न सन्तो से। सन्त वे तो केवल प्रेरक मात्र हो सकते है।

मूलत तो उसे अपने आप मं ही उगाना पडता है। अत उसका अपने जीवन से ही सीधा सम्पर्क रहता है। इसीलिए कहा गया है

सत्य अहिंसामय जीवन हो,
सत्य अहिंसामय जन-जन हो,
जग व्यापी हो सत्य-अहिंसा,
जन-जन मुखरित हो यह नारा।
बना रहे आदर्श हमारा॥

यदि आप वास्तव मे ही धार्मिक है तो आप रोज आत्म-चिन्तन करे। आज आपका कितना समय धार्मिक कामो में गया और कितना समय अधा-

र्मिक कामो मे गया, इसका लेखा-जोखा रखना आवश्यक है, गृहस्थ का जीवन धर्माधर्ममय है। वह पूर्ण धार्मिक नही हो सकता पर यह तो आवश्यक है कि हिंसा के विचार अहिंसा के विचारो को दबाएँ नही।

यद्यपि गृहस्थ का जीवन पूर्ण अहिंसक नही हो सकता। उसमें हिंसा और अहिंसा दोनो को स्थान रहता है, पर एक धार्मिक को यह सोचना है कि उसके जीवन मे हिंसा का पलडा भारी न हो। इसीलिये प्रत्येक धार्मिक के लिए यह आवश्यक है कि वह रोज अपनी प्रतिदिन की दिनचर्या का हिसाब मिलाए।

९२ : लक्ष्य एक कवच

आज केवल विद्या की ही आवश्यकता नही है। आवश्यकता इस बात की है कि जीवन 'जीवन' बने। भारतीय सस्कृति मे जीवन की परिभाषा यह दी गयी है—**"शान्तं तुष्टं पवित्रं च सानन्दमिति तत्वतः जीवनं जीवनं प्राहुः भारतीयो सुसंस्कृतौ।"** यहाँ जीवन केवल यन्त्र नही है। जिस जीवन मे ये चार तत्व हैं वह जीवन है। जिसमें ये चार तत्त्व नही, वह जीवन जीवन नही, मृत्यु की ही कोई दूसरी अवस्था है। विद्या से यदि जीवन ऐसा बनता है तो वह प्रयास सफल है। यदि ऐसा नही बनता तो वह विद्या नही, अविद्या ही है। लोग इतने पढते है, आखिर क्या पेट भरने के लिए ? नही। पेट तो पशु-पक्षी भी भरते है। तब क्या ऐशोआराम के लिए ? नही। उससे विलास बढ़ता है। विलास न तो स्वय के लिए लाभदायक है और न दूसरो के लिए ही। अत सोचना है—विद्या का लक्ष्य क्या होना चाहिये ?

चलते सब है पर उनका चलना चलना है जो दूसरो के लिए पगडण्डी बन जाए। बोलते सब हैं, पर उनका बोलना बोलना है जिससे दूसरे प्रेरणा पाएँ। विद्या से यदि ऐसा होता है तो वह विद्या है। कभी-कभी जीवन की छोटी-सी घटना भी, छोटी सी वाणी भी दूसरो के लिए बडी प्रेरणा का स्रोत बन जाती है। उसके लिए यह आवश्यक नही कि उसे करने वाले या कहने वाले कोई बहुत पढे-लिखे हो। कभी-कभी अनपढ़ लोग भी कुछ ऐसा कर लेते हैं, जो दूसरो के लिए प्रेरणा का काम कर जाते हैं। एक बार की बात है एक दासी एक राजा की शैया बिछाने के लिए नियुक्त की गयी। वह प्रति दिन ऐसा करती और राजा के शय्या पर आ जाने के बाद वापिस चली जाती। एक दिन उसने शैय्या को तैयार किया और सोचा—कितनी कोमल है यह शैय्या, आँखो मे नीद घुल

रही है। यदि इस पर सो जाऊँ तो कैसा रहे? फिर सोचा, बीच मे ही यदि राजा आ जाये तो? लेकिन वे तो वडी देर से आते है। मै अभी आघ घण्टे मे सोकर उठ जाऊँगी। यह सोच वह शैय्या पर सो रही। नीद ने उस पर पर्दा डाल दिया और ऐसा पर्दा डाल दिया कि वह फिर उठ नही सकी। कुछ देर वाद राजा सोने के लिए आए: उन्होने देखा—शैय्या पर तो एक दासी सोई पडी है। उन्हें गुस्सा आ गया और झट अङ्गरक्षको को आवाज देकर बुला लिया और कहने लगे—इस दासी पर कोड़े लगाओ और एक-एक मिनट के सात-सात कोड़े लगाओ। अङ्गरक्षको ने वैसा ही किया, पर राजा ने देखा दृश्य कुछ और ही वन रहा है—कोडे खाकर दासी उठ खडी हुई और हँस रही है। राजा को वडा आश्चर्य हुआ। कोडे लगाना बन्द करवाकर उससे पूछने लगा—कोडे खाकर भी तुम हँस क्यो रही हो? उसने कहा—महाराज! आपने बड़ा अच्छा किया जो मुझे इतनी जल्दी उठा दिया। एक घण्टे मे ही मुझे इतने कोडे पडे हैं तो सारी रात सोने वालो को न जाने कितने कोडे खाने पडते। अत इस सुख की विचित्रता पर मुझे हँसी आ रही है। यह सुनते ही राजा की आँखे खुल गई। यह एक शब्द राजा के लिए काम कर गया और उन्होने प्रासाद छोड़ तपोवन का मार्ग अपना लिया। अत आपने देखा, वह दासी कोई पढी-लिखी न थी, पर फिर भी उसके एक शब्द ने ही राजा का सारा जीवन पलट दिया। अत विद्यार्थी भी पढ-लिखकर अपना जीवन ऐसा वनाएँ जिससे दूसरे लोग प्रेरणा पाएँ।

विद्यार्थी कहते हैं—जब वातावरण ही विकृत है तब हम कैसे सुधर सकते हैं? पर वातावरण बदलने से हम वदले, यह तो कमजोरी होगी। यह कल्पना क्यो की जाए कि वातावरण का हमारे ऊपर असर पड़ता है यह भी तो सम्भव है कि वे वातावरण को बदल दें। इसके लिए आपको दृढ संकल्प करना होगा। दृढ संकल्प और लक्ष्य ये दोनो एक ही बाते हैं। लक्ष्य एक कवच है जिसे पहनकर मनुष्य कही भी चला जाए तो उसकी बुराइयों से रक्षा करने में वह समर्थ है। व्रत एक प्रहरी है जो आनेवाली बुराइयो को रोक कर मनुष्य की रक्षा कर सकता है। यदि जीवन व्रत के द्वारा सुरक्षित नही होगा—ढीला रहेगा, तो उसे पग-पग पर रुकावटें आएँगी अत. यह आवश्यक है कि विद्यार्थी व्रत के महत्त्व को समझें और उन्हे ग्रहण करें।

६३ : स्थिरवास क्यों ?

दशवैकालिक सूत्र की चूर्णि में साधुओ के पर्यायवाची नाम गिनाते हुए, पहला नाम गिनाया गया है—'प्रव्रजित'। मूल सूत्रो मे भी अनेक जगह दीक्षा के अर्थ मे 'पवज्जा' (प्रव्रज्या) शब्द का प्रयोग हुआ है। वैदिक ग्रन्थो मे परिव्राजक शब्द साधुओ के ही अर्थ में आया है। बौद्ध लोग भी प्रव्रज्या से यही अर्थ ग्रहण करते है। यह शब्द 'प्र' उपसर्ग पूर्वक धातु से बना है जिसका अर्थ है चलना। इसका मतलब है—भारतीय संस्कृति में साधु को भ्रमणशील का प्रतीक माना गया है। भ्रमण की महिमा बताते हुए ऐतरेय उपनिषद् में कहा गया है

चरन् वैमधु विन्दति, चरन् स्वादु मुदुम्वरम् सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरेश्चरैवेतीर।

इसी प्रकार गौतम बुद्ध ने भी भिक्षुओ को लक्ष्य कर कहा है:

चरतो भिक्खवेचारिका, बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय।

भगवान् महावीर ने तो भ्रमण पर और भी अधिक जोर दिया है। नव कल्प विहार का विधान कर उन्होने साधुओ को निरन्तर एक स्थान पर रहने का निषेध ही कर दिया है। आचाराङ्ग और व्यवहार सूत्र में इसके अनेक विधि निषेधात्मक प्रकरण मिलते हैं। यही परम्परा आगे चल कर **"साधु तो रमता भला, पडया गदीला होय"**, की जन-विश्रुत लेकिन में व्यक्त हुई है। निस्सन्देह इस परम्परा से भारत को बहुत बडा लाभ हुआ है। छोटे-छोटे गाँवो से लेकर बडे-बड़े शहरो तक साधुओ की पहुँच रही है और जनसाधारण तक के हृदय का वे स्पर्श कर सके हैं। भ्रमणशीलता साधुओं का अभिन्न अग रही है। आज भी यदि कोई इस अभिन्नता की सुरक्षा कर सका है तो वह है, जैन साधु। दूसरे-दूसरे साधु मठ, आश्रम, विहार, मन्दिर आदि बनवाकर जमने लगे है, पर जैन साधु अब भी वैसा नही करते। चातुर्मास के चार महीनों के सिवाय वे किसी भी गाँव में एक मास से ज्यादा नही ठहरते। चातुर्मास के लिए भी उनके अनेक नियम होते है। प्रमुख रूप से जो साधु जिस स्थान पर चातुर्मास कर लेता है, वह फिर अगले दो वर्षों तक उस स्थान पर चातुर्मास नहीं कर सकता। शेष काल में जहाँ एक मास रह जाता है वहाँ फिर दो महीने के पहले और नही ठहर सकता। इस प्रकार उनका भ्रमण तो अनायास होता ही रहता है, पर प्रश्न है कि बीमारी या वृद्धावस्था की वजह से अगर कोई चल न सके तो वह क्या करे? उसके लिए शास्त्रो में विधान है कि उसे तो फिर एक स्थान मे रहना ही पडेगा।

जहाँ सघ है वहाँ अनेक वृद्ध साधु-साध्वियो का होना भी असम्भव नही है। तेरापन्थ भी अपने ढंग का एक विशिष्ट और विशाल संगठन है। अत. उसमें अनेक वृद्ध साधु और साध्वियाँ भी अपनी साधना करे, इसमें कोई आश्चर्य नही। वार्धक्य के कारण उन्हे कई स्थानो पर स्थिरवास भी करना पडता है। ऐसे स्थानो में राजस्थान के अन्तर्गत यह लाडनूं गाँव भी अपना विशेप महत्त्व रखता है। यहाँ पिछले सौ वर्षों से निरन्तर तेरापन्थी साध्वियो का स्थिरवास रहा है। जहाँ एक भी तपस्वी का निवास या देहावसान होता है वह एक तीर्थ का रूप धारण कर लेता है। तो यहाँ तो अनेक साध्वियो ने अपने तपस्वी जीवन का अन्त किया है। सचमुच यह इस स्थान का सौभाग्य है। इसीलिए चतुर्थाचार्य—श्री जयाचार्य से लेकर प्राय. सारे आचार्य समय-समय पर यहाँ पधारते रहे है। एक लम्बे अर्से तक किसी चीज का स्थायी रहना स्वय उसके महत्त्व का प्रमाण है। अत· यहाँ भी एक शताब्दी तक स्थिरवास का रहना अपने स्थान का महत्त्व स्वय प्रमाणित कर रहा है।

यद्यपि समय-समय पर यहाँ अनेक परिवर्तन हुए है। श्रद्धालु लोगों की यहाँ पीढियाँ गुजर गई है। आज तो शायद यहाँ ऐसा कोई मनुष्य नही मिलेगा जिसने स्थिरवास का आदि दिन देखा हो। श्रुत परम्परा का प्रामाणिक इतिहास ही आज उनकी इस गौरव-गरिमा का प्रमाण दे रहा है। अनेक श्रद्धालुओ के सत् प्रयत्न से शायद जयाचार्य ने इस स्थान को स्थिरवास के लिए चुना हो। यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि किस साधु या साध्वी ने इसका श्री गणेश किया था, पर इतना तय है कि सम्वत् १९१४ से यहाँ के लोग सिवाय २।। दिन के निरन्तर रूप से साधु-दर्शन का लाभ उठा रहे है। सवत् १९१४ के बाद सघ मे प्राय जितनी असक्त और वृद्ध साध्वियाँ हुई है, उन्हे यथाशक्य यहाँ स्थिरवास के लिए रखा जाने लगा। अधिक से अधिक यहाँ ३१ तक साध्वियाँ इकट्ठी हो गई। बीच में शायद ऐसी परिस्थितियाँ भी आयी होगी जिस में साध्वियो को वहाँ से विहार की भी आवश्यकता हुई होगी। एक बार की ऐसी ही घटना है १९७४ में सारे गाँव में प्लेग फैल गया था तो लोग यहाँ से उठ-उठ कर गाँव की ओर जाने लगे। बहुतेरे लोग चले गये तो साध्वियों को भी यह सोचना पडा कि उनका रहना यहाँ कैसे सम्भव होगा। उन्होंने श्रावको से पूछा—तुम सब लोग तो गाँव छोड कर जा रहे हो, पर हमारी वृद्ध साध्वियाँ कहाँ जाएँगी ? लेकिन फिर भी जब सब लोग जा रहे है तो हमें क्या करना होगा ? गणेशदासजी चण्डालिया आदि अनेक श्रावक आगे आए और कहने लगे "जबतक हम लोग यहाँ पर है तब तक तो आप

को यहाँ से विहार करने की कोई आवश्यकता नही और जब तक आप गाँव में रहेगी तबतक हम गाँव के बाहर पैर नही रखेंगे। आप शान्तिपूर्वक गाँव मे रहे। हम आप की सब प्रकार की कल्प्य सेवा करेगे।" भयकर महामारी में भी वे लोग गाँव में डटे रहे। कुछ लोगो को सशय हुआ कि इस भयकर महामारी मे इनका यहाँ रहना कैसे सम्भव होगा? लेकिन गणेशदासजी ने आत्म-दृढता पूर्वक कहा—मुझे तो पूर्ण विश्वास है कि साध्वियो की सेवा में हमारा कुछ भी बिगडने वाला नही है। जिसे यह पूर्ण विश्वास हो वही यहाँ रहे। अनेक लोगो में साहस का सचार हुआ और ३१ परिवार गाँव मे रहने को तैयार हुए। सचमुच इस दृष्टि से गाँव में रहने वालो में किसी को प्लेग नही हुआ। इतने अर्से से यहाँ अनेको रुग्ण एवं वृद्ध साध्वियो के रहने के बावजूद भी यहाँ के लोगो की भक्ति ज्यो की त्यो है। यही कारण है यहाँ कुछ ऐसी साध्वियाँ भी रही हैं जो चित्त-विक्षिप्तता के कारण श्रावको को गालियाँ तक निकाल देती थी, पर यहाँ के श्रावको ने उन्हे धैर्य पूर्वक सहा है। शायद ऐसा एक भी अवसर नही आया जिससे आचार्यों को यहाँ के श्रावको के बारे में कभी विचार हुआ हो। इसका मुख्य कारण तो यहाँ के लोगो का धर्म-प्रेम ही है, पर इसका एक कारण यह भी है कि यहाँ की साध्वियो की व्यवस्था इतनी सुन्दर है कि किसी को कुछ कहने का अवसर ही नही आता। रहने के लिए मकान की आवश्यकता होती है। वह यहाँ राजलदेसर निवासी वैदो का एक मकान मिल गया। उस मकान का भी अपना एक इतिहास है पर वह यहाँ देना प्रासगिक नहीं होगा। मकान की सफाई के बारे में भी गृहस्थों पर कोई भार नही रहता। जिन कमरो मे साध्वियाँ रहती हैं उनकी सफाई वे स्वयं कर लेती हैं। साधारणतया सघ की परम्परा ही कुछ ऐसी है कि जिससे मकान स्वय स्वच्छ रहता है। यहाँ के लिए तो समय-समय पर अनेको आचार्यों ने विशेष मर्यादाएँ भी बाँधी है।

खाने के लिए भोजन की आवश्यकता होती है। वह भिक्षा के द्वारा प्राप्त हो जाता है। भिक्षा के लिए तेरापथ शासन की इतनी सुन्दर व्यवस्था है कि ऐसी व्यवस्था यदि सब साधु-संघो मे हो जाये तो "भिक्षा बिल" जैसे बिल को आने का अवसर ही न मिले। शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार साधु प्रति दिन एक घर तो भिक्षा के लिए जा ही नही सकते फिर यहाँ की वस्ती भी बहुत बडी है। अत थोडा २ लेने से भी काम चल जाता है। साधु को किसी चीज की आवश्यकता हो और वह गृहस्थो के घर में मिल भी जाये तो साधु यही चेष्टा करेगे कि गृहस्थो की इच्छा से कम ली जाये। यदि गृहस्थ एक रोटी देना चाहता है तो साधुओ का यही प्रयत्न

रहता है कि वे आधी से अधिक न ले। इससे दूसरी बार देनेवाला ज्यादा देने की कोशिश करेगा। खाने के बारे में बहुत सी वृद्ध साध्वियाँ तो यथा-शक्य तपस्या में आनन्द मानती है। सचमुच ही यहाँ की तपस्या का विवरण साधारण लोगो की आँखें खोलने वाला है। इसका विवरण शायद पाठको को कभी अन्यत्र देखने को मिलेगा और जो साध्वियाँ भोजन करती है उनको भी दूध, दही, मिष्टान्न आदि विगय पदार्थों के खाने का त्याग रहता है। तथा वे जो भी भोजन करती हैं वे मर्यादा से अधिक नही खा सकती। लाडनूं के लिए तो विशेष मर्यादा भी है। किसी साध्वी को यदि किसी चीज की जरूरत है तो उसे गोचरी जाने से पहले परिचारिका साध्वियो से कहना पडता है। फिर गोचरी में जितनी चीज आती वह आवश्यक विभाग के अनुसार विभक्त कर सब को दे दी जाती है। कोई भी साध्वी किसी वस्तु विशेष को किसी गृह विशेष से नही मंगा सकती। साधारणतया जो चीज गोचरी मे आ जाती है, वह सब को हिसाब से दे दी जाती है। उपवास के पारणो मे दूध, दलिया, सभी व्यञ्जन तथा पापड आदि के सिवाय और कोई वस्तु लाने का निषेध है। खाने पीने के बारे में कोई भी साध्वी किसी दूसरी साध्वी से यह नहीं पूछ सकती कि उसे खाने को क्या मिला? जो कुछ उन्हे खाने को मिले उसमें उन्हें स्वयं सतोष रहता है। औषधि आदि के बारे में भी यहाँ पूरी व्यवस्था रहती है साधारणतया कोई भी औषधि लेना नही चाहती, इसका कारण एक अंश तक अपना स्वयं का जागरण है, और एक अंश में मर्यादा है। प्रथम तो साधक को स्वय विवेक रहता है और फिर सघ की कुछ मर्यादाएँ भी ऐसी हैं जिनसे व्यवहार को भी अशुद्ध होने का अवसर नही मिलता। पानी, मीठा तथा खारा जितना आता है उसको सबको मिला दिया जाता है और फिर सब में यथा आवश्यक बाँट दिया जाता है। परिचारिका साध्वियो को भी भिक्षा के बारे में पूरा ध्यान रखना पडता है। वे भी अगर कही थोडी गलती कर देती है तो वह आचार्य तक पहुँच जाती है। प्रतिवर्ष आचार्य उनकी अच्छी प्रकार जाँच पडताल करते है। अगर उनकी कोई गलती हो जाती है तो आचार्य उन्हें भी कड़ा दण्ड देते है।

कपडे के बारे में यहाँ स्थिरवास स्थित साध्वियाँ कोई भी कपडा नही ला सकती। परिचारिका साध्वियों के सिवाय और किसी दूसरी साध्वियो से भी कपडा नही ले सकती। परिचारिका साध्वियाँ को जैसा कपड़ा मिलता है उसका उचित विभाग कर वे उन्हें स्वय ही दे देती हैं। अत. कपड़े के बारे में भी उनका कोई वजन नही रहता।

जहाँ अधिक मनुष्य एक जगह रहते है, उनमें भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्य

भी होते है। अत. समुदाय की एक सब से बडी समस्या है "पारस्परिक व्यवहार।" साधक के लिए यह स्थिति कोई विशेष प्रश्रय नही बनती, पर जहाँ पर बहुत से वृद्ध तथा रुग्ण लोग रहते हैं उनमें व्यवहार भी कभी-कभी एक समस्या बन जाता है, पर यहाँ की व्यवस्था इतनी सुन्दर है कि किसी को कुछ बोलने का अवसर भी नही मिलता। प्रत्येक साध्वी के लिए अपना-अपना स्थान निश्चित रहता है। वे वही सो, उठ, बैठ सकती हैं। अत दूसरे के साथ सघष होने की स्थिति ही पैदा नही होती। उनके निश्चित पात्रो के उपयोग के बारे मे भी परिचारिक साध्वियो का पूर्ण अधिकार रहता है। स्थिरवास स्थित साध्वियाँ, परिचारिक साध्वियो को उनका काम काज अधिक या कम करने के प्रसग को लेकर आपस मे विभेद नही कर सकती।

यदि कोई साध्वी बाधी हुई मर्यादा को भग कर देती है तो उसका यथोपयुक्त दण्ड भी निश्चित रहता है। अत विवेक तथा मर्यादाएँ दोनो सयुक्त होकर यहाँ की व्यवस्था को अत्यन्त सुन्दर बना देती है। इससे उनका संयम भी सुखपूर्वक निभ जाता है, और व्यवहार भी अत्यन्त मृदु रहता है।

सब साध्वियाँ अपने-अपने स्थान पर बैठी अपनी साधना, स्वाध्याय, भजन, चिन्तन, मनन-आदि मे सलग्न रहती है उनके मुख पर छायी अनन्त शान्ति को देखकर अजन्ता और एलोरा की मूर्तियाँ आँखो के सामने नाचने लग जाती है। सचमुच आज के युग में ऐसी सुन्दर व्यवस्था का होना एक उदाहरण है। इसी से किसी भी तेरापन्थी-साधु या साध्वी का भविष्य चिन्तनीय नही बनता। जब तक वे स्वस्थ रहते है तब तक वे स्वय अपनी साधना करते है, और दूसरो की साधना में सहयोग करते है, और वे अस्वस्थ या वृद्ध हो जाते है तो उनकी सेवा-सुश्रुषा का भार सघ पर रहता है। संघ की परम्परा के सिवाय वर्तमान आचार्य भी उनका पूरा ध्यान रखते हैं। प्रत्येक को अपने विकास का पूर्ण अवसर प्राप्त रहता है। अत तेरा-पन्थ-सस्था अपने ढग की एक सर्वांगीण सुन्दर सस्था है।

लाडनूं,

स्थिरवास शताब्दी महोत्सव, '५७

६४ : बन्धन और मुक्ति

हमारा लक्ष्य है पूर्ण स्वतन्त्रता—बन्धन-मुक्ति। यही कारण है कि जिससे हम सब लोग यहाँ इकट्ठे हुए है। यदि यह नही होता तो न तो

यहाँ इतनी परिषद् आती और न कोई प्रवचन करने वाला ही होता। मनोरंजन ही यदि हमारा लक्ष्य होता तो वह तो सिनेमा और खेल-कूद में प्राप्त हो सकता था, पर यहाँ कोई सिनेमा और खेल-कूद का आयोजन नही है। फिर भी यहाँ इतने लोग आए हैं इसका मतलब यही है कि हम सब पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते हैं, पर सोचने की बात है कि हमारे चाहते हुए भी हमें वह मिल क्यो नही रही है ? इसका कारण है हम अभी तक कर्मों से बद्ध हैं।

प्रश्न है बन्धन क्या है ? बन्धन यानी दो चीजों के विशिष्ट का सयोग। जिस प्रकार दो कपडो का सयोग बन्धन कहलाता है, उसी प्रकार आत्मा और कर्म के विजातीय द्रव्यो का सयोग भी बन्धन ही है। आत्मा और शरीर का सयोग भी तो एक प्रकार का बन्धन ही है। इसीलिए तो हमें इतनी परेशानियाँ उठानी पडती है। यह शरीर है तब ही तो हमे खाना-पीना पडता है इसकी चिकित्सा करवानी पड़ती है। ससार में जितने झंझट है वे सब खाने-पीने के सिवाय और है ही क्या ? यदि शरीर न होता तो न जन्म होता और न मृत्यु होती। इसीलिए आस्तिक इस बात मे विश्वास करते है कि हमे बन्धन मुक्त होना चाहिए। कौन ऐसा पापी होगा जो पिंजड़े में बन्द रहना चाहेगा, पर मुश्किल तो यह है कि उसे मुक्ति मिले कैसे ?

अत आप्त पुरुषों ने बताया है कि मुक्ति तब ही हो सकती है जब पहले हम नये सिरे से आनेवाले कर्मों को रोक दें। जो मनुष्य कर्ज चुकाना चाहता है, उसके पहले यह आवश्यक है कि नये सिरे से कर्ज करना वह बन्द कर दे। अत बन्धन मुक्त होने के लिये यह आवश्यक है कि हम पहले कर्मों को समझे और फिर उसका आगमन रोकने की कोशिश करे।

जब तक कारणो को नही जाना जाता तब तक कार्य को नही समझा जा सकता। अत. कर्मो के रोकने के पहले उनके कारणों को समझना भी आवश्यक है। इसीलिये शास्त्रो मे कहा गया है—**'उड्ढे सोया, अहे सोया।'** ऊपर से कर्मागमन के स्रोत है, नीचे भी कर्मागमन के स्रोत हैं और तिरछे लोक मे भी कर्मागमन के स्रोत हैं। फलितार्थो में सब जगहो पर कर्म बन्धन के कारण मौजूद है। क्योकि उनका बन्धन तो स्वय अपनी आत्मा से ही किया जाता है। अत मन्दिर, मस्जिद, चर्च, मठ या धर्म स्थान कही पर भी कर्म बन्धन हो सकता है। सोते, जागते, खाते, पीते और यहाँ तक कि उपवास करते भी उनका बन्धन सभव्य है। ऊपर स्वर्ग में भी उनका बन्धन कर सकता है नीचे नरक में भी इसके कारण मौजूद है और तिरछे लोक—मनुष्य लोक मे भी प्राणी उन्हें अर्जित कर सकता है। धर्म स्थान में यद्यपि वातावरण सात्त्विक रहता है अत. अधिकतया वहाँ मनुष्य की

प्रतिक्रिया शुद्ध रहती है, पर यहाँ आकर भी अगर कोई मनुष्य द्वेष करे, किसी को मारने-पीटने का चिंतन करे तो कर्म उसे छोड़नेवाले नही हैं। अतएव शास्त्रो में कहा है बन्धन सब जगह है और सब जगह नही है।

उस बन्धन को जैन-परिभाषा में 'आश्रव' कहा जाता है। इसीलिये कहा गया है—"**आश्रव भवसेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम्। इत्येवं मार्हती दृष्टि शेषमन्यद् प्रवंचनम्।**" आश्रव ही भव भ्रमण का कारण है। यह जैन-दर्शन की मान्यता है। उसके पाँच प्रकार बतलाये गये हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। मिथ्यात्व यानी गलत मान्यता श्रद्धा। कोई मनुष्य गलत क्रिया नही करता पर तो भी यदि उसकी मान्यता सम्यग नही तो उसके मिथ्यात्व का बन्धन होता ही है। मान्यता का महत्त्व क्रिया से भी अधिक है अत· बुरी क्रिया छोडने से पहले बुरी मान्यता छोडना ज्यादा आवश्यक है। कोई मनुष्य शराब छोड़ता है तो उसे पहले यह आवश्यक है कि वह शराव को बुरा माने। एक मनुष्य झूठ बोलता है और एक मनुष्य झूठ बोलने को बुरा नही मानता। इन दोनो की तुलना में झूठ बोलनेवाले की अपेक्षा उसे बुरा नही माननेवाला अधिक बुरा है। क्योंकि झूठ को तो कोई परिस्थितिवश बोल लेता है, पर झूठ को बुरा नही माननेवाला झूठ बोलते कव सकोच करेगा? इसीलिये जैन-दर्शन मे मिथ्यात्व को पहला पाप माना है।

स्थूल रूप से इसे समझने के लिए शास्त्रो मे इसके दस भेद बतलाए हैं। जैसे जीव को अजीव समझना मिथ्यात्व, अजीव को जीव समझना मिथ्यात्व, धर्म को अधर्म समझना मिथ्यात्व। अधर्म को धर्म समझना मिथ्यात्व, साधु को असाधु समझना मिथ्यात्व, असाधु को साधु समझना मिथ्यात्व, मोक्ष गया को अमोक्ष गया समझना मिथ्यात्व, अमोक्ष गया को मोक्ष गया समझना मिथ्यात्व, मार्ग को कुमार्ग समझना मिथ्यात्व, कुमार्ग को मार्ग समझना मिथ्यात्व। इसीलिये जीव और अजीव को एक समझना मिथ्यात्व है। प्रदेशी राजा इसीलिये मिथ्यात्वी था कि वह आत्मा और शरीर को एक ही मानता था। कई लोग अधर्म के कर्म को, गृहस्थ के अधर्म सावद्य कर्म को भी धर्म मान लेते है। शादी, विवाह को भी धर्म मान वैठते हैं—यह मिथ्यात्व है।

अव्रत—यानी अन्तर अभिलाषा। कोई मनुष्य शराव पीता नही है, पर उसका त्याग नही करता। कभी पी सकता है यह अव्रत—अविरत आश्रव कहा जाता है। प्रमाद—यानी असावधानी। प्रमाद का स्थूल रूप तो हमारे देखने में आता है जिससे हम गलती कह देते है पर सूक्ष्म दृष्टि से प्रमाद का रूप और रहता है जो अव्यक्त रहता है वह अप्रमत्त अवस्था तक प्रत्येक

आत्मा मे रहता है। योग—यानी प्रवृत्ति। ससार मे जितनी भी अशुभ प्रवृत्तियाँ होती है वे सब योग है आश्रव के अन्तर्गत आती है।

इस प्रकार यदि हम बन्धन मुक्त होना चाहते है तो हमें आश्रव को घटाना होगा और सवर को बढाना होगा। सामायिक भी लोग इसीलिये करते है कि उससे निश्चित समय तक के लिये कर्म बन्धन रुक जाता है, पर आज तो कई लोग इसे ही 'बन्धन' मानने लगे है। एक दृष्टि से यह सत्य भी है। बन्धन को बन्धन के द्वारा ही तोडा जा सकता है। यह दूसरी बात है कि यह वन्धन जान-बूझकर बनाया जाता है और वह बन्धन परवशता के कारण भोगना पडता है। अत अगर हम स्वतन्त्र होना चाहते है, तो हमें वन्धन मुक्ति का उपाय करना पडेगा। वह उपाय है सवर—असत क्रिया का निरोध।

९५ : धर्म की परिभाषा

जिससे आत्मा उज्ज्वल तथा पवित्र बनती है—वह धर्म है। अहिंसा, सत्य, उदारता, समता आदि धर्म का स्वरूप है, धर्म का आविर्भाव कलह-वैर, वैषम्य अत्याचार मिटाने के लिए है। वह सब का त्राण है। समता स्थापन धर्म का मुख्य लक्ष्य है। धर्म का पैसे आदि से कोई सम्बन्ध नही, उसका मूल व्यक्ति की चित्त-वृत्तियाँ है। धर्म का क्षेत्र सारा विश्व है, उसमे सब प्रकार के प्राणी है, जीवन के समग्र व्यवहार है। वह मन्दिर, घर, व्यापार, बाजार सब जगह हो सकता है। वह कोई स्थान से बँधा हुआ नही, किसी वर्ग के साथ उसका गठ बन्धन नही, किसी जाति की वह बपौती नही, गरीब और धनिक की उसके बीच मे खाई नही, काले और गोरे रंग का उसमें विभेद नही। जघन्य से जघन्य और उच्च से उच्च उसके प्रसार की भूमि बन सकते है। वह प्रत्येक जाति, प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक स्थान और काल के शरीर में निवास करता है। वह सब से अतीत है। किसी की सीमा में बन्धता नही और सबसे सम्बद्ध है।

९६ : सुधार का आधार

सुधार नितान्त आवश्यक है और उसका अवकाश सदा बना रहता है। चिन्तनशील व्यक्ति उसके विषय में निरन्तर सचेष्ट रहते है। किन्तु सुधार का आधार क्या है इस विषय मे बहुधा भ्राति रहती है, बहुत से लोग उसके स्वरूप को नही पहचान पाते। कुछ लोगो की धारणा है कि परिस्थितियो

के परिवर्तन मात्र से सुधार का चक्र घूम जाता पर वास्तविकता यह नही है। इतने से यदि सुधार होता तो आज तक परिस्थितियो के कितने ही उलट फेर हो गये, अनेक तरह के माप-दण्ड लोगो के सामने से गुजर गए, पर दुनिया वहाँ की वहाँ खडी है। वैसे ही युद्ध होते है और वैसे ही अधिकारो की छीना-झपटी चलती है। अत निश्चत है कि परिस्थिति परिवर्तन सुधार का कोई अचूक उपाय एव पूर्ण समाधान नही। सुधार का तरीका तो यह है कि व्यक्ति अपने को शुद्ध बनाए। अपने व्यवहार को पवित्र, सत्य तथा उदार बना कर ही वह वास्तविक सुधार का द्वार खोल सकता है।

९७ : आत्म-निरीक्षण

आत्म-निरीक्षण सुधार का आन्तरिक एव अमोघ उपाय है। व्यक्ति स्वय जब अपने दोषो को देखना शुरू कर देता है तो उन्हे त्यागने मे जल्दी समर्थ होता है। मनुष्य अपने अन्त करण की प्रेरणा से जो करता है—वह सत्य एवं सुन्दर होता है। आत्म-निरीक्षण इसी प्रवृत्ति को जागृत करता है। दूसरे के दोष देखना सुगम है, पर अपने दूषणो पर दृष्टिपात करना वडा ही कठिन है। किन्तु जो इसमे निष्णात हो जाता है वह प्रत्येक काम में बहुत शीघ्र सफल हो सकता है। इसका सबसे बड़ा लाभ तो यह है कि यहाँ दूसरे का हस्तक्षेप नही व्यक्ति की स्वय की सत्ता रहती है। दर्पण में चेहरा देखने पर जैसे उसकी सुन्दरता और असुन्दरता के विषय मे स्पष्ट आभास हो जाता है और उसको सँवारने में मनुष्य समर्थ होता है उसी प्रकार आत्म-निरीक्षण अपनी योग्यता अयोग्यता का साफ प्रतिविम्व सामने ला देता है, और उसके वाद व्यक्ति को अपने में सुधार करने का पर्याप्त अवकाश मिल जाता है। हो सकता है, किसी व्यक्ति से कठिन तपस्या न हो, साधना न हो, ध्यान न हो, आतापना का कष्ट झेलना सम्भव न हो, सेवा परोपकारिता भी न वन पडे, किन्तु आत्म-निरीक्षण तो अवश्य होना चाहिये। उससे सव विकासो का द्वार स्वय खुल जाएगा।

९८ : हमारा कर्तव्य

यद्यपि मैं ज्योतिष पर बहुत ज्यादे भरोसा नही करता, पर इस पर मैं अविश्वास भी नही करता। हमारे पुराने आचार्यों ने वताया कि ज्योतिष

का ज्ञान झूठा नही है, पर उसका ज्ञानवेत्ता होना चाहिए। ज्योतिष के धर्मत्व के बारे में तो यह स्पष्ट ही है कि वह हमारा कुछ बिगाडता नही। अपने निर्माता हम स्वयं ही है।

तृतीयाचार्य रायचन्द जी स्वामी को विहार करते समय किसी ने कहा—महाराज दिशाशूल है, अत. विहार का निषेध है। मेवाड में निषेध को "नखेद कहते है—खेद यानी कोई कष्ट नही होगा और वे वहाँ से विहार कर ही गए। सचमुच उन्हें कोई खेद नही हुआ। इसी प्रकार मै भी आज ही गाँव मे चला जा सकता था पर वहुत जन-भावना का तिरस्कार करना मुझे उचित नही लगा। अत मैंने सोचा चलो आज हमारे विश्राम ही सही अत आज मै यहाँ ठहर गया। जनता से मै यह कहना चाहूँगा कि वह केवल मेरे आगमन से खुशियाँ मना लेना ही काफी न समझे वास्तविक खुशी तो मै तव समझूंगा जब वह अपने जीवन का निर्माण करेगी।

आज युग जगा है। हमे अपनी शक्ति के अनुसार उसे राह दिखाने की कोशिश करनी चाहिए। मै यह नही मानता कि हम सारे ससार की संत्रस्तता को मिटा ही सकेंगे। हमारा अपना प्रयास चल रहा है। जो हमारी बात सुनना चाहेगा उसे हम अपनी बात सुनाएँगे। जो नही सुनना चाहें वे कान पर हाथ रख ले इसका हम क्या करे? क्या सूर्य के उदित हो जाने से अन्धेरा विल्कुल नष्ट हो ही जाता है? जहाँ तहाँ गुफाओ तथा वन्द मकानो में तो वह रहता ही है। जो अपने को खुला रखेगा वह प्रकाश पाएगा और जो अपने को वन्द रखेगा वह अन्धेरे मे रहेगा प्रयास करने का हमारा कर्तव्य है। वह हमे करना चाहिए।

मनुष्य मे विवेक है। वह अच्छे और बुरे का निर्णय कर सकता है। यह उसकी सूझ-बूझ का आयोग है, पर इसका भी यदि गलत उपयोग हो जाए तो उससे उल्टी अशाति बढ जाती है। अत. यह आवश्यक है कि मनुष्य अपने विवेक को सयम की ओर विकसित करे। यद्यपि यह सही है कि एक गृहस्थ के लिए रोटी और कपडा भी आवश्यक होता है। बिना उनके उसे सयम की बात याद ही नही आती, पर अगर हम विशाल दृष्टि-कोण से सोचें तो रोटी और कपडे की समस्या भी तो आखिर सयम के अभाव के कारण ही उत्पन्न होती है। कही अन्नागारो मे पडा अन्न सड रहा है और कही अभाव के कारण लोग भूखो मर रहे है। यह स्थिति क्या सचमुच असयम की ओर सकेत नही कर रही है?

आज देश मे अनेक योजनाएँ चल रही है। द्वितीय पचवर्षीय योजना की रूपरेखा लोगो के सामने है। कहते है, उसके लिए अर्थ का अभाव है।

विदेशो से ऋण नही मिल रहा है। मैं सोचता हूँ यह समस्या तो शायद किसी प्रकार से हल हो जाएगी, पर देश में जो मानवता की कमी आ रही है उसे कैसे पूरा किया जाएगा ? योजनाओं मे जो लाखो रुपए का छोयला चलता है उसे कैसे मिटाया जाएगा ? उसे ये योजनाएँ नही मिटा सकती। उसके लिए तो अणुव्रत-आन्दोलन जैसे नैतिक आन्दोलनो की आवश्यकता रहेगी। अत देश के कर्णधारो को इस ओर ध्यान देना आवश्यक है।

९९ : शान्ति के उपाय

कहते है, आज मानव ने बहुत बड़ी उन्नति की है और एक तरह से यह ठीक भी है क्योकि उसने पानी, आकाश, अग्नि आदि को मुट्ठी मे कर रखा है, पर एक तरफ उसने जितनी उन्नति की है दूसरी ओर अवनति ही हुई है उसबार उसने अपनी मानवता को खुले आम बेचा। श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र जैसे मानवीय गुणो से हाथ धो बैठा। उसका कर्तव्य है कि वह अपनी खोई हुई मानवता को पुन. प्राप्त करे। अणुव्रत-आन्दोलन इसी लक्ष्य से अपना कार्य कर रहा है ताकि पथभूले मानव को शांति मिले, राह मिले। वह शाति के उपाय को ढूंढे।

●